



प्रस्तावना

यह किताब मैंने अहमद नगर किले के जेलखाने में, अप्रैल से सितम्बर, १९४४ के पांच महीनों में लिखी थी। मेरे कुछ जेल के साथियों ने इसकी सामग्री पढ़ने और उसके बारे में कई कीमती सुझाव देने की मेहरबानी की थी। जेलखाने में किताब को दोहराते हुए मैंने इन सुझावों से लाभ उठाया और कुछ बातें और जोड़ दीं।

अहमदनगर किले के मेरे ग्यारह साथी हिंदुस्तान के जुदे-जुदे भागों का एक दिनचर्या नमूना पेश करते थे। वह न केवल राजनीति की नुमाइशगी करते थे, बल्कि हिंदुस्तानी ज्ञान की, पुरानी और नये ज्ञान की, और आजकल के हिंदुस्तान के जुदे-जुदे पहलुओं का भी प्रतिनिधित्व करते थे। लगभग सभी खल-वास जीती-जागती हिंदुस्तानी भाषाओं के बोलने वाले वहाँ मौजूद थे, उन पुरानी भाषाओं के जानने वाले भी थे, जिन्होंने हिंदुस्तान पर पुराने या नये जमाने में असर डाला है और अबसर हमें ऊँचे दर्जे की योग्यता मिलती थी। पुरानी भाषाओं में संस्कृत और पाली, अरबी और फारसी थीं; मौजूदा जवानों में हिंदी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलुगु, सिंधी और उड़िया थीं। मेरे सामने इतनी शैलियाँ थी, जिससे मैं फायदा उठा सकता था।

मैं नहीं जानता कि दूसरे लेखक अपनी रचनाओं के बारे में कैसा खयाल करते हैं, लेकिन जब मैं अपनी किसी पुरानी चीज को पढ़ता हूँ तो हमेशा एक अजीब-सा अहसास मुझे होता है। इस अहसास में और भी अतीव्यापन उन समय आ जाता है जबकि रचना जेल की बंदी हुई और गैर-मामूली आबोहवा में हुई हो और पढ़ने का मौका बाहर आने पर मिला हो।

इसी तरह का खयाल इस किताब के बारे में भी मुझमें पैदा हुआ है। यह मेरे किसी पुराने व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है, जाकि उन व्यक्तियों के लंबे निःसंतोष में शामिल हो चुका है, जो कुछ समय तक कायम रहकर मिट गए हैं और अपनी केवल एक बात छोड़ गए हैं।

सूची

हृदय-मंथन

११—२६

हिंदुस्तान के अतीत का घिहगावलोकन ११; हिंदुस्तान की मजबूती और कमजोरी १५; हिंदुस्तान की खोज १८; भारतमाता २१; हिंदुस्तान की विविधता और एकता २२; जनता की संस्कृति २५ ।

हिंदुस्तान की खोज

२७—८१

सिध घाटी की सभ्यता २७; आर्यों का आना ३०; हिंदू धर्म क्या है ? ३१; सबसे पुराने लेख; धर्मग्रंथ और पुराण ३४; वेद ३६; जिन्दगी से इकरार और इन्कार ३७; समन्वय और समझौता : वर्ण व्यवस्था का आरंभ ३९; हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट क्रम ४२; उपनिषद् ४३; व्यक्तित्ववादी दर्शन के लाभ और हानियाँ ४७; पदार्थवाद ५०; महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और आख्यायिकाएं ५२; महाभारत ५५; भगवद्गीता ५७; प्राचीन हिंदुस्तान में जीवन और व्यनसाय ५९; महावीर और बुद्ध : वर्णव्यवस्था ६६; बुद्ध की शिक्षा ६९; बुद्ध की कहानी ७२; चन्द्रगुप्त और चाणक्य : मौर्य-साम्राज्य की स्थापना ७३; राज्य का संगठन ७६; अशोक ७८ ।

युगों का चक्र

८२—१५०

गुप्तकाल में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद ८२; दक्षिणी हिंदुस्तान ८४; आजादी के लिए हिंदुस्तान की उमंग ८५; प्रगति बनाम सुरक्षा ८७; हिंदुस्तान और ईरान ८८; हिंदुस्तान और यूनान ९२; प्राचीन हिंदुस्तानी यियेटर ९८; संस्कृत की जीवन-शक्ति और स्थिरता १०३; बौद्ध-दर्शन १०७; बौद्धधर्म का हिंदू-धर्म पर प्रभाव १०९; हिंदूधर्म ने बौद्धधर्म को किस तरह आत्मज्ञात किया १११; छः दर्शन ११२; हिंदुस्तान और चीन ११९; दक्षिणी-पूरबी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और नम्यता १२७; हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव १३४; पुरानी हिंदुस्तानी कला १३७; हिंदुस्तान का वैदेशिक व्यापार १४०; प्राचीन हिंदुस्तान में गणित-शास्त्र १४२; विज्ञान और ज्ञान १४६ ।

४. नई समस्याएँ

१५१—१६४

अरब और मंगोल १५१; अरबी सभ्यता : हिंदुस्तान से संपर्क १५४; महमूद गजनवी और अफगान १५६; हिंदी-अफगान : दक्खिन हिंदुस्तान : विजयनगर : बाबर : समुद्री शक्ति १५८; मिलीजुली संस्कृति का विकास और समन्वय : परदा : कबीर : नानक : अमीर खुसरो १६२; हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन, वर्ग का महत्त्व १६६; ग्राम स्वराज्य, शुक्रनीति-सार १६८; वर्ण-व्यवस्था, संयुक्त कुटुम्ब १६९; बाबर और अकबर १७४; एक मिली-जुली संस्कृति का विकास १७६; औरंगजेब समय की प्रगति का विरोध करता है : हिंदू राष्ट्रीयता की उत्पत्ति : शिवाजी १८० : अंग्रेज और मराठे : शक्ति प्राप्त करने के लिए मराठों और अंग्रेजों का युद्ध : अंग्रेजों की जीत १८२; संगठन और टेक्नीक में अंग्रेजों की श्रेष्ठता और हिंदुस्तान का पिछड़ापन १८६; रणजीतसिंह और जयसिंह १८९; हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : दो इंग्लिस्तान १९१।

अंतिम दर्शन

१६५—२५६

साम्राज्य की विचार-धारा १६५; हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों और खेती की बरबादी १६७; हिंदुस्तान राजनैतिक और आर्थिक हैसियत से पहली बार एक दूसरे देश का पुच्छला बनता है २००; हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के विरोधाभास : राममोहनराय : समाचार पत्र, बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा २०३; सन् १८५७ का बड़ा गदर : जातीय अहंकार २१२; हिंदुओं और मुसलमानों में सुधार और दूसरे आंदोलन २१७; भारी उद्योग-धंधों का आरंभ : पृथक् निर्वाचिका २२७; मध्यवर्ग की बेवसी : गांधीजी का आगमन २२९; गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस एक गतिशील संस्था बन जाती है २३१; अल्पसंख्यकों का प्रश्न २३६; कांग्रेस विदेश नीति बनाती है; २३९; कांग्रेस और युद्ध २४०; युद्ध की प्रतिक्रिया २४२; सर स्टैफर्ड क्रिप्स का हिंदुस्तान में आना २४५; चुनौती : भारत छोड़ो प्रस्ताव २५१।

हिन्दुस्तान की कहानी

हृदय-मंथन

१ : हिंदुस्तान के अतीत का विहगावलोकन

यह हिंदुस्तान क्या है, जो मुझपर छाया हुआ है और मुझे बराबर अपनी तरफ बुला रहा है और अपने दिल की किसी अस्पष्ट पर गहराई के साथ अनुभव की हुई इच्छा को हासिल करने के लिए काम करने का उत्साह दिला रहा है ? अगर हम उसके भौतिक और भौगोलिक पहलुओं को छोड़ दें तो आखिर यह हिंदुस्तान है क्या ? गुजरे हुए जमाने में इसके सामने क्या आदर्श थे ? कौन-सी ऐसी चीज थी जिससे इसे शक्ति प्राप्त होती थी ? किन्तु तरह वह अपनी पुरानी शक्ति खो बैठा ? और क्या उसने यह शक्ति पूरी तौर पर खो दी है ? और सिया इसके कि बहुत बड़ी संख्या में लोग यहां बसते हैं, क्या कोई ऐसी जीवित वस्तु है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है ? आज की दुनिया में उसको ठीक जगह क्या है ?

ज्यों-ज्यों मैंने इस बात का अनुभव किया कि हिंदुस्तान का और मुल्कों से अलग-बलग होकर रहना अनुचित है और असंभव भी, मेरा ध्यान इस प्रश्न के अंतर्राष्ट्रीय पहलू की ओर बराबर जाता रहा । आने वाले जमाने की जो तस्वीर मेरे सामने बनती, वह ऐसी होती जिसमें हिंदुस्तान और दूसरे मुल्कों के बीच राजनीति, व्यवसाय और संस्कृति का गहरा मेल और संबंध होता । लेकिन आने वाले जमाने की बात तो बाद में उठती थी, पहले तो हमारे सामने वर्तमान था, और हम वर्तमान के पीछे एक उलझा हुआ अतीत था, जिसने

स्तान में कोई ऐसी वस्तु न होती कि जो बनाए रहने के योग्य और सजीव थी, और जिसकी सचमुच कीमत थी, तो यह निश्चय है कि हजारों साल तक वह अपनी संस्कृति और अस्तित्व की रक्षा न कर सकता था। यह वस्तु क्या थी?

उत्तर-पच्छिमी हिंदुस्तान की सिंध घाटी में, मोहनजोदड़ो के एक टीले पर मैं खड़ा हुआ। मेरे चारों ओर इस प्राचीन नगर के मकान थे और गलियां थीं। कहा जाता है कि यह शहर पांच हजार साल पहले मौजूद था और उस समय भी यहां एक पुरानी और विकसित सभ्यता मौजूद थी। प्रोफेसर चाइल्ड लिखते हैं—“सिंध-सभ्यता, एक विशेष वातावरण में, मनुष्य के जीवन का पूरा संगठन प्रकट करती है, और यह अनेकानेक वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम हो सकती है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी; उस समय भी उसपर हिंदुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।” यह एक बड़े अचरज की बात है कि किसी भी तहजीब का, इस तरह पांच या छः हजार वरसों का अटूट सिलसिला बना रहे और वह भी इस रूप में नहीं कि वह स्थिर और गतिहीन हो, क्योंकि हिंदुस्तान बराबर बदलता और उन्नति करता रहा है। ईरानियों, मिस्रियों, यूनानियों, चीनियों, अरबों, मध्यएशियाईयों और भूमध्य-सागर के लोगों से इसका गहरा संबंध रहा है। लेकिन बावजूद इस बात के कि इसने इनपर प्रभाव डाला और इनसे प्रभावित हुई, इसकी सांस्कृतिक नींव इतनी दृढ़ थी कि वह कायम रह सकी। इस दृढ़ता का रहस्य क्या है? यह आई कहां से?

मैंने हिंदुस्तान का इतिहास पढ़ा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य का एक अंश भी देखा। उस विचार-शक्ति का, साफ-सुथरी भाषा का, और उस ऊंचे दिमाग का, जो इस साहित्य के पीछे था, मुझपर बड़ा गहरा असर हुआ। चीन के और पच्छिमी व मध्य एशिया के उन महान यात्रियों के साथ, जो बहुत पुराने समय में यहां आए और जिन्होंने अपने यात्रा-वृत्तांत लिखे हैं, मैंने हिंदुस्तान को सैर की। पूर्वी एशिया, अंगकोर, वीरोंबुदुर और बहुत-सी जगहों में हिंदुस्तान ने जो कर दिखाया था, उसपर मैंने मनन किया; मैं हिमालय में भी घूमा, जिसका हमारी पुरानी कथाओं और उपाख्यानों से संबंध रहा है और जिन्होंने हमारे विचार और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है। पर्वतों से प्रेम और कश्मीर से अपने संबंध ने मुझे विशेष रूप से पहाड़ों की तरफ खींचा, और वहां मैंने न केवल आज के जीवन और उसकी शक्ति और सौंदर्य

को देखा, बल्कि बीते हुए युगों की यादगारें भी देखीं। उन उन्मादिनी नदियों ने, जो इस पहाड़ी सिलसिले से निकलकर हिंदुस्तान के मैदानों में बहती हैं, मुझे अपनी तरफ खींचा और अपने इतिहास के अनगिनत पहलुओं की याद दिलाई। सिंधु, जिससे हमारे देश का नाम हिंदुस्तान पड़ा, और जिसे पार करके हजारों बरसों से न जाने कितनी जातियां, फिरके, काफिले और फौजें आती रही हैं; ब्रह्मपुत्र, जो इतिहास की धारा से तनिके अलग रही, नेकिन जो पुरानी कथाओं में जीवित है और पूर्वोत्तर के पहाड़ों की गहरे दरारों के बीच से रास्ता बनाकर हिंदुस्तान में आती है और फिर शांतिपूर्वक और मनोहारी प्रवाह के साथ पहाड़ों और जंगल-भरे मैदानों से बहती है; जमुना, जिसके नाम के साथ रास-नृत्य और क्रीड़ा की अनेक दंतकथाएं जुड़ी हुई हैं, और गंगा, जिससे बढ़कर हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नहीं; जिसने हिंदुस्तान के हृदय को मोह लिया है, और जो इतिहास के आरंभ से न जाने कितने करोड़ लोगों को अपने तट पर आकर्षित करती रही है। गंगा की, जिसके उद्गम से लेकर सागर में मिलने तक की कहानी, पुराने जमाने से लेकर आज तक की हिंदुस्तान की संस्कृति की, साम्राज्यों के उठने और नाश होने की, विशाल और शानदार नगरों की, मनुष्य के साहस और साधना की, जीवन की पूर्णता की और साथ ही साथ त्याग और वैराग्य की, अच्छे और बुरे दिनों की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने अजंता, एलोरा, एलिफंटा और अन्य जगहों के स्मारकों, खंडहरों, पुरानी मूर्तियों और दीवारों पर बनी चित्रकारी को देखा, और आगरा और दिल्ली की, पुरानी इमारतें भी देखीं, जिनका एक-एक पत्थर हिंदुस्तान के बीते हुए युग की कहानी कहता है।

अपने ही नगर, इलाहाबाद में, या हरिद्वार के स्थानों में, या कुंभ-मेले में मैं जाता, और देखता कि वहां लाखों आदमी गंगा में नहाने के लिए आते हैं, उसी तरह जिस तरह कि उनके पुरखे सारे हिंदुस्तान से हजारों बरस पहले से आते रहे हैं। चीनी यात्रियों के और औरों के, तरह-सी साल पहले के, इन मेलों के वृत्तांतों की याद करता। उस समय भी ये मेले बड़े प्राचीन माने जाते थे और कब से इनका आरंभ हुआ, यह कहा नहीं जा सकता। मैं सोचता, यह भी कौन-सा गहरा विश्वास है, जो हमारे देश के लोगों को अनगिनत पीढ़ियों से इस प्रसिद्ध जगह की ओर खींचता रहा है ?

मेरी इन यात्राओं ने—और इनके साथ वे सभी बातें थीं, जिन्हें मैंने पढ़ रखा था—मुझे बीते हुए युगों की झांकी दिखाई। अब तक जो एक कोरी मानसिक जानकारी थी, उसमें हृदय का समर्थन मिला और क्रमशः हिंदुस्तान का मेरा कल्पित चित्र वास्तविक लगने लगा, और मुझे अपने पुरखों की भूमि जीते-जागते लोगों से बसी हुई दिखाई पड़ी, ऐसे लोगों से बसी हुई, जो हंसते भी थे और रोते भी, जो प्रेम करना जानते थे और दुःख सहना भी; और उनमें ऐसे लोग थे जो जीवन का अनुभव रखने वाले और उसे समझने वाले थे, और उन्होंने अपनी बुद्धि के द्वारा एक ऐसा ढांचा तैयार किया जिसने कि हिंदुस्तान को एक सांस्कृतिक स्थायित्व प्रदान किया और वह हजारों साल तक बनी रही। इस बीते हुए काल की सैकड़ों जीती-जागती तस्वीरों मेरे मस्तिष्क में फिर रही थीं और जब मैं किसी खास जगह जाता, जिससे कि उनका संबंध होता, तो वे मेरे सामने आ जातीं। बनारस के पास, सारनाथ में, मैं बुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए प्रायः देख सका, और मुझे उनके कुछ वे शब्द, जो लिखे जा चुके हैं, ढाई हजार साल बाद एक दूर की प्रतिध्वनि की तरह सुनाई दिए। अशोक की लाटें, जिनपर लेख खुदे हुए हैं, अपनी शानदार भाषा में, एक ऐसे आदमी का हाल बताती हैं, जो यद्यपि वह बादशाह था, फिर भी किसी भी राजा बादशाह से ऊंची हैसियत रखता था। फतहपुर-सीकरी में, अकबर, अपनी सल्तनत की शान को भूलकर, सभी मजहबों के आलिमों से कुछ नई बात सीखने और मनुष्य की चिरंतन समस्या का हल पाने की गरज से बहस करने बैठता।

सिर्फ चीन ही ऐसा देश है कि जहां ऐसी अटूट परंपरा और सांस्कृतिक जीवन दिखाई देते हैं। फिर अतीत की यह विशाल तस्वीर धीरे-धीरे वर्तमान की बदनसीबी में बदल जाती है, जबकि हिंदुस्तान अपने बीते दिनों के वड़प्पन के बावजूद एक गुलाम मुल्क है, और इंगलिस्तान का पुछला बना हुआ है, और सारी दुनिया एक भयानक और नाशकारी लड़ाई के शिकंजे में है, और इंसान को हैवान बनाए हुए है। लेकिन पांच हजार वर्षों की इस कल्पना ने मुझे एक नई दृष्टि दी और वर्तमान का बोझ कुछ हल्का जान पड़ने लगा। अंग्रेजी सरकार की एक सौ अस्सी साल की हुकूमत हिंदुस्तान की लंबी कहानी की केवल एक दुःखदायी घटना जैसी जान पड़ी।

२ : हिंदुस्तान की मज़बूती और कमज़ोरी

हिंदुस्तान की शक्ति और उसके ह्रास के कारणों की खोज एक लंबी और टेढ़ी खोज है। फिर भी इस ह्रास के कारण पर्याप्त रूप में स्पष्ट हैं। शिल्प-शास्त्र की दौड़ में वह पीछे पड़ गया, और यूरोप, जो कि बहुत जमाने से कई बातों में पिछड़ा हुआ था, औद्योगिक प्रगति में नेता बन बैठा। यंत्रों की इस उन्नति के पीछे विज्ञान की भावना थी और थी एक खुदबुदाती हुई जिन्दगी, जिसने अपने को बहुत-से क्षेत्रों में और खोज की साहसी यात्राओं में प्रकट किया था। नये-नये यंत्रों की जानकारी ने यूरोप के देशों की फौजी शक्ति को बहुत बढ़ाया और उनके लिए यह संभव हो गया कि पूरब में फैलकर वे वहाँ के मुल्कों पर अधिकार कर सकें। यह केवल हिंदुस्तान की ही नहीं बल्कि सारे एशिया की कहानी है।

ऐसा हुआ कैसे, यह बता सकना कुछ कठिन है, क्योंकि मानसिक स्फूर्ति में और यंत्रों के हुनर में, पुराने जमाने में, हिंदुस्तानी पिछड़े न थे। ज्यों-ज्यों सदियाँ बीतती हैं, हम इस हुनर का प्रमशः ह्रास देखते हैं। जिन्दगी और बड़े-बड़े कारनामों के लिए उमंग घट जाती है। रचनात्मक शक्ति का लोप हो जाता है और उसकी जगह पर नक्काली आ जाती है। जहाँ विजयी और क्रांतिकारी विचारों ने प्रकृति और संसार के रहस्यों को भेदने की कोशिश की थी, वहाँ अब शब्दाडंबर वाले टीकाकार अपनी टीकाओं को लेकर आते हैं। शानदार कला और मूर्तियों की जगह पर अब हमें मिलते हैं पेचीदा खुदाई के काम, जिनमें विस्तार तो बहुत है, लेकिन कल्पना या कौशल की शान नहीं दिखाई देती। भाषा की श्रोजस्विता, संपन्नता और सादगी जाती रहती है और उनकी जगह बहुत संवारी हुई और जटिल साहित्यिक रचनाएं ले लेती हैं। वह उत्साही जीवन और साहस के लिए उमंग, जिसके बूते पर लोग दूर-दूर के देशों में हिंदुस्तानी संस्कृति स्थापित करने की योजना किया करते थे, एक संकीर्ण कट्टरता बनकर रह जाती है जो समुद्र की यात्रा तक की मनाही कर देती है। जिज्ञासा की तर्कपूर्ण भावना, जिसे हम पुराने समय में बराबर पाते हैं, और जिसकी वजह से विज्ञान की और भी उन्नति हो सकती थी, तर्कहीनता और अंधविश्वास में बदल जाती है। हिंदुस्तानी जीवन की धार मंद पड़ जाती है, मुर्दा सदियों के बोझ को जितने-तितने ढोते हुए लोग मानो अतीत में ही रहते हैं। बीते हुए काल का भारी बोझ उसे गुनगुन देता है और उसपर --- --- ---

वेहोशी छा जाती है। मानसिक मूढ़ता और शारीरिक थकान का ऐसा हालत में हिंदुस्तान का ह्रास हुआ, यह कोई अचरज की बात नहीं। और इस तरह वह जहां का तहां रह गया, जबकि दुनिया के और भाग आगे बढ़ गए।

फिर भी यह पूरा या सोलह आने सच्चा नक्शा नहीं है। अगर बीच में कोई ऐसा लंबा समय आया होता जबकि घोर जड़ता या गतिहीनता छा गई होती, तो बहुत संभव है कि इसका परिणाम यह होता कि बीते हुए जमाने से हमारा संबंध बिल्कुल टूट गया होता, एक युग का अंत हो जाता और उसके खंडहरों पर कोई नई चीज तैयार हो गई होती। इस तरह का विलगाव कभी नहीं हुआ और निश्चय ही एक सिलसिला जारी है। साथ ही समय-समय पर पुनर्जागृति की कोंधें उठी हैं, और इनमें से कुछ बड़ी चमकदार और देर तक बनी रहने वाली रही हैं। सदा इस बात की कोशिश दिखाई दी है कि नये का समन्वय पुराने से किया जाए, कम से कम पुराने के उन भागों से, कि जो इस योग्य हैं कि उनकी रक्षा की जाए। अक्सर वह, जो पुराना दिखता है, केवल बाहरी रूप-रेखा में पुराना है, एक तरह का प्रतीक है, और भीतरी वस्तु बदल गई है। लेकिन कोई शक्तिशाली और जीवित वस्तु ऐसी है, जो बनी रही है; कोई प्रेरणा ऐसी है, कि जो लोगों को ऐसी वस्तु पीछे ले जाती रही है, जिसे प्राप्त करना शेष है और जो हमेशा नये पुराने के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न में रही है। यही और इच्छा थी जो उन्हें आगे बढ़ाती रही और उन्हें इस योग्य बनाती रही कि पुराने विचारों को न छोड़ते हुए भी नये विचारों को अपना सकें। जीते-जागते और जीवन से भरे-पूरे या कभी-कभी परेशान नींद की बड़बड़ाहट जैसे इन युगों में, क्या कोई ऐसी वस्तु रही है जिसे हिंदुस्तान का स्वप्न कहा जा सके, मैं नहीं जानता। हर एक जाति और हर एक राष्ट्र के लोगों का अपने होनहार के संबंध में कोई विश्वास या कल्पना रही है, और शायद हर एक में यह विश्वास कुछ हद तक उसके लिए अच्छा भी है। हिंदुस्तानी होने के नाते स्वयं मुझपर इस कल्पना या वास्तविकता का प्रभाव रहा है कि हिंदुस्तान को किसी एक उद्देश्य को पूरा करना है। मैं समझता हूं कि जिस वस्तु में सैकड़ों पीढ़ियों को निरंतर ढालने की शक्ति रही, उसने अपनी यह स्थिर रहने वाली शक्ति, शक्ति के किसी गहरे कुएं से हासिल की होगी और उसमें यह सामर्थ्य होगी कि इसे हर युग में नई कर ले।

कोई राष्ट्र, कोई जाति ऐसी नहीं जो बदलती न रहती हो।

बग़र वह आँगों में पुनर्जीवित और बदली रहती है। ऐसा हो सकता है कि वह करोड़-करोड़ मुर्दा दिव्यादि के आँगों के लिए उस तरह उठ उठी हो जैसे कोई नई जाति, या पुनर्जाति जाति का नया रूप हो। पुनर्जाति और नये लोगों में बिल्कुल संबंध टूट सकता है या वह भी हो सकता है कि विचार और आदमों की नई और बड़े कड़ियाँ उन्हें जोड़ती रहें।

इतिहास में न जाने कितनी ऐसी निम्नांगें हैं, जो कि पुनर्जाति और अच्छी तरह से स्थापित संस्कृतियाँ बीने-बीने या बकायक भिन्न हुई हैं, और उनकी जगह नई और गतिशील संस्कृतियों ने ले ली है। या वह कोई जीवनी-गति है, गति का कोई भीतर भाव है, जो किसी संस्कृति या राष्ट्र को जीवन देता रहता है, और उनके बिना नारा प्रयत्न व्यर्थ है और ऐसे हैं कि जैसे कोई बड़ा आदमी किसी युवक का प्रतिपक्ष कर रहा हो ?

आज की दुनिया के लोगों में, मैं तीन में इस जीवनी-गति का अनुमान किया है—अमरीका, रूसी और चीनी लोगों में—और उनका एक अजीब मेल है। अमरीका के लोग, यद्यपि उनकी नई पुनर्जाति दुनिया में निवसती है, नये लोग हैं और उनकी नई आँस है, और हमने देखा है कि वे पुनर्जाति आँसों के बोझों और जटिल दिव्यादि में बचे हुए हैं और उनका अंतर उन्हाह सहस्र में मनन में आ जाता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के लोगों को भी यही स्थिति है। वे सभी बहुत बड़े पुनर्जाति दुनिया में अलग-अलग हैं और एक नई दिव्यादि उनके सामने है।

सभी नये लोग नहीं हैं, फिर भी उन्होंने बोरे हुए रूप में पूरे तरह से अपना माना मोड़ लिया है, उन तरह से कि जैसे माना मोड़ तोड़ देती है। उनका नया जन्म हुआ है—इस रूप में कि उनकी इतिहास में कोई स्थिति नहीं है। वह फिर जन्म हो रहा है, और हमें एक सदाबहार गति और स्थिति का रहे है। वे हमारे कुछ पुनर्जाति रूपों को संवर्धन लगे हैं, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वे नये लोग हैं और उनकी एक नई आँस और नई दिव्यादि है।

मैं भी निम्नांग यह निम्नांगी है कि अगर कोई जीवनी-गति नया रूप में पुनर्जाति के लिए और उनका भी यही नई गति को उत्पन्न करने के लिए है, तो यह किन तरह किन से हमारे में नई गति किन का सामना है।

कोई और एक नये रूप है। हमारे कोई नई आँस नहीं है, न हमारे ऊपर से लेकर मोड़ें तक इतिहास का अंतर माना जा रहा है।

यह सही है कि सात साल की खूंखार लड़ाई ने उन्हें बदल दिया है। कहां तक यह इस युद्ध का नतीजा है या दूसरे स्थायी कारणों का या दोनों का मिला-जुला हुआ, मैं नहीं जानता। लेकिन चीनी लोगों की जीवनी शक्ति मुझे आश्चर्य में डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र, जिसकी नाँव इतनी दृढ़ हो, मर सकता है।

जो जीवनी शक्ति मैंने चीन में देखी, वैसी ही कुछ मैंने कभी-कभी हिंदुस्तान के लोगों में महसूस की। ऐसा हमेशा नहीं हुआ है; और हर हालत में मेरे लिए तटस्थ होकर विचार करना मुश्किल है। शायद मेरी इच्छाएं मेरे विचारों को टेढ़ा-मेढ़ा रूप दे देती हैं लेकिन हिंदुस्तान के लोगों के बीच घूमते-फिरते हुए, मैं बराबर इस चीज की तलाश में रहा हूं। अगर हिंदुस्तानियों में यह जीवनी शक्ति है तो उनका कुछ नहीं बिगड़ा है, वे अपना काम पूरा करके रहेंगे। अगर उनमें इसकी कमी है, तो हमारे सारे राजनैतिक प्रयत्न और हंगामे केवल अपने को भुलावे में डालने वाली वस्तुएं हैं, और यह हमें बहुत दूर न ले जा सकेंगी। मेरी रुचि इस बात में नहीं है कि हम कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था पैदा करें जिससे कि हम लोग अपना काम कभी-बेश पहले जैसा, केवल कुछ अधिक अच्छी तरह चला सकें। मैंने अनुभव किया है कि हमारे लोगों में एक दबी हुई शक्ति और योग्यता का बड़ा भंडार है, और मैं चाहता हूं कि यह खुल जाए और हिंदुस्तानी अपने में नये जोश और नई स्फूर्ति का अनुभव करें। हिंदुस्तान ऐसा देश है कि वह दुनिया में दूसरे दर्जे का काम नहीं कर सकता। या तो वह बहुत बड़ा काम करेगा या उसकी कोई पूछ न होगी।

३ : हिंदुस्तान की खोज

यद्यपि पुस्तकों और पुराने स्मारकों और दीते हुए जमाने के सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की, फिर भी उनसे मेरा संतोष न हुआ, और जिस बात की मुझे खोज थी उसका पता न चला। और उनसे मिल भी कैसे सकता था, क्योंकि उनका संबंध बीते हुए जमाने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस बीते हुए जमाने का हाल के जमाने से कोई संबंध है भी या नहीं? मेरे लिए, और मेरे जैसे बहुतों के लिए वर्तमान कुछ ऐसा था, जिसमें मध्ययुग की बातों की, हृद दर्जों की गरीबी और दुःख की और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की

एक अजीब खिन्नी थी। मैं अपने जैसे या अपने वर्ग के लोगों का सराहने वाला नहीं था, लेकिन मुझे आशा थी कि हो न हो वही हिंदुस्तान की रक्षा की लड़ाई में आगे आएंगे। बीच का वर्ग अपने को कैद और जकड़ा हुआ पाता था, और स्वयं बढ़ना और उन्नति करना चाहता था, और चूंकि अंग्रेजों हुकूमत के चांचटे में गिरफ्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा संभव न था, इस हुकूमत के विरुद्ध उसमें एक विद्रोही भावना पैदा हो गई। फिर भी यह भावना उस ढांचे के विरुद्ध नहीं थी जो हमें पीसे ढाल रहा था। वास्तव में यह केवल अंग्रेजी वागडोर को बदलकर, उसे बनाए रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढांचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह संभव न था कि उसे नलकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और उन्होंने हमें गांवों की जनता की ओर ढकेला, और पहली बार हमारे नाजवान पढ़े-लिखों के सामने, एक नये और दूसरे ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसके अस्तित्व को वह करीब-करीब भुला चुके थे, या जिसे वह अधिक महत्त्व नहीं देते थे। यह एक विचलित कर देने वाला दृश्य था, न केवल उस ख्याल से कि हमें हृदय दर्ज की गरीबी और उनके मनलों का बहुत बड़े पैमाने पर नागना करना था, बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने हमारे मूल्यों-मानकों और उन नतीजों को, जिनपर हम अब तक पहुंचे थे, बिल्कुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई और उनमें जहाँ एक तरफ हमें बहुत-सी जानकारी प्राप्त कराई, दूसरी तरफ हमारे भीतर एक द्वंद्व भी पैदा कर दिया। अपने पुराने रहन-सहन और अनुभवों के अनुसार हमारी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो गांवों की इस बड़ी जनता से पहले से काफी परिचित थे, इसलिए उनमें कोई नई सतसती नहीं पैदा हुई, उन्होंने जैसी भी हालत थी, पहले से ही मान रखी थी; लेकिन मेरे लिए यह सचमुच एक खोज की यात्रा सिद्ध हुई और जहाँ मैं अपने लोगों की कमियाँ और कमजोरियों को दुःख के साथ समझता था, वहीं मुझे हिंदुस्तान के गांवों में रहने वालों में कुछ ऐसी विशेषता मिली, जिससे सबों में दत्ताना काठन था, और जिसने मुझे अपनी तरफ खींचा। यह विशेषता ऐसी थी जिसका मैंने अपने यहां के बीच के वर्ग में बिल्कुल अभाव पाया था।

साथ जनता की मैं आकर्षणशील कल्पना नहीं करता हूँ और जहाँ तक तो महत्ता है वस्तुतः हमें उनका ख्याल करने से बचना है। हिंदुस्तान की जनता ऐसी विशिष्ट और विज्ञान होतों हुए भी मेरे लिए

बड़ी वास्तविक है। मैं उसकी कल्पना अस्पष्ट गुट्टों के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तियों के रूप में करना चाहता हूँ। यह हो सकता है कि चूंकि उनसे मैं बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था, इसलिए मुझे कोई मायूसी नहीं हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी, उससे मैंने उन्हें बढ़कर पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो दृढ़ता और भीतरी शक्ति है, उसकी वजह यह है कि वे अपनी पुरानी परंपरा अब भी अपनाए हुए हैं। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो चोटें खाई हैं, उनसे इस परंपरा का बहुत कुछ तो जा चुका है; फिर भी कुछ बच रहा है, जिसका मूल्य है। साथ ही बहुत कुछ ऐसा है जो बुरा और निकम्मा है।

मैंने संयुक्त प्रांत के ४८ जिलों में—गांवों और शहरों में—लंबी यात्राएं कीं, और मैं काफी घूमा। यह प्रदेश बहुत समय से हिंदुस्तान का हृदय समझा जाता रहा है और प्राचीन और बीच के, दोनों ही कालों की संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। यहां कितनी ही संस्कृतियां और कौमें आपस में मिली-जुली हैं। यह वह भाग है जहां १८५७ में क्रांति की आग भड़की थी और जिसका बाद में बड़ी बेरहमी से दमन हुआ था। रफ़ता-रफ़ता मेरा परिचय उत्तरी और पच्छिमी जिलों के जाटों से हुआ, जो धरती के सच्चे बेटे हैं, जो बहादुर और आजाद दिखाई देते हैं और औरों की अपेक्षा खुशहाल हैं। राजपूत किसानों और छोटे जमींदारों से मेरी जान-पहचान हुई और मैंने जाना कि उन्हें अब भी अपनी जाति का और पुरखों का गुमान है—उन्हें भी, जिन्होंने कि इस्लाम अस्तिवार कर लिया है। मैंने गुनी कारीगरों और घरेलू धंधों में लगे हुए लोगों से, हिंदुओं और मुसलमानों से, परिचय किया, और बड़ी संख्या में जानकारी हासिल की—उन गरीब रिआया और किसानों से, विशेषकर अवध में और पूरबी जिलों में, जो पीढ़ियों के दमन और गरीबी से पिस्त रहे थे और जिन्हें यह आशा करने का साहस नहीं होता था कि उनके दिन फिरंगे, लेकिन फिर भी जो आशा लगाए बैठे थे और जिनके मन में विश्वास था।

बंगाल के देहातों को छोड़कर, जहां दुर्भाग्य से मुझे जाने का बहुत कम अवसर मिला, मैंने हर एक सूबे का दौरा किया और मैं गांवों में पैठा। हिंदुस्तान की धरती और उसके लोग मेरे सामने फैले हुए थे, और मैं एक बड़ी खोज की यात्रा पर था। हिंदुस्तान, जिसमें इतनी विविधता और मोहिनी शक्ति है, मुझपर एक धुन की तरह नवार था, और यह धुन बढ़ती ही गई। जितना ही मैं उसे देखता था उतना ही मुझे इस बात का अनुभव होता था कि मेरे लिए या किसीके लिए

भी, जिन विचारों का वह प्रतीक था, उन्हें समझ पाना कितना कठिन था । उसके बड़े चिन्तार से या उसकी विविधता ने मैं नहीं बचराता था, लेकिन उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी, जिसकी थाह मैं न पा सकता था—अगरचे कभी-कभी उसकी इनक मुझे मिल जाती थी । यह किसी प्राचीन तानपत्र जैसा था, जिसपर विचार और चिन्तन की तहें, एक पर एक जमी हुई थी, और फिर भी किसी बाद की तह ने पहले से आँके हुए लेख को पूरी तरह से मिटाया न था । उनका हमें भान हो चाहे न हो, ये सब एकसाथ मेरे चेतन और अचेतन दिभाग में भाँजूद हैं, और ये सब मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और भेद-भरे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं । वह स्फिक्त्त जैसा चेहरा, अपनी भेद-भरी और कभी-कभी व्यंग्य-भरी मुस्कराहट के साथ सारे हिंदुस्तान में दिखाई देता था । यद्यपि ऊपरी ढंग से हमारे देश के लोगों में विविधता और विभिन्नता दिखाई देती थी, लेकिन सभी जगह वह समानता और एकरूपता भी मिलती थी, जिसने कि, हमारे दिन चाहे जैसे बीते हों, हमें एकसाथ रखा । हिंदुस्तान की एकता, मेरे लिए अब एक कल्पित बात न रह गई । यह एक आंतरिक अनुभव था और मैं इसके वन में आ गया ।

४ : भारतमाता

प्रायः जब मैं एक जलमे से दूसरे जलमे में जाया करता और इस तरह चक्कर काटता रहता, तो इन जलसों में मैं अपने सुनने वालों ने अपने इस हिंदुस्तान या भारत की चर्चा करता । भारत एक संस्कृत शब्द है और इस जाति के परंपरागत संस्थापक के नाम से निकला हुआ है । मैं शहरों में ऐसा बहुत कम करता, क्योंकि वहाँ के सुनने वाले कुछ अधिक सवाने थे और उन्हें दूसरे ही प्रकार के भोजन की आवश्यकता थी । लेकिन किमानों से, जिनका कि दृष्टिकोण सीमित था, मैं इन बड़े देश की चर्चा करता, जिसकी स्वतंत्रता के लिए हम लोग प्रयत्न कर रहे थे, और बताता कि किस तरह देश का एक हिस्सा दूसरे से जदा होने लगा भी हिंदुस्तान एक था । मैं उन मसलों का जिक्र करता जो कि उत्तर में लेकर दक्खिन तक, और पूरब में लेकर पच्छिम तक किमानों के लिए एकता थे, और स्वराज्य का भी डिक्क करता, जो लोगों के लिए नहीं, बल्कि सभीके पासदे के लिए हो सकता था ।

कभी ऐसा भी होता कि जब मैं किसी जलमे में पारंगत होकर

त "भारतमाता की जय!" इस जोर के नारे से किया जाता।
 लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब
 यह भारतमाता कौन है जिसकी वे जय चाहते हैं? मेरे सवाल
 उन्हें कुतूहल और आश्चर्य होता और फिर कुछ जवाब न बन पड़ने
 वह एक-दूसरे की तरफ या मेरी तरफ देखने लग जाते। मैं सवाल
 करता ही रहता। अंत में एक हट्टे-कट्टे जाट ने, जो अनगणित पीढ़ियों
 से किसानों करता आया था, जवाब दिया कि भारतमाता से उनका
 मतलब घरती से है। कौन-सी घरती? खास उनके गांव की घरती,
 या जिले की, या सूबे की, या सारे हिंदुस्तान की घरती से उनका मतलब
 है? इस तरह सवाल-जवाब चलते, यहां तक कि वह ऊबकर मुझसे
 कहने लगते कि मैं ही बताऊं। मैं इसकी कोशिश करता, और बताता
 कि हिंदुस्तान वह सब कुछ है जिसे कि उन्होंने समझ रखा है, लेकिन
 वह इससे भी बहुत अधिक है। हिंदुस्तान के नदी और पहाड़, जंगल
 और खेत, जो हमें अन्न देते हैं, यह सभी हमें प्रिय हैं। लेकिन अंत में
 जिनकी गिनती है वह हैं हिंदुस्तान के लोग, उनके और मेरे जैसे लोग,
 जो कि इस सारे देश में फैले हुए हैं। भारतमाता दरअसल यही करोड़ों
 लोग हैं, और 'भारत माता की जय' से मतलब हुआ इन लोगों का
 य का। मैं उनसे कहता, कि तुम इस भारतमाता के अंश हो, ए
 तरह से तुम ही भारतमाता हो, और जैसे-जैसे यह विचार उनके
 में उठते, उनकी आंखों में चमक आ जाती, इस तरह मानो उन
 कोई बड़ी खोज कर ली हो।

५ : हिंदुस्तान की विविधता और एकता

हिंदुस्तान में अपार विविधता है, यह प्रकट-सी वस्तु है; य
 तरह सतह पर है कि कोई भी इसे देख सकता है। इसका सं
 भौतिक वस्तुओं से भी है जिन्हें हम ऊपर-ऊपर देखते हैं और
 मानसिक अन्यासों और स्वभाव से भी है। बाहरी ढंग से देखें तो
 पच्छिम के पठान में और धुर दक्खिन के तमिल में बहुत
 बातें हैं जो आपस में भ्रमान कही जाएंगी। नस्ल की दृष्टि से
 जुदा हैं, यद्यपि हो सकता है कि दोनों के बीच कुछ ऐसे ध
 एक-दूसरे को जोड़ रहे हों; नूरत-शकल में, खाने-पीने और
 ये जुदा-जुदा हैं, और भाषा में तो हैं ही। उत्तर-पच्छिम
 सूबे में मध्य एशिया की हवा पहुंची हुई है और यहां के

हमें हिमालय के पर्वतों तरफ के देशों की याद दिलाने हैं ! पठानों के देहाती नाचों में और रूस के कन्दारकों के नाचों में अद्भुत समानता है । लेकिन इन भेदों के रहते हुए भी इस बात में शक नहीं हो सकता कि पठान पर हिंदुस्तान की छाप है, उन्ही तरह जिस तरह कि हम तमिल पर यह छाप साफ तौर पर देखते हैं । इसमें अचरज की कोई बात नहीं है, क्योंकि ये सरहद्दी देश और सब पृष्ठिण तो अकालनिस्तान भी, हजारों बरस तक हिंदुस्तान से मिले रहे हैं । अकालनिस्तान में बसने वाली पुरानी तुर्क तथा ईरानी कौम, इस्तान के आने से पहले अधिकतर बौद्ध थीं और उसने भी पूर्व रानायन और महाभारत के समय में हिंदू थीं । सरहद्दी प्रदेश पुरानी हिंदुस्तानी संस्कृति का एक केन्द्र था और आज भी न जाने कितने मठों और इमारतों के खंडहर हमें वहां दिखाई देते हैं, विशेष रूप से तदशिला के विश्वविद्यालय के, जो दो हजार बरस पहले प्रसिद्ध हो चुका था और जहां हिंदुस्तान-भर से और मध्य एशिया से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे । धर्म के परिवर्तन ने अंतर अवश्य उत्पन्न किया था, लेकिन उस हिस्से के लोगों की जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, उसे बदलने में यह असमर्थ रहा ।

पठान और तमिल, दो अलग-अलग छोर की मिट्टानें हैं; और लोग इनके बीच में आते हैं । समीचे दर जुड़ा है, लेकिन जो बात सबसे बढ़कर है वह यह है कि समीपर हिंदुस्तान की अपनी छाप है । यह एक दिलचस्प बात है कि बंगाली, मराठी, गुजराती, तमिल, आंध्र, उड़िया, असमी, मलयाली, सिंधी, पंजाबी, पठान, कर्णारी, राजपूत और बीच के लोगों का एक बड़ा टुकड़ा, जो हिंदुस्तानी भाषा बोलता है—उन सबने, सैकड़ों वर्षों से, अपनी खामियत कायम रखी है, और अब भी उनमें वै ही रूज या दोष मिलते हैं, जिसका पता परंतन और पुराने लोगों से मिलता है । फिर भी उन युगों में ये बराबर हिंदुस्तानी बने रहे हैं, राष्ट्रीय वर्गों के रूप में उन्हें जो कुछ प्राप्त है और उनके आचार-विचार के आदर्श एकजुट हैं । इन वर्गों में कुछ ऐसी जाती-जागती बात है, जिसका पता हमें जीवन के प्रश्नों के प्रति उनके दायन से लगता है । पुराने चीन की तरह, पुराना हिंदुस्तान, एक अलग दुनिया थी, वहां की संस्कृति हर वस्तु को एक विशेष रूप दे देती थी । विशेषी प्रभाव आते और प्रायः इस संस्कृति पर अपना प्रभाव डालते थे, और बाद में उसीमें समा जाते थे । जहां कूट की प्रवृत्तियां दिखाई दीं, वहां समन्वय के प्रयत्न होने लगते थे । सम्यक्ता के उपा-ध्यान से लेकर आज तक हिंदुस्तान के मस्तिष्क में, एकता का एक स्वप्न : रहा है ।

इस एकता की कल्पना इस तरह से नहीं की गई कि मानो वह बाहर मे आरोपित वस्तु हो, या बाहरी बातों या विश्वासों तक में एक-रूपता आ जाए। यह कुछ और ही गहरी वस्तु थी—इसके क्षेत्र के भीतर रीति-रिवाजों और विश्वासों की ओर अधिक से अधिक सहिष्णुता वरती गई है और उनके सभी अलग-अलग रूपों को स्वीकार किया गया है और उन्हें बढ़ावा दिया गया है।

एक राष्ट्र के लोगों के अंदर भी, वे आपस में चाहे जितने निकट क्यों न हों, छोटे या बड़े भेद सदा देखने को मिल सकते हैं। किसी गिरोह की एकता का अनुमान तब होता है, जब हम उसकी तुलना दूसरे राष्ट्रीय गिरोह से करते हैं। अगर दो गिरोह पास-पास के देशों के हुए, तो सरहद्दी हिस्सों में उनके भेद-भाव कम, और नहीं के बराबर गालूम देते हैं। यों भी इस काल में, राष्ट्रीयता का यह विचार जिससे हम परिचित हैं, मौजूद न था। जागीरदारी, धर्म, जाति और संस्कृति के संबंधों को अधिक महत्त्व दिया जाता था। फिर भी मैं समझता हूँ कि हिंदुस्तान के किसी भी समय में, जिसका कि इतिहास लिखिवद्ध हो चुका है, एक हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तान के किसी भी भाग में अजनबी न समझता, और वही हिंदुस्तानी किसी भी दूसरे देश में अपने को अजनबी और विदेशी अनुभव करता। हाँ, निश्चय ही वह अपने को इन देशों में कम अजनबी पाता, जिन्होंने कि उसकी संस्कृति और धर्म को अपना लिया था। हिंदुस्तान से बाहर के देशों में उत्पन्न होने वाले धर्मों के अनुयायी, हिंदुस्तान में आने और यहां पर बसने के कुछ ही पीढ़ियों के भीतर स्पष्ट रूप से हिंदुस्तानी बन जाते थे, जैसे ईसाई, यहूदी, पारसी और मुसलमान। ऐसे हिंदुस्तानी, जिन्होंने इनमें से किसी एक धर्म को स्वीकार कर लिया, एक क्षण के लिए भी इस धर्म-परिवर्तन के कारण गैर-हिंदुस्तानी न हो गए। दूसरे देशों में इन्हें हिंदुस्तानी और विदेशी समझा जाता रहा, चाहे इनका धर्म वही रहा हो जो इन दूसरे देश वालों का था।

आज भी, जबकि राष्ट्रीयता का विचार बहुत बदल गया और उन्नति कर गया है, विदेशों में हिंदुस्तानियों का गिरोह एक अलग गिरोह समझा जाता है और अपने भीतरी भेदों के बावजूद उन्हें एक गिना जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई चाहे जहां जाए, हिंदुस्तानी ही समझा जाता है, और हिंदुस्तानी मुसलमान चाहे तुर्की में हो, चाहे ईरान और अरब में, सभी इस्लामी मुल्कों में वह हिंदुस्तानी समझा जाता है।

मैं समझता हूँ कि हममें से सभीने, अपनी जन्मभूमि की अलग-अलग तस्वीर बना रखी होगी, और कोई दो आदमी एक-सा विचार न रखते होंगे। जब मैं हिन्दुस्तान के बारे में सोचता हूँ, तो कई बातों का ध्यान आता है—दूर तक फैले हुए मैदानों का, जिनपर अनगिनत छोटे-छोटे गांव बसे हुए हैं; उन शहरों और कस्बों का, जहां मैं हो आया हूँ; बरसात के मौसम के जादू का, जो सूखे और जले हुए मैदानों में जीवन बखेरता है और उन्हें अचानक हरियाली और सौंदर्य का, और बड़ी और जोर-शोर से बहने वाली नदियों का प्रदेश बना देता है; खैबर के सुनसान दर्रे का, हिन्दुस्तान के दक्खिनी छोर का, और सबसे बढ़कर बर्फ से ढंके हुए हिमालय का, या कश्मीर में, वसंत ऋतु में, किसी पहाड़ी घाटी का, जिसमें कि नये-नये फूल फूल रहे हैं और जिसमें पानी के सोते फूटकर गुनगुना रहे हैं; हम लोग अपनी पसंद की तस्वीरें बनाते हैं और उनको संजोते हैं। इसलिए वजाय गर्म मैदानी हिस्सों के, जो ज्यादा आम हैं, मैंने पहाड़ी मंजर पसंद किया है। दोनों तस्वीरें ठीक हैं, क्योंकि हिन्दुस्तान उष्ण कटिबंध से लेकर सम शीतोष्ण कटिबंध तक और भूमध्य रेखा से लेकर एशिया के बड़े प्रदेश तक फैला हुआ है।

६ : जनता की संस्कृति

मैं आज के हिन्दुस्तान की जनता का मार्मिक नाटक देखता था, और अक्सर मैं उन धागों का पता लगा पाता था जो उनके जीवन को बीते हुए ज़माने से जोड़ रहे थे, जबकि उनकी निगाहें आने वाले समय की तरफ लगी हुई थीं। मैं पाता था कि संस्कृति की एक पृष्ठ-भूमि है जो उनके जीवन पर गहरा असर डाल रही है। यह पृष्ठभूमि साधारणतः दर्शन, परंपरा, इतिहास, पौराणिक और कल्पित कथाओं के मेलजोल से तैयार हुई थी और इन विविध अंगों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। जो लोग बिल्कुल अनपढ़ और अशिक्षित थे, उनकी भी यही पृष्ठभूमि थी। अपने पुराने महाकाव्यों, रामायण और महाभारत से, और दूसरे ग्रंथों से, जनता सुगम अनुवादों या गुटकाओं के द्वारा अच्छी तरह परिचित थी। एक-एक घटना और उपदेश उनके मन में टंके हुए थे और इस तरह उनके दिमाग भर-भरे थे। अनपढ़ देहातियों को भी सैकड़ों पद्य जवानी याद थे और उनकी बातचीत में इनके या किसी प्राचीन कथा या उपदेश

रहते थे । मुझे इस बात पर अचरज होता था कि गांव के लोग आज-कल की साधारण बातों को साहित्यिक पैराया देते थे । अगर मेरे दिमाग में लिखे हुए इतिहास और कथोपदेश जाने हुए वाक्यों के चित्र भरे हुए थे, तो मैंने अनुभव किया कि अनपढ़ किसान के दिमाग में भी एक चित्रशाला थी हां, इसका आधार परंपरा, पुराण की कथाएं और माहाकाव्य के नायक और नायिकाओं के चरित्र थे । इसमें इतिहास कम था, फिर भी चित्र काफी सजीव थे ।

मैं उनके शरीरों और उनकी सूरतों की तरफ देखता था और उनके रहने-सहने के ढंग पर गौर करता । उनमें बहुत-सी सूरतें ऐसी थीं जो बातों का जल्द अस्तर लेने वाली थीं, उनमें हट्टे-कट्टे, सीधे और साफ अंगवाले लोग मिलते थे, और अस्तरों में अदा और लोच तथा शान और सम-ताई होती और अक्सर उनके चेहरों पर उदासी दिखाई पड़ती । आमतौर पर ऊंची जाति के लोगों में जिनकी आर्थिक दशा दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छी होती, अच्छे शरीर वाले मिलते । कभी-कभी जब मैं किसी देहाती सड़क या गांव से होकर गुजरता, तो मुझे किसी अच्छे बदन के आदमी को देखकर या रूपवाली स्त्री को देखकर अचरज होता और मुझे पुराने जमाने के भित्तिचित्रों की याद हो आती । युगों की बातना और मुसीबत के बाद भी हिंदुस्तान में आज ऐसे नमूने किस तरह मिल जाते हैं, इस बात पर मुझे आश्चर्य होता । अच्छी स्थिति में, और अच्छे अस्तर मिलने पर लोग क्या न कर सकते थे ?

गरीबी और गरीबी से उपजी हुई अनगिनत बातें सभी जगह दिखाई पड़ती थीं, और इसके हैवानी पंजे के निशान हर एक माथे पर लगे हुए थे । जीवन इस तरह कुचल और मरोड़ दिया गया था कि एक अभिशाप बन गया था और दमन और अरक्षा की स्थिति ने बहुतेरी बुराइयां पैदा कर दी थीं । यह बातें, देखने में खुशगवार नहीं हो सकती थीं, फिर भी हिंदुस्तान में बुनियादी वास्तविकता यही थी । लोग आवश्यकता से अधिक भाग्य पर भरोसा करते थे और जैसी भी बीतती उसे स्वीकार करते थे । साथ ही उनमें एक नरमी और भल-मनसी थी, जो हजारों वर्षों की संस्कृति का परिणाम थी, और जिसे कठोर से कठोर दुर्भाग्य नहीं मिटा पाया था ।

हिंदुस्तान की खोज

१ : सिंध घाटी की सभ्यता

हिंदुस्तान के बीते हुए युग की सबसे पहली तस्वीर हमें सिंध घाटी की सभ्यता से मिलती है, जिसके प्रभावशाली खंडहर सिंध में, मोहनजोदड़ो में और पच्छिमी पंजाब में हड़प्पा में मिले हैं। यहां पर जो खुदाइयां हुई हैं, उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे में, हमारे विचारों में क्रांति पैदा कर दी है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा एक-दूसरे से काफी दूर पर हैं। इन दो जगह के खंडहरों की खोज एक आकस्मिक बात थी। इसमें शक नहीं कि बहुत-से ऐसे, मिट्टी में दबे हुए शहर और पुराने जमाने के आदमियों के कारनामे इन दो जगहों के बीच पड़े होंगे, और यह संस्कृति हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों में, और निश्चय ही उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थी। ऐसा समय आ सकता है कि जब हिंदुस्तान के सुदूर अतीत के ऊपर से परदा उठाने का काम फिर हाथ में लिया जाए और मारके की खोजें हों। अभी ही इस सभ्यता के चिह्न हमें इतनी दूर फैली हुई जगहों में मिले हैं, जैसे पच्छिम में काठियावाड़ और पंजाब में अंबाला जिला, और ऐसा विश्वास करने के कारण हैं कि यह सभ्यता गंगा-घाटी तक फैली हुई थी। इस तरह यह सभ्यता सिंध घाटी की सभ्यता से बढ़कर थी। मोहनजोदड़ो में मिले हुए लेख अभी तक ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके हैं। लेकिन जो भी हम अब तक जान सके हैं, वे बड़े महत्त्व की बातें हैं।

सर जॉन मार्शल हमें बताते हैं—“मोहनजोदड़ो और हड़प्पा इन दोनों जगहों में, एक बात तो स्पष्ट है और इसके बारे में कोई धोखा नहीं हो सकता। वह यह है कि इन दोनों जगहों में जो सभ्यता हमारे सामने आई है, वह कोई प्रारंभिक सभ्यता नहीं है, बल्कि ऐसी है जो उस समय ही युगों पुरानी पड़ चुकी थी, हिन्दुस्तान की धरती

ट हो चुकी थी और उसके पीछे मनुष्य का हजारों वर्षों का
 था। इस तरह अब से मानना पड़ेगा कि ईरान, मेसोपोटामिया
 मित्र की तरह हिंदुस्तान उन सबसे प्रमुख प्रदेशों में एक है, जहां
 सभ्यता का आरंभ और विकास हुआ था।" और फिर वह कहते
 "पंजाब और सिंध में, अगर हम हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों में
 न मानें, एक बहुत उन्नत, और अद्भुत रूप से आपस में मिलती-
 जाती हुई सभ्यता का प्रचार था, जो उसी काल की मेसोपोटामिया
 और मित्र की सभ्यताओं से पृथक् होते हुए भी, कुछ बातों में उससे
 ज्यादा उन्नत थी।"

सिंध घाटी के इन लोगों के, उस काल की सुमेर सभ्यता से बहुत-
 से संपर्क थे, और इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि अक्काद में
 हिंदुस्तानियों की, संभवतः व्यापारियों की, एक वस्ती थी। "सिंध
 घाटी के शहरों की बनी हुई चीजें दजला और फ़रात के बाजारों में
 विकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ रूपों—मेसोपोटामिया
 के सिंगार के सामान, और एक वेलन के आकार की मुहर—की नकल
 सिंधवालों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की चीजों
 तक ही सीमित न था। अरब सागर के किनारों से लाई गई मछलियां
 मोहनजोदड़ो की खान की चीजों में सम्मिलित थीं।"

इतने पुराने जमाने में भी हिंदुस्तान में रुई कपड़ा बनाने के काम
 में लाई जाती थी। मार्शल सिंध घाटी की सभ्यता की समकालीन
 मेसोपोटामिया और मित्र की सभ्यता से तुलना करते हैं—“इस तरह
 कुछ मुख्य-मुख्य बातें ये हैं कि इस काल में रुई का कपड़ा बनाने
 काम में उपयोग केवल हिंदुस्तान में होता था और पच्छिमी दुनि-
 में २००० या ३००० साल बाद तक यह नहीं फैला। इसके अतिरिक्त
 मित्र या मेसोपोटामिया या पच्छिमी एशिया में कहीं भी हमें वैसे
 ने हुए हम्माम या विस्तृत घर नहीं मिलते, जैसे कि मोहनजो-
 के नागरिक अपने उपयोग में लाते थे। उन देशों में देवताओं के
 दार मंदिरों और राजाओं के लिए महलों और ममाधियों के
 पर अधिक ध्यान दिया जाता था और धन खर्च किया जाता
 लेकिन जान पड़ता है कि जनता को मिट्टी की छोटी झोंपड़ियों से
 करना पड़ता था। सिंध घाटी में इससे उल्टी ही तस्वीरें दिख
 हैं और अच्छी से अच्छी इमारतें वहां मिलती हैं जिनमें
 रहा करते थे।” निजी या आम लोगों के लिए खुले हम्मामों

१. गॉर्डन चाइल्ड, 'हाट ड्रेपेनड इन हिस्ट्री' (पेलिकन बुक्स), पृ.

मालियों के जरिये गंदगी निकालने का जो इंतजाम हम मोहनजोदड़ो में पाते हैं, वह अपने ढंग का पहला है, जो कहीं भी नहीं मिलता है। हमें रहने के दोमंजिले घर भी मिलते हैं जो पक्की हुई ईंटों के बने होते थे, जिनमें हम्माम, चीकीदार के घर, और अलग-अलग घरानों के रहने के लिए हिस्से होते थे।

मार्शल से, जो सिंध घाटी की सभ्यता के माने हुए विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने खुद खुदाई कराई थी, एक और उद्धरण दूंगा। वह कहते हैं—“सिंध घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं, और उनपर एक अपनी विशेष छाप है। इस काल के दूसरे देशों की हम कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहां की चीनी-मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या और जानवरों की मूर्तियों से मिलती हो या उन खुदी हुई मुहरों से, विशेषकर जिनपर छोटी सींगों के कूबड़ वाले बैलों की नक्काशी है, और जो बनाने के कौशल और सुडौलपन की दृष्टि से अनुपम हैं। न यही संभव होगा कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी मूर्तियों की तुलना वनावट की सुघराई के विचार से किन्हीं और मूर्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि जब यूनानी सभ्यता के प्राइ काल के समय की कृतियां देखें। सिन्ध घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती हुई बातें हमें और देशों में मिल सकती हैं, और यह बात सभी पूर्व-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के बारे में सच ठहरेगी। लेकिन सब कुछ लेकर, उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ हिंदुस्तानी है कि आजकल के प्रचलित हिंदू धर्म से उसका भेद मुश्किल से किया जा सकता है।”

इस तरह से हम देखते हैं कि सिंध घाटी की सभ्यता, ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की उस काल की सभ्यताओं के संपर्क में रही है, इसके और उनके लोगों में आपस में व्यापार होता रहा है और कुछ बातों में यह उनसे बढ़कर रही है। यह एक शहरी सभ्यता थी जहां के व्यापारी मालदार और प्रभावशाली लोग थे। सड़कों पर दूकानों की कतारें होती थीं, और ऐसी इमारतें जो शायद छोटी-छोटी दूकानें थीं, आजकल के हिंदुस्तानी बाजार जैसी लगती हैं। प्रोफेसर चाइल्ड कहते हैं—“इससे स्पष्ट रूप से यह परिणाम निकलता है कि सिंध के शहरों के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्कों का चलन और कीमतों की माप स्वीकार की थी या नहीं, और अगर की थी तो वह क्या थी, इसका ठीक पता नहीं। बहुत-से बड़े और

विस्तृत मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामों से पता लगता है कि इन घरों के मालिक साँदागर लोग थे। इन घरों की गिनती और आकार यह बताते हैं कि यहां पर सुदृढ़ और खुशहाल व्यापारियों की वस्ती थी। इन खंडहरों में सोने, चांदी, कीमती पत्थरों और चीनी मिट्टी के जेवर, पिटे हुए तांबे के वरतन, धातु के बने आँखार और हथियार इतनी बहुतायत से मिले हैं कि अचरज होता है।" चाइल्ड साहब यह भी कहते हैं कि "गलियों की सुंदर तरतीब और नालियों की बहुत बढ़िया व्यवस्था, और उनकी बराबर सफाई इस बात का संकेत देते हैं कि यहां कोई नियमित म्यूनिसिपल शासन था और वह अपना काम मुस्तैदी से करता था। इसका शासन इतना काफी दृढ़ था कि बाढ़ों को बजह से बार-बार बनी इमारतों की तैयारी के वक्त भी नगर-निर्माण के और सड़कों की कतारों की रक्षा करने के नियम का पालन होता था।"

सिंध घाटी की सभ्यता और आज के हिंदुस्तान के बीच की बहुत-सी कड़ियां गायब हैं और ऐसे समय आए हैं जिनके बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। एक काल को दूसरे काल से जोड़ने वाली कड़ियां अक्सर प्रकट भी नहीं हैं और इस बीच न जाने कितनी घटनाएं घटी हैं और कितने परिवर्तन हुए हैं। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि एक सिलसिला बना रहा है और एक सावित जंजीर है जो आज के हिंदुस्तान को उस छः-सात हजार साल पुराने काल से जबकि सिंध घाटी की सभ्यता शायद आरंभ हुई थी, बांध रही है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की कितनी चीजें हमें चली आती हुई परंपरा की, रहन-सहन की, लोगों के पूजा-पाठ, कारीगरी, यहां तक कि पोशाक के ढंगों की याद दिलाती रहती हैं, इनपर अचरज होता है। इनमें से बहुत-सी बातों ने पच्छिमी एशिया पर प्रभाव डाला था।

२ : आर्यों का आना

सिंध घाटी की सभ्यता वाले ये लोग कौन थे और कहां से आए थे, इसका हमें अब तक पता नहीं है। यह बहुत मुमकिन, बल्कि संभावित है कि इनकी संस्कृति इसी देश की संस्कृति थी, और उसकी जड़ें और जाखाएं दक्खिन हिंदुस्तान तक में मिलनी हैं। कुछ विद्वान इन लोगों में और दक्खिन हिंदुस्तान के द्रविड़ों में जाति और संस्कृति

१. गॉर्डन च.इल्ड 'हाट ईपेनट इन हिस्टरी' (पेलिकन बुक्स), पृ० ११३-११४

की विशेष रूप से समानता पाते हैं, और अगर बहुत प्राचीन समय में हिंदुस्तान में बाहरी लोग आए थे, तो इसका इतिहास मोहनजोदड़ो से हजारों वर्ष पुराना है। व्यवहार के विचार से हम उन्हें हिंदुस्तान के निवासी मान सकते हैं।

यह खयाल किया जाता है कि आर्यों का यहां आना, सिंध घाटी की सम्यता के एक हजार साल बाद हुआ, लेकिन यह भी संभव है कि काल की इतनी बड़ी खाई दोनों के बीच न रही हो और जातियां और कबीले पच्छिमोत्तर से बराबर थोड़े-थोड़े समय बाद आते रहे हों, जैसा कि वे बाद में आए, और आने पर हिंदुस्तान में घुल-मिल जाते रहे हों। हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों का पहला बड़ा समन्वय और मेल-जोल आने वाले आर्यों और द्रविड़ों में, जो संभवतः सिंध घाटी की सम्यता के प्रतिनिधि थे, हुआ। इस समन्वय और मेल-जोल से हिंदुस्तान की जातियां बनीं और एक ब्रुनियादी हिंदुस्तानी संस्कृति तैयार हुई जिसमें दोनों के अंश थे। बाद के युगों में और बहुत-सी जातियां आती रहीं, जैसे ईरानी, यूनानी, पार्थियन, बैक्ट्रियन, सिदियन, हूण, तुर्क (इस्लाम से पहले के), कदीम ईसाई, यहूदी और पारसी। ये सभी लोग आए, इन्होंने अपना प्रभाव डाला और बाद में यहां के लोगों में घुल-मिल गए। डॉडवेल के कयनानुसार हिंदुस्तान में 'समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी।' यह कुछ अजब-सी बात जान पड़ती है कि हिंदुस्तान में, जहां ऐसी वर्ण-व्यवस्था है और अलग बने रहने की भावना है, विदेशी जातियों और संस्कृतियों को जड़ कर लेने की इतनी समाई रही हो। शायद यही वजह है कि उसने अपनी जीवनी शक्ति कायम रखी है और समय-समय पर वह अपना कायाकल्प करता रहा है। जब मुसलमान यहां आए तो उनपर भी उसका असर पड़ा। विलेड स्मिथ का कहना है कि "विदेशी (मुसलमान तुर्क) अपने पूर्वजों, शकों और यूचियों की तरह हिंदूधर्म की सोख लेने की अदभुत शक्ति के बश में हुए और तेजी के साथ उनमें 'हिंदूपन' आ गया।"

३ : हिंदूधर्म क्या है ?

इस उद्धरण में विलेड स्मिथ ने 'हिंदूधर्म' और 'हिंदूपन' शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह प्रयोग करना ठीक नहीं। अगर इनका प्रयोग हिंदुस्तानी संस्कृति के विस्तृत अर्थ में किया जाए तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का

ये बहुत संकुचित अर्थ में लिए जाते हैं और इनसे एक विशेष धर्म खयाल होता है, भ्रांति पैदा कर सकता है। हमारे पुराने साहित्य तो हिंदू शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक में मिलता है, वह है आठवीं दी ईसवी के एक तांत्रिक ग्रंथ में, और वहां हिंदू का मतलब किसी विशेष धर्म से नहीं, बल्कि विशेष लोगों से है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह शब्द बहुत पुराना है और अवेस्ता में और पुरानी फारसी में आता है। उस समय, और उस समय से हजार साल बाद तक पच्छिमी और मध्य एशिया के लोग इस शब्द का प्रयोग हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसने वाले लोगों के लिए करते थे। यह शब्द साफ-साफ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इंडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इंडोस' और 'इंडिया' भी। प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्-सिंग, जो हिंदुस्तान में सातवीं सदी ईसवी में आया था, अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि "उत्तर की जातियां, यानी मध्य एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदू (सीनू-नु) कहते हैं।" लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नहीं है... हिंदुस्तान का सबसे उचित नाम आर्यदेश है।" एक विशेष धर्म के अर्थ में 'हिंदू' शब्द का प्रयोग बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान में धर्म के लिए पुराना व्यापक शब्द 'आर्यधर्म' या वास्तव में धर्म का अर्थ 'मजहब' या 'रिलिजन' से ज्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है उसके मानी हैं एक पकड़ना। यह किसी वस्तु को भीतरी प्रकृति, उसके आंतरिक जी के विधान के अर्थ में आता है। इसके अंदर नैतिक विधान, सदा और आदमी की सारी जिम्मेदारियां और कर्तव्य आ जाते हैं। धर्म के भीतर वे सभी मत आ जाते हैं जिनका आरंभ हिंदुस्तान हुआ है, वे मत चाहे वैदिक हों चाहे अवैदिक। इसका प्रयोग और जैनों ने भी किया है और उन लोगों ने भी जो वेदों को हैं। बुद्ध अपने बनाए मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य मार्ग' कहते हैं। पुराने समय में 'वैदिकधर्म' शब्द का प्रयोग विशेषरूप से नैतिक शिक्षाओं, कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों के लिए होता था। वारे में समझा जाता था कि वे वेद पर अवलंबित हैं। इस तरह सभी लोग, जो वेदों को आमतौर पर प्रमाण मानते थे, वैदिक

सभी प्राचीन हिंदुस्तानी मतों के लिए—और इनमें बुद्धमत और जैनमत भी शामिल हैं—‘सनातन धर्म’ यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इसपर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलों ने एकाधिकार कर रखा है, जिनका दावा है कि वे इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्धधर्म और जैनधर्म निश्चय ही हिंदूधर्म नहीं है और न वैदिक धर्म ही हैं। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई और यह हिंदुस्तानी जीवन, संस्कृति और दर्शन के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी, हिंदुस्तानी विचारधारा और संस्कृति की सी प्रतिशत उपज हैं फिर भी इनमें से कोई भी मत के खयाल से हिंदू नहीं है।

हिंदूधर्म जहां तक कि वह एक मत है, स्पष्ट है, इसकी कोई निश्चित रूपरेखा नहीं। इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप में कह सकना कि साधारण अर्थ में यह एक मत है, कठिन है। अपने वर्तमान रूप में, बल्कि बीते हुए काल में भी इसके भीतर बहुत से विश्वास और कर्मकाण्ड आ मिले हैं, ऊंचे से ऊंचे और गिरे से गिरे, और प्रायः इनमें आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पड़ती है कि अपने को जीवित रखो और दूसरे को भी जीने दो। महात्मा गांधी ने इसकी परिभाषा देने का प्रयत्न किया है—“अगर मुझसे हिंदूमत की परिभाषा देने को कहा जाए तो मैं केवल यह कहूंगा कि ‘यह अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज है।’ आदमी चाहे ईश्वर में विश्वास न रखे। फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदूधर्म सत्य की अनथक खोज है—‘हिंदूधर्म सत्य को मानने वाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।’ गांधीजी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं, लेकिन बहुत-से प्रमुख लोग, जिनके हिंदू होने में कोई संदेह नहीं, यह कहते हैं कि अहिंसा—जसा उसे गांधी जी समझते हैं—हिंदूमत का आवश्यक अंग नहीं है। तो फिर हिंदूमत का अकेला सूचक चिह्न सत्य रह जाता है। स्पष्ट है यह कोई परिभाषा न हुई।

‘हिंदुस्तानी’ के लिए ठीक शब्द ‘हिंदी’ होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे संस्कृति के लिए, और चाहे अपनी भिन्न परम्पराओं के इतिहास के क्रम के लिए प्रयोग करें। यह शब्द हिंद से बना है जो हिंदुस्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए हिंद शब्द का

आम तौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशिया के मुल्कों में, ईरान और तुर्की में, ईराक, अफगानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहों में, हिंदुस्तान के लिए बराबर हिंद शब्द का प्रयोग किया जाता है और इन सभी जगहों में हिंदुस्तानी को 'हिंदी' कहते हैं। 'हिंदी' का धर्म से कोई संबंध नहीं और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से 'हिंदी' हैं जिस तरह कि एक हिंदूगत का मानने वाला। दुर्भाग्य से 'हिंदी' शब्द हिंदुस्तान में एक खास लिपि के लिए इस्तेमाल होने लगा है—यह भी संस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए—इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ में प्रयोग करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकल के विवाद खतम हो लें तो हम फिर इस शब्द का प्रयोग उसके मौलिक अर्थ में कर सकें और वह अधिक संतोषजनक होगा।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए हम 'हिंदी' या 'हिंदुस्तानी' जो शब्द भी प्रयोग करें, हम यह देखेंगे कि पुराने समय में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी संस्कृति और राष्ट्र के विकास का आधार, विशेषकर हिंदुस्तान का दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है। सी० ई० एम० जोड ने इसके बारे में लिखा है—“इसकी वजह जो कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तान की दुनिया को विशेष देन यह रही है कि उसने विचारों और कौमों के जुदा-जुदा तत्त्वों के समन्वय को और विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।”

४ : सबसे पुराने लेख : धर्मग्रंथ और पुराण

तिथ घाटी की सभ्यता की खोज से पहले यह खयाल किया जाता था कि हिंदुस्तानी संस्कृति के सबसे पुराने प्रमाण-लेख जो हमें मिले हैं, वे वेद हैं। वेदों के काल-निर्णय के बारे में बड़ा मतभेद रहा है, यूरोपीय विद्वान इसे इधर खींचते रहे हैं और हिंदुस्तानी विद्वान और पीछे ले जाते रहे हैं। यह एक विचित्र बात है कि अपनी पुरानी संस्कृति को महत्त्व देने के लिए हिंदुस्तानी उसे अधिक से अधिक पुरानी प्रमाणित करने के प्रयत्न में रहे हैं। प्रोफेसर विटरनीज का खयाल है कि वैदिक साहित्य का आरंभ ईसा से २००० बल्कि २५०० वर्ष पहले होता है। यह हमें मोहनजोदड़ो के समय के बहुत निकट पहुंचा देता है।

आज के अधिकतर विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के संबंध में जो प्रमाण माने हैं वे उसे ईसा से १५०० वर्ष पुराना बताते हैं, लेकिन मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद इन धर्मग्रंथों को और पुराना प्रमाणित करने की तरफ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो, यह संभावित है कि यूनान या इसराइल के इतिहास से पुराना है और सच बात तो यह है कि मनुष्य-मात्र के मस्तिष्क की सबसे पुरानी कृतियों में है। मैक्समूलर ने कहा है कि “आर्य जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया यह पहला शब्द है।”

वेद आर्यों के उस समय के भावोद्गार हैं जबकि वे हिंदुस्तान की हरी-भरी भूमि पर आए। वे अपने कुल के विचारों को अपने साथ लाए, उस कुल के जिसने ईरान में ‘अवेस्ता’ की रचना की, और हिंदुस्तान की धरती पर उन्होंने अपने विचारों को विस्तार दिया। वेदों की भाषा भी अवेस्ता की भाषा से अदभुत रूप में मिलती-जुलती है, और यह बताया गया है कि वेद अवेस्ता के जितने निकट हैं, उतने स्वयं इस देश के महाकाव्यों की संस्कृत के निकट नहीं हैं।

मैंने धार्मिक किताबों के पढ़ने में हमेशा संकोच किया है। उनके बारे में, जो इस तरह के दावे किए जाते हैं कि इनमें अंतिम बातें लिख दी गई हैं, मुझे पसंद नहीं आते। इन धर्मों का लोग जैसा आचरण करते हैं, इसके बारे में जो ऊपरी प्रमाण मेरे सामने आए हैं उन्होंने मुझे उनके मूल तक पहुंचने का उत्साह नहीं दिलाया है फिर भी मुझे इन किताबों तक भटककर पहुंचना पड़ा है इसलिए कि अज्ञान स्वयं कोई गुण नहीं है और बहुधा एक कमी सिद्ध होता है। मैं मानता रहा हूं कि इनमें से कुछ ने मनुष्य पर गहरा प्रभाव डाला है और जिस वस्तु का ऐसा प्रभाव पड़ सकता है उसमें कोई भीतरी गुण और शक्ति, शक्ति का कोई जीवित स्रोत अवश्य है। उनके बहुत-से अंशों को पढ़ने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई है, क्योंकि बार-बार प्रयत्न करने पर भी मैं अपने में काफी दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका हूं; साथ ही ऐसे टुकड़े भी मिले हैं जिनकी निपट सुंदरता ने मुझे मोह लिया है। और उस समय ऐसा हुआ है कि किसी वाक्य ने या वाक्य के एक अंश ने अचानक मुझमें विजली पैदा कर दी है और मुझे यह अनुभव हुआ है कि मेरे सामने सचमुच बहुत बड़ी चीज है। बुद्ध या महात्मा जैसे शब्द अपने गहरे अर्थ के साथ मुझपर प्रकाट हो गए हैं और मैं जान पड़ा है कि आज भी वे उसी तरह लागू हैं जिन्होंने २००० या उससे ज्यादा साल पहले लागू थे

देने वाली सचाई है, एक ऐसी टिकाऊ बात है जिसे देश और काल छ नहीं सकते। ऐसा ही खयाल मुझे सुकरात का हाल या चीनी दार्शनिकों की रचनाओं को पढ़कर हुआ है और उपनिषदों और भगवद् गीता को पढ़कर भी। मुझे अध्यात्म और कर्मकाण्ड की व्याख्या और बहुत-सी और बातों में, जिनका उन मसलों से कोई संबंध नहीं जो मेरे सामने हैं, रुचि नहीं रही है। मैं इन पुस्तकों को, या किन्हीं पुस्तकों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सका हूँ। मुझे इस बात में हमेशा अधिक सम्मान और भव्यता जान पड़ी है कि एक मनुष्य मस्तिष्क और आत्मा की ऊंचाई पर पहुँचे और दूसरों को भी उठाने का प्रयत्न करे न कि इसमें कि वह किसी बड़ी शक्ति या ईश्वर की तरफ से बोलने वाला बने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गए हैं—लेकिन अगर उनकी कल्पना मनुष्यों के रूप में न कहें तो उनकी सारी शक्ति मेरी दृष्टि में जाती रहती है।

पुराणों की गाथाओं का भी मुझपर कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं, तो बिल्कुल बेतुकी और हंसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाए तो वे एक नये ही प्रकाश में दिखाई पड़ने हैं, उनमें एक नया सौंदर्य जान पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि ऊंची कल्पना ने अचरज-भरे फूल खिलाए हैं और इनमें मनुष्य के शिक्षा लेने की बहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देवताओं की कल्पना में अब कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए बिना किसी कठिनाई उनकी प्रशंसा कर सकते हैं। वे हमारी मानसिक विरासत बन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें विश्वास करना पड़े, तो कितना बोल आ पड़ेगा, और विश्वास के इस बोझ से दबकर अक्सर उनका सौंदर्य नष्ट हो देगा। हिन्दुस्तान की पुराण-गाथा अधिक और भारी-भरारी हैं, और बड़ी ही सुंदर और अर्थ-भर

५ : वेद

बहुत-से हिंदू वेदों को श्रुतिग्रंथ मानते हैं। यह मुझे से एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है, क्योंकि इस तरह सच्चे महत्त्व को छो बैठते हैं। वह यह है कि विचार और व्यवस्था में, मनुष्य के मस्तिष्क ने अपने को किस रूप में प्रकट किया और वह कैसा अद्भुत मस्तिष्क था। वेद शब्द की व्याख्या

धातु से है, जिसका अर्थ जानना है, और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उसमें बहुत-सी चीजें मिली-जुली हैं ! स्तुतियां हैं, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधियां हैं, जादू-टोना है और बड़ी ऊंची प्रकृति-संबंधी कविता है। उनमें मूर्तिपूजा नहीं है, देव-ताओं के मंदिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी शक्ति और जिंदगी के लिए उत्साह उनमें समाया हुआ है, वह असाधारण है। आरंभ के वैदिक आर्य लोगों में जीवन के लिए इतनी उमंग थी कि वे आत्मा के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट ढंग से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

पहला वेद, ऋग्वेद, शायद मनुष्य-मात्र की पहली पुस्तक है। इसमें हमें मानवीय मस्तिष्क के सबसे पहले उद्गार मिलते हैं, काव्य की छटा मिलती है, और मिलती है प्रकृति की सुंदरता और रहस्यमय आनंद की भावना।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन ऋचाओं के बारे में कहा है—“जीवन के अचरज और भय की तरफ, एक जन-समाज की मिली-जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरंभ में ही एक जोरदार और अछूती कल्पना वाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होंने हर एक तत्त्व में, प्रकृति की हर एक शक्ति में देवत्व देखा। उनका जीवन आनंदमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनकी जिंदगी में एक टोना पैदा कर दिया था। मन में एक जातिगत विश्वास था जिसपर विश्व की द्वंद्वमयी विविधता के चितवन का बोझ नहीं पड़ा था, यद्यपि उसपर जब-तब सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में पड़ा था कि सत्य एक है, (यद्यपि) विप्र उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।”

लेकिन चितवन की यह भावना धीरे-धीरे आती गई, यहां तक कि वेद का रचयिता यही पुकार उठा कि, “हे धर्म, हमें विश्वास प्रदान करो।”

६ : जिंदगी से इकरार और इन्कार

ऋग्वेद की ऋचाओं के समय से हम जीवन और विचार की दोनों धाराओं का विकास बराबर देखते हैं। आरंभ की ऋचाओं में बाहरी दुनिया की बातें भरी पड़ी हैं, प्रकृति की सुंदरता और रहस्य और जीवन के आनंद का वर्णन है और जीवन-बल भरपूर है।

है। इसके बाद विचार आता है और खोज की जाती है। इस लोक से परे जो लोक है, उसका रहस्य गहराई पकड़ता है और दूसरी जो उससे बच निकलना चाहती है—साथ ही विकसित होती है; हां, भिन्न समयों में कभी एक और कभी दूसरे पर अधिक बल दिया गया है। फिर भी इस संस्कृति की पृष्ठ में पारलौकिक या इस संसार को हेच समझने वाली नहीं थी। उस समय भी, जबकि दर्शन की भाषा, में इस विषय पर बहस होती थी कि संसार माया है, यह विचार कोई अंतिम विचार न था। हम देखते हैं कि कोई हिन्दुस्तान में, हर काल में जबकि उसकी संस्कृति ने फूल खिलाए हैं, लोगों ने जीवन और प्रकृति में गहरा रस लिया है, जीने की क्रिया में ही उन्होंने आनन्द का अनुभव किया है, साहित्य, संगीत और कला का विकास हुआ है, गाने-नाचने, चित्र-कला और नाटकों में उनकी रचि नहीं है; यहां तक कि यौन संबंधों के बारे में बड़ी पेचीदा किस्म की छानबीन हुई है। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि एक ऐसी संस्कृति या जीवन का ऐसा दृष्टिकोण जिसकी बुनियाद में पारलौकिकता हो या जो जीवन को हेच समझता हो, इस तरह के विविध और प्रबल विकास का प्रवर्तक होगा। फिर भी कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दुस्तानी विचार और संस्कृति, जीवन से इन्कार करने के सिद्धांत के सूचक हैं, जीवन को स्वीकार करने के सिद्धांत के नहीं। मेरा विचार है कि दोनों ही सिद्धांत, कमोबेश, सभी पुरानी संस्कृतियों और पुराने धर्मों में मौजूद हैं; लेकिन मैं तो इस परिणाम पर पहुंचूंगा कि सब कुछ देखते हुए हिन्दुस्तानी संस्कृति ने जिदगी से इन्कार करने पर कभी जोर नहीं दिया है, यद्यपि यहां के कुछ दर्शनों ने ऐसा अवश्य किया है। बर्तमान ईसाई धर्म के मुकाबले में इसने जीवन से जो इन्कार किया है, बहुत कम है। बौद्धधर्म और जैनधर्म ने अवश्य जीवन से अलग र पर कुछ जोर दिया है और हिन्दुस्तान के इतिहास के कुछ कालों एक बड़े पैमाने पर जीवन से दूर रहने की प्रवृत्ति रही है। उदाहरण के लिए उस समय, जबकि बहुत अधिक संख्या में लोग विहारों या मठों में सम्मिलित हुए। इसका क्या कारण मैं नहीं जानता। इसी तरह की, बल्कि इससे भी बड़ी हुई नि हमें यूरोप के मध्य काल में मिल सकती हैं, जबकि इस तरह विश्वास फैला हुआ था कि दुनिया का अंत होने वाला है।

त्याग और जीवन से इन्कार करने के विचार लोगों में उस समय पैदा होते हैं जबकि राजनैतिक या आर्थिक दिवशता का उन्हें सामना करना पड़ता है ।

बौद्धधर्म बीच के रास्ते के सिद्धांत को मानने वाला है । यहां तब कि 'निर्वाण' के बारे में जो ख्याल है, वह भी ऐसा नहीं कि उसे एक तरह की शून्यता समझे, जैसाकि कभी-कभी समझा जाता है । यह एक निश्चित स्थिति है, लेकिन चूंकि यह मनुष्य के विचारों से परे की वस्तु है, इसलिए इसके वर्णन में नकारात्मक शब्द प्रयोग किए गए हैं । अगर बौद्धधर्म, जो हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति की उपज का एक नमूना है, एक नकारात्मक या जिदगी से इंकार करने वाला सिद्धान्त होता तो अवश्य ही उसका इस तरह का प्रभाव उन करोड़ों लोगों पर पड़ा होता, जो उसके मानने वाले हैं । लेकिन, वास्तव में, बौद्धधर्म वाले देशों में हमें इसके विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं, और चीनी लोग इस बात की जीती-जागती मिसाल हैं कि जीवन को स्वीकार करना किसे कहते हैं ।

७: समन्वय व समझौता: वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

आर्यों के हिंदुस्तान में आने ने नये प्रश्न खड़े किए, जो राष्ट्रीय और राजनीतिक, दोनों ही थे । हारी हुई जाति, यानी द्रविड़ों के पीछे सभ्यता की एक लंबी पृष्ठभूमि थी, लेकिन इसमें ज़रा भी शक नहीं कि आर्य लोग अपने को उनसे बहुत ही ऊंचा समझते थे और दोनों के बीच एक चौड़ी खाई थी । फिर कुछ पिछड़ी हुई आदिम जातियां भी थीं, जो या तो जंगलों में रहा करती थीं या खानाबदोश थीं । जातियों को इस कशमकश और आपस की प्रतिक्रिया से ही वर्ण-व्यवस्था का आरंभ हुआ और बाद की सदियों में इसने हिंदुस्तानियों के जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला । शायद यह न आर्यों की चीज थी, न द्रविड़ों की । यह अलग-अलग जातियों को एक सामाजिक संगठन के अंदर ले आने की कोशिश थी—उस समय की जो भी स्थिति थी, उसे एक संगत रूप देने का प्रयास था । बाद में इसकी वजह से बड़ी पस्ती आई और आज भी यह एक बोझ और शाप के रूप में मौजूद है । लेकिन बाद की कसौटियों और विकास के आधार पर इसके बारे में निर्णय करना उचित न होगा ।

जाति या वर्ण का आरंभ आर्यों और द्रविड़ों के भेद से हुआ ।

अनाथों में भी दो भेद थे—एक तो द्रविड़ जातियां थीं; दूसरे यहां की आदिम जातियां थीं। आरंभ में आर्यों में केवल एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बंटवारा रहा हो। 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से होती है जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है। और सभी आर्य खेति-हर थे। खेती एक सम्मानित धंधा समझा जाता था। धरती के जोतने वाले पुरोहित, सिपाही, व्यापारी, सभी होते, और पुरोहितों को कोई विशेष अधिकार नहीं हासिल थे। वर्ण-भेद, जिसका उद्देश्य आर्यों को अनाथों से अलग करना था, अब अपना यह प्रभाव लाया कि स्वयं आर्यों में, ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बंटवारा हुआ, त्यों-त्यों नये वर्गों ने वर्ण या जाति का रूप ले लिया।

इस तरह, ऐसे काल में जबकि विजेताओं का यह नियम था कि हारे हुए लोगों को या तो दास बना लेते, या उन्हें बिल्कुल मिटा देते थे, वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिपूर्ण हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बंटवारे की आवश्यकता ने इसमें मदद पहुंचाई। समाज में दर्जे स्थापित हो गए—किसान जनता में से वैश्य बने जिनमें किसान, कारीगर और व्यापारी लोग थे; क्षत्रिय वे हुए, जो शासन करते थे या युद्ध करते थे; ब्राह्मण वे बने, जो पुरोहिता करते थे, विचारक वे थे, जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह आशा की जाती थी कि वह जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों के नीचे शूद्र थे जो मजदूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे जिनमें विशेष जानकारी की आवश्यकता नहीं होती और जो किसानों से अलग थे। आदिम निवासियों में से भी बहुत-से इस समाज में मिला लिए गए और उन्हें शूद्रों के साथ इस सामाजिक व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में अदला-बदली होती रही और सत्ता के साथ तो भेदवाद में स्थापित हुए। शायद शासन करने वाले वर्ण को हमेशा बड़ी स्वतंत्रता रही, और कोई भी व्यक्ति, जो लड़कर या दूसरी तरह शक्ति अपने हाथ में कर लेता था, वह यदि चाहे तो क्षत्रियों में सम्मिलित हो सकता था और पुरोहितों द्वारा अपनी वंशावली तैयार करा सकता था, जिसमें कि उसका संबंध किसी प्राचीन आर्य शूरवीर से दिखा दिया जाता।

आर्य शब्द का धीरे-धीरे कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके अर्थ 'कुलीन' के हो गए। इसी तरह अनाथ के अर्थ यह हुए कि जो कुलीन न हो, और यह शब्द आमतौर पर जंगल में रहने वाले और छानाबंदी जातियों के लिए प्रयोग में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत बुद्धि रही है और इसने न केवल विचारों, बल्कि जीवन के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में बांटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार मुख्य हिस्सों में बांटा ही, वैयक्तिक जीवन का भी इसने चार टुकड़ों या अवस्थाओं में बांटवारा किया है—पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जबकि आदमी बढ़कर युवा होता है, विद्या सीखता है, ज्ञान हासिल करता है और आत्मसंयम का अभ्यास करता है; दूसरी अवस्था गृहस्थ की है, जबकि वह दुनियादारी में लगता है; तीसरी अवस्था वड़े-बूढ़े व्यवहारकुशल वानप्रस्थ की है, जिसमें कि उसने तटस्थता और सम-तोल प्राप्त कर लिया है और अपने को समाज-सेवा के कामों में, बिना निजी लाभ की इच्छा के, वह लगा सकता है। अंतिम अवस्था संन्यास की है, जिसमें वह दुनिया से बिल्कुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के धंधों को छोड़ देता है। इस तरह से आर्यों ने, आदमी में साथ-साथ रहने वाली दो विरोधी प्रवृत्तियों में भी समझौता कायम किया—अर्थात् उस प्रवृत्ति में, जो जीवन के प्रति प्रवृत्त होती है और उसमें जो निवृत्त के उन्मुख है।

हिंदुस्तान में, ब्राह्मण वर्ग ने, विचारकों और दार्शनिकों को उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्वयं शक्ति प्राप्त कर ली थी, इस तरह अपने को सुरक्षित करके पुरोहितों ने अपने निहित स्वार्थों की रक्षा करने की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धांत भिन्न-भिन्न रूप में हिंदुस्तानी जीवन पर गहरा प्रभाव डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान और दयावान, भले और संयमी, और दूसरों के लिए आत्मत्याग करने वालों का आदर किया जाए। ब्राह्मण वर्ग में, अतीत काल में अधिकारी-वर्ग की सभी घुराइयां रही हैं और इसमें से बहुतेरे न योग्य हुए हैं, न भले। फिर भी आम लोगों में उनका आदर बना रहा है, इसलिए नहीं कि उनके पास धन इकट्ठा हो गया था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी बहुत-से योग्य लोगों को उत्पन्न किया था, जिन्होंने अपने त्याग द्वारा जनता की और समाज की सेवाएं की थीं। अपने विशेष लोगों के कारनामों से पूरे वर्ग ने हर युग में लाभ उठाया है, लेकिन जनता ने आदर किया है गुणों का, न कि पदों का; बहुत-से उदाहरण हैं इस बात के, कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त लोगों का—यहां तक कि दलित वर्ग के लोगों का इतना आदर हुआ है कि उन्हें संतों का पद तक दिया गया है।

आज भी, इस पैसे के युग में, इस परंपरा का प्रभाव स्पष्ट दिखता देता है, और इसीकी वजह से गांधीजी (जो ब्राह्मण नहीं)

हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता बन गए हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के जोर के, आज करोड़ों दिलों पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है कि किस तरह के नेता को वह स्वीकार करती है। पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता, या भारतीय आर्य-संस्कृति में धर्म का विचार एक केन्द्रीय विचार था। और धर्म के अर्थ मत या मजहब से कुछ अधिक थे। इसमें दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य के पालन का भी विचार रहा है।

८ : हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट क्रम

इस तरह आरंभ के दिनों में हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का उदय देखते हैं, जो बाद के युगों में बहुत फूली-फली और पनपी और जो अनेक परिवर्तनों के उपस्थित होने पर भी बनी रही। बुनियादी आदर्श और मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और दर्शन, कला और नाटक और जीवन के और घंघे इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभावित होते हैं, जो बाद में उगकर बढ़ते ही रहे और प्राजकाल की वर्ण-व्यवस्था के रूप में उन्होंने सारे समाज और सभी चीजों को जकड़ लिया। यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें सम-तोल पैदा करना था, लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और मानवी मस्तिष्क के लिए बंदीघर बन गई। अंत में उन्नति का मूल्य चुकाकर संरक्षा खरीदी गई।

फिर भी बहुत दिनों तक यह व्यवस्था बनी रही, और सभी दिशाओं में उन्नति करने की प्रेरणा इतनी प्रबल थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान में और पूर्वी समुद्रों तक फैली और इसकी पायदारी ऐसी थी कि यह आक्रमणों के धक्के बार-बार सहकर भी जीवित रही। यह तीन-चार हजार वर्षों का, संस्कृति का विकास और अटूट क्रम एक अद्भुत बात है। प्रसिद्ध विद्वान और प्राच्यविद् मैक्समूलर ने इसपर जोर दिया है और लिखा है—“वास्तव में हिंदू विचार के सबसे हाल के और सबसे पुराने रूपों में एक अटूट क्रम मिलता है और यह तीन हजार साल से अधिक समय तक बना रहा है।” बहुत जोश के साथ उन्होंने (१८८२ में) कहा था—“अगर हम सारे संसार की खोज करें—ऐसे देश का पता लगाने के लिए, जिसे

कि प्रकृति ने सबसे संपन्न, शक्तिशाली और सुंदर बनाया है—जो कुछ हिस्सों में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूंगा । अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले मनुष्य के मस्तिष्क ने अपने कुछ सबसे चुने हुए गुणों का विकास किया है, जीवन के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सबसे अधिक गहराई के साथ सोच-विचार किया है, और उनमें से कुछ के ऐसे हल प्राप्त किए हैं, जिनपर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए जिन्होंने कि अफलातून और कांट को पढ़ा है—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूंगा । और अगर मैं अपने से पूछूं कि कौन-सा ऐसा साहित्य है जिससे हम यूरोप वाले, जो बहुत कुछ केवल यूनानियों और रोमनों और एक सेमेटिक जाति के, यानी यहूदियों के, विचारों के साथ-साथ पले हैं, वह सुधार प्राप्त कर सकते हैं जिसकी कि हमें अपने जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत और अधिक व्यापक बनाने के लिए आवश्यकता है—न केवल इस जीवन की दृष्टि से, बल्कि एक एकदम बदले हुए और सदा बने रहने वाले जीवन की दृष्टि से—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूंगा ।”

लगभग आधी सदी बाद, रोम्यां रोलॉ ने उसी स्वर में लिखा है—“अगर संसार की सतह पर कोई एक देश है जहां कि जीवित लोगों के सभी स्वप्नों को, उस प्राचीन काल से स्थान मिला है जवसे कि मनुष्य ने अस्तित्व का स्वप्न आरंभ किया, तो वह हिंदुस्तान है ।”

६ : उपनिषद्

उपनिषद्, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले से लेकर है हमें भारतीय आर्यों के विचार के विकास में एक पग आगे ले जाते हैं और यह बड़ा लंबा पग है । आर्य लोगों को बसे हुए अब काफी समय बीत चुका है और एक पायदार और सुसंपन्न सभ्यता, जिसमें पुराने और नये का मेल हो चुका है, बन गई है । इसमें आर्यों के विचार और आदर्श प्रभाव रखते हैं, लेकिन इनकी पृष्ठभूमि में पूजा के जो रूप हैं, वे भी पहले के तथा आदिम हैं । वेदों का नाम आदर से लेकिन, एक भी व्यंग के भाव से लिया जाता है । वैदिक देवताओं से अब संतोष नहीं र जाता और पुरोहितों के कर्मकांड की हंसी उड़ाई जाती है । लेकिन अतीत से नाता तोड़ लेने का प्रयास नहीं होता ; उसे वह स्थान समझ जाता है जहां से उन्नति की मंजिल आरंभ होती है ।

उपनिषद् छानवीन की, मानसिक साहस

साह की भावना से भरपूर हैं। यह सही है कि यह सत्य की खोज
 नक विज्ञान के प्रायोगिक ढंग से नहीं हुई है, फिर भी जो ढंग
 किया गया है उसमें वैज्ञानिकता का एक अंश है। हठवाद को दूर
 दिया गया है। उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो साधारण है और जिसका
 तबल हम लोगों के लिए कोई अर्थ या प्रसंग नहीं। विशेष बल
 मबोध या आत्मा और परमात्मा के ज्ञान पर दिया गया है और
 दोनों को मूल में एक ही बताया गया है। बाहरी दुनिया या वस्तु-
 ज्ञात को असत् नहीं बताया गया है, बल्कि सापेक्ष रूप में सत् और
 भीतरी सत्य का एक पहलू बताया गया है।

उपनिषदों में बहुत-सी अस्पष्ट बातें हैं और उनकी विविध टीकाएं
 हुई हैं। लेकिन यह दार्शनिकों और विद्वानों के जांच करने की चीज है।
 साधारण प्रवृत्ति अद्वैतवाद की ओर है और इस सारे दृष्टिकोण का
 प्रकट उद्देश्य यह ज्ञान पड़ता है कि उस काल के जो आपस के कड़े
 विवाद और भेदभाव रहे हैं, उन्हें कम किया जाए। यह समन्वय का
 रास्ता रहा है। जादू-टोने में दिलचस्पी को और इसी तरह दबी बातों
 के ज्ञान को बढ़ावा देने से रोका गया है, और बिना सच्चे ज्ञान के पूजा-
 पाठ और कर्मकांड को व्यर्थ बताया गया है। कहा गया है—“इनमें
 लगे हुए लोग, अपने को समझदार और विद्वान मानते हुए, इस तरह
 मटकते रहते हैं जैसे अंधे को अंधा रास्ता दिखा रहा हो, और यह
 अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते।” वेदों तक को नीचे दर्जे का ज्ञान
 माना गया है; भीतरी मन के प्रकाश को ऊंचा ज्ञान कहा है। बिना
 ॥५॥ के दार्शनिक ज्ञान के विरुद्ध सतर्क किया गया है। और समाज के
 बंधों और आत्मा-संबंधी बातों से सामंजस्य पैदा करने का बराबर
 प्रयत्न हुआ है। जीवन ने जो कर्तव्य ऊपर डाले हैं, उनका पालन होना
 ही चाहिए, लेकिन तटस्थता का भाव रखते हुए, ऐसा कहा गया है।
 व्यक्तिगत पूर्णता की नीति पर कदाचित् इतना अधिक जोर दि-
 गया कि सामाजिक दृष्टिकोण को धाति पहुंची। उपनिषदों में कहा ग-
 है कि “आत्मा से बढ़कर कोई वस्तु नहीं।” यह समझा गया होगा
 समाज में पायदारी आ गई है, इसलिए मनुष्य का भस्तिष्क व्यक्ति-
 पूर्णता का बराबर ध्यान किया करता था और इसकी खोज में
 आकाश और हृदय के अंतस्तम कोनों को छान डाला। यह पु-
 हिंदुस्तानी दृष्टिकोण कोई संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण न था, य-
 इस बात का अवश्य ध्यान रहा होगा कि हिंदुस्तान सारे संसा-
 केन्द्र है—उसी तरह जिन तरह कि चीन, यूनान और रोम ने

वारे में विभिन्न समयों में विचार किया है। महाभारत में कहा गया है—“यह सारा मर्त्यलोक एक अन्योन्याश्रित संगठन है।”

जिन प्रश्नों पर उपनिषदों में विचार किया गया है, उनके आधि-भौतिक पहलुओं को समझना मेरे लिए कठिन है, लेकिन इन प्रश्नों पर मनन करने का जो ढंग है, उसने मुझपर प्रभाव डाला है, क्योंकि यह हठवाद या अंधविश्वास का ढंग नहीं है। यह ढंग धार्मिक न होकर दार्शनिक है। विचारों के कस-बल को, जांच की भावना को, और तर्क की पृष्ठभूमि को मैं पसंद करता हूं। वर्णन के ढंग में कसाव है। यह प्रायः गुरु और चेले के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में मिलता है, और यह अनुमान किया गया है कि उपनिषद् व्याख्यानों की एक तरह के स्मृति-पत्र हैं, जिन्हें गुरु ने तैयार किया है या चेलों ने टांक लिया है। प्रोफेसर एफ० डब्ल्यू० टामस अपनी किताब ‘दि लीगेसी आव् इंडिया’ (हिंदुस्तान की देन) में कहते हैं—“उपनिषदों का जो विशेष गुण है और जिसके कारण से उनमें मानवी आकर्षण है, वह यह है कि उनके स्वर में बड़ी निष्कपटता है, वह इस तरह का है मानो मित्र आपस में किसी गहरे प्रश्न पर सोच-विचार कर रहे हैं।”

उपनिषदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सचाई पर बड़ा बल दिया गया है। “सचाई की सदा जीत होती है, झूठ की नहीं। सचाई के रास्ते से ही हम परमात्मा तक पहुंच सकते हैं।” और उपनिषदों में आई हुई यह प्रार्थना प्रसिद्ध है—“असत् से मुझे सत् की ओर ले चल ! अंधकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चल ! मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चल !”

हमें बार-बार एक वचन मस्तिष्क की झांकी मिलती है, ऐसे मस्तिष्क की, जो जिज्ञासा और छानबीन में लगा हुआ है। “किसकी आज्ञा से मन अपने विषय पर उतरता है ? किसकी आज्ञा से जीवन, जो सबसे पहली वस्तु है, आगे बढ़ता है ? किसकी आज्ञा से मनुष्य यह वचन कहते हैं ? किस देवता ने आंख और कान दिए हैं ?” और फिर, “वायु शांत क्यों नहीं रहती ? आदमी के मन को चैन क्यों नहीं मिलता ? क्यों और किसकी खोज में जल बहता रहता है और एक क्षण नहीं ठहरता ?” आदमी बराबर एक साहसपूर्ण यात्रा में लगा हुआ है, उसके लिए न कहीं दम लेना है और न उसकी यात्रा का अंत है। ऐतरेय ब्राह्मण में हमारी इस अनंत यात्रा के बारे में एक मंत्र है और इसके हर श्लोक के अंत में है, ‘चरंवेति’ ‘चरंवेति’—‘चलना-रहने यात्री चलते रहो, चलते रहो।’

इस खोज के बारे में कोई विनय की भावना नहीं है—वैसा विनय जैसा कि धर्मों में एक सर्वशक्तिमान परमात्मा के प्रति दिखाया जाता है। यहां हमें मन की परिस्थिति के ऊपर विजय मिलती है। “मेरा शरीर राख हो जाएगा और मेरी सांस इस चंचल और अमर वायु में मिल जाएगी, लेकिन मैं और मेरे कर्मों का यह अंत नहीं। हे मन, इस बात का सदा ध्यान रख !” सवेरे की एक प्रार्थना में सूर्य को इस तरह संबोधन किया गया है—हे दैदीप्यमान सूर्य, मैं वही पुरुष हूं जो तुझे ऐसा बनाता है !” कितना ऊंचा आत्मविश्वास है !

उपनिषदों में एक प्रश्न है जिसका बहुत अनोखा, लेकिन मार्क का उत्तर दिया गया है। प्रश्न है कि “यह विश्व क्या है ? यह कहां से उत्पन्न होता है और कहां जाता है ?” और उत्तर है,—“स्वतंत्रता से इसका जन्म है, स्वतंत्रता में ही वह टिका है और स्वतंत्रता में ही वह लय हो जाता है।” इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, मैं नहीं समझ सकता, सिवाय इसके कि उपनिषदों की रचना करने वालों में स्वतंत्रता के विचार के लिए बड़ा उत्साह था और वे सब कुछ उसीके पैराये में देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद इस पक्ष पर सदा बल दिया करते थे।

ब्लूमफील्ड का कहना है कि “विरोधी बौद्धमत को लिए-दिए, हूँ विचार का कोई ऐसा मुख्य रूप नहीं है जिसकी जड़ उपनिषदों में न हो।

“प्राचीन हिंदुस्तानी विचार ईरान के रास्ते यूनान तक पहुंचा था और इसने वहां के कुछ विचारकों और दार्शनिकों पर प्रभाव डाला था। बहुत बाद में, प्लॉटिनस ईरानी और हिंदुस्तानी दर्शन को पढ़ने के लिए पूरव में आया और ऊपर विशेषकर उपनिषदों के रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि इन विचारों में से बहुत-से प्लॉटिनस ने संत आगस्टाइन तक पहुंचे थे, और उसके द्वारा इन्होंने आज के ईसाई धर्म पर प्रभाव डाला है।”

पिछली डेढ़ सदी में हिंदुस्तानी दर्शन को जो यूरोप ने फिर न प्रोज निकाला, उसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के दार्शनिकों और विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सिलसिले में, निराशा-वादी शोपेनहार का कथन प्रायः उद्धृत किया जाता है: “(उपनिषदों में) हर एक शब्द से गहरे, मौलिक और ऊंचे विचार उठते हैं, और इन सबपर एक ऊंची, पवित्र और उत्सुक भावना छाई हुई है ... सारे संसार में कोई ऐसी रचना नहीं जिसका पढ़ना ... इतना उपयोगी, इतना ऊंचा उठाने वाला हो जितना कि उपनिषदों का ... (यह)

सबसे ऊँचे ज्ञान की उपज है... एक न एक दिन सारी दुनिया का इन पर विश्वास होकर रहेगा।" और फिर वह लिखता है: "उपनिषदों के पढ़ने से मेरे जीवन की शांति मिली है; यही मेरी मृत्यु के समय की सांत्वना बनेगा।" इसपर लिखते हुए मैक्समूलर कहते हैं "शोपेनहार कदापि ऐसा आदमी न था कि वहकी हुई बातें लिखता, या तथाकथित रहस्यवादी या अधकचरे विचारों पर बाह-बाह करने लगे। और यह कहते हुए न मुझे लज्जा या डर मालूम पड़ता है कि वेदांत के बारे में उसका जो उत्साह था, उसमें मैं शरीक हूँ और अपने जीवन में बहुत कुछ मुझे इससे मदद मिली है और मैं इसका ऋणी हूँ।"

एक दूसरी जगह मैक्समूलर लिखते हैं—"उपनिषद् वेदांत दर्शन का स्रोत है जिसमें कि मानवी चिंतन अपने शिखर पर पहुँच गया जान पड़ता है।" "मेरी सबसे आनंद की घड़ियाँ वेदांत की पुस्तकों के पढ़ने में बीतती हैं। मेरे लिए वह सवेरे के प्रकाश जैसी, पहाड़ों की स्वच्छ वायु जैसी हैं—एक बार समझ में आ जाने पर उनमें कितनी सादगी, कितनी सचाई मिलती है!"

लेकिन शायद उपनिषदों की और उसके बाद की पुस्तक भगवद्-गीता की मुक्तकंठ से जैसी तारीफ आइरिश कवि ए० ई० (जी० डब्ल्यू० रसेल) ने की है, वैसी दूसरे ने नहीं की—"इस काल के लोगों में, गेटे, वर्डस्वर्थ, इमर्सन और थोरो में यह ज्ञान और जीवन-शक्ति कुछ ग्रंथों में मिलेगी, लेकिन जो कुछ भी इन्होंने कहा है, और उससे बहुत अधिक हमें पूरव के महान और पवित्र ग्रंथों में मिलेगा। भगवद्गीता और उपनिषदों में, सभी बातों के बारे में, ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे लगता है कि उनके रचने वालों ने हजारों भाव-मरे पुराने जन्मों में पैठकर ही, उन जन्मों में जिनमें कि छाया के लिए और ऊँच के साथ संपर्क होता रहा है—इतने अधिकार के साथ उन बातों को लिखा है जिन्हें आत्मा निश्चिन्त समझती है।"

से उनके विचार मिलते रहे और यह अल्पसंख्या इस बड़ी संख्या को ऊपर उठाने और उसे बढ़ाने की कोशिश में लगी रहे, इस तरह कि दोनों के बीच की खाई कम हो जाए, तो एक पायदार और उन्नतिशील संस्कृति पैदा होती है ।

मेरे लिए, और अधिकतर औरों के लिए भी, उपनिषदों के जमाने की तस्वीर सामने लाना, और उस समय क्या-क्या शक्तियाँ काम कर रही थीं, इनकी जांच-पड़ताल करना, कठिन है । फिर भी मेरा विचार है कि मुट्ठी-भर विचारकों और आंग्र मूंदकर चलने वाली बहुत बड़ी जनता के बीच गहरे बौद्धिक और सांस्कृतिक भेद के बावजूद, उन दोनों के बीच एक लगाव था, कम से कम कोई दिखने वाली खाई नहीं थी । जिस तरह से उस वक्त के समाज में अलग-अलग दर्जे थे, उसी तरह मानसिक दर्जे भी थे और इन्हें स्वीकार कर लिया गया था और उसकी व्यवस्था भी कर दी गई थी । इससे समाज में कुछ मेल पैदा हो गया था और झगड़े-फिसाद से बचत हो गई थी । उपनिषदों के नये विचार को भी, ग्राम लोगों के लिए इस तरह से समझाया जाता था कि वह प्रचलित विचारों से, और श्रद्धाविश्वासों से मिल-जुल जाता था, और इस तरह वह अपने विशेष अर्थ को बहुत कुछ खो बैठता था । समाज में जो दर्जे कायम हो चुके थे, उन्हें नहीं छोड़ा जाता था । बल्कि उनकी रक्षा की जाती थी । अद्वैतवाद ने, धार्मिक विषयों में एकेश्वरवाद का रूप ले लिया था, और इससे भी नीचे स्तर के विश्वासों और पूजा के प्रकारों को न केवल गवारा किया जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक विशेष सीढ़ी के लिए ये उचित भी हैं ।

इस तरह उपनिषदों की विचारधारा, जनता में बहुत ज्यादा फैली नहीं और बंद विचारकों और ग्राम लोगों के बीच बौद्धिक भेद और भी स्पष्ट हो गया । समय पाकर इसने नये आंदोलन उत्पन्न किए । बड़वादी दर्शन की, बुद्धिवाद की और अनीश्वरवाद की प्रबल लहरें उठीं । और फिर इसके भीतर से बौद्धधर्म और जैनधर्म पैदा हुए, और 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य रचे गए, और इनमें एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी बातों और विचार के प्रकारों में समन्वय स्थापित हो । लोगों की सृजन-शक्ति, बल्कि सृजन-बुद्धि वाले थोड़े-से लोगों की सृजन-शक्ति, इन कालों में, बहुत साफ ढंग से सामने आती है, और फिर इन थोड़े-से लोगों में और बड़ी जनता के बीच एक लगाव स्थापित हो गया जान पड़ता है । जो मिलाकर, दोनों मिल-जुलकर आगे बढ़ते हैं ।

इस तरह से, एक-एक करके कई जमाने आते हैं जबकि विचारों और कार्य के क्षेत्र में, साहित्य में, नाटक में, मूर्तिकला और वास्तु कला में, और हिंदुस्तान की सीमा से दूर संस्कृति, धर्म और उपनिवेशों के फैलाने के साहसी कामों में, रचनात्मक प्रयास फूट पड़ते हैं। इन कालों में झगड़े-फिसाद के समय आते हैं और इनके कारण कुछ भीतरी बातें होती हैं और कुछ बाहर से होने वाली छेड़-छाड़ भी। लेकिन अंत में यह स्थिति वश में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का जमाना फिर लौटता है। ऐसा अंतिम समय, जिसमें कि बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार समय था जो ईसा से बाद की चौथी सदी में शुरू हुआ। ईसा के १००० साल बाद तक, या पहले ही, हिंदुस्तान में भीतरी ह्रास के चिह्न प्रकट हो जाते हैं, यद्यपि पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है और बहुत सुंदर चीजें तैयार होती रहती हैं। नई जातियां आती हैं, जिनकी भूमिका दूसरी ही होती है, और यह हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग के लिए एक नया शोक ले आती है, और इस टक्कर का नतीजा यह भी होता है कि नये मसले उठते हैं और उनके हल के उपाय किए जाते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय आयों के गहरे व्यक्तिवाद ने, अंत में अच्छे और बुरे, दोनों ही परिणाम दिखाए, जो उनकी संस्कृति से उपजे। इसने बहुत ऊंचे टप्पे के लोग पैदा किए, और यह बात इतिहास के किसी एक विशेष समय तक सीमित न रही, बल्कि हर एक युग में और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी संस्कृति को एक आदर्शवादी और नैतिक पृष्ठभूमि दी, जो बनी रही और अभी बनी हुई है—चाहे हमारे व्यवहार पर अधिक प्रभाव न डाल रही हो। इस पृष्ठभूमि की मदद से, और ऊंचे लोगों के उदाहरणों के बल पर, उन्होंने समाज की बनावट को स्थिर रखा, और जब-जब उसके टूटने का भय हुआ, तब-तब उसे संभाला। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के अचरज पैदा करने वाले फल खिलाए, और यद्यपि वे ऊंचे दायरों तक सीमित थे, फिर भी, हाँ न हो, वे कुछ हद तक जनता में भी फैले। दूसरे मतों और रास्तों के लिए हृदय की स्वादारी दिखाकर वे उन झगड़ों को बचाते रहे, जिन्होंने अक्सर समाज को टूक-टूक कर डाला है, और इस तरह, उन्होंने बराबर किसी न किसी तरह का सम-ताल बनाए रखा। एक बड़े संगठन के भीतर, लोगों को अपने पसंद की जिंदगी बसर करने की स्वतंत्रता देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुबेकार जाति के लोगों की बुद्धिमान्ता दिखाई है। ये सभी कारनामे बड़े मारके के रहे हैं।

परन्तु इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि मनुष्य के सामाजिक
 पर और समाज के प्रति मनुष्य के कर्तव्य पर कम ध्यान दिया
 लगा। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन बंट और बंध गया था और दर्जों
 हुए समाज में अपने तंग दायरे के अंदर वह कर्तव्यों और दायित्वों
 एक गठरी बनकर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना
 न इस समाज के प्रति उसका कोई कर्तव्य शेष रहा था, और इस
 की कोई कोशिश न की गई कि वह समाज से अपना बल प्राप्त करे।
 एक और अजीब बात सामने आती है। सभी तरह के विश्वासों
 व्यवहारों, अंधविश्वासों और मूर्खताओं के प्रति जो रवादार
 खाई गई थी, उसके हानिकारक पहलू भी थे, क्योंकि इसने बहुत-से
 री रस्मों को जड़ पकड़ लेने दी और परंपरा के उस बोझ को उखाड़कर
 निकले से रोका, जो हमारी वाढ़ को रोक रहा था। पुरोहितों के
 बढ़ते हुए दल ने इस हालत से अपना अलग ही फायदा उठाया और
 आम लोगों के अंधविश्वास की नींव पर अपने स्वार्थों के गढ़
 बना लिए।

११ : पदार्थवाद

हमारे बड़े दुर्भाग्यों में एक यह है कि हम यूनान में, हिंदुस्तान
 में, और सभी जगह, दुनिया के पुराने साहित्य का एक बड़ा हिस्सा
 खो बैठे हैं। शायद यह होना ही था, क्योंकि आरंभ में पुस्तकें ताड़पत्र
 पर या भोजपत्र पर लिखी जाती थीं और इनके छिलके बहुत आसानी
 से उचड़ जाते हैं, और कागज पर लिखने की प्रथा बाद में शुरू हुई
 किसी भी पुस्तक की चंद प्रतियों से अधिक न होतीं, और अगर
 नष्ट हो जातीं, तो वह रचना ही गुम हो जाती, और उसका पता
 केवल उन हवालों या उद्धरणों से मिलता, जो उनके बारे में
 पुस्तकों में होते। फिर भी पचास-साठ हजार संस्कृत की हाय की लि
 पुस्तकों या उनके रूपांतरों का पता लग चुका है और उनकी सूची
 चुकी है, और नये-नये ग्रंथ बराबर मिलते जा रहे हैं। हिंदुस्तान
 बहुत-सी पुरानी पुस्तकें अब तक हिंदुस्तान में मिली ही नहीं हैं, लेकिन
 उनके अनुवाद चीनी या तिब्बती भाषा में मिले हैं। हाय की लि
 पुरानी पुस्तकों की धार्मिक संस्थाओं के भंडारों में, मठों में और
 ग्रंथों में अगर संगठित रूप में खोज की जाए, तो शायद बहुत
 परिणाम निकले।

उन पुस्तकों में, जो विलकुल खो गई हैं, पदार्थवाद का पूरा साहित्य है, जो शुरू के उपनिषदों के जमाने से ठीक बाद रचा गया था। इस साहित्य के जो हवाले अब मिलते हैं, वे केवल उन पुस्तकों में हैं जिनमें कि उनपर टीका-टिप्पणी की गई है और जिनमें पदार्थवादी सिद्धांतों के खंडन के लंबे प्रयत्न हैं। इसमें तो कोई शक ही नहीं है कि पदार्थवादी दर्शन का हिंदुस्तान में सदियों तक चलन रहा है, और अपने समय में इसका लोगों पर गहरा असर रहा है। ईसा से पहले की चौथी सदी में राजनैतिक और आर्थिक संगठन के बारे में कीटिल्य की जो प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' है उसमें इसकी चर्चा हिंदुस्तान के विशिष्ट दर्शनों में की गई है।

इसलिए इस दर्शन के बारे में जानने के लिए हमें उन आलोचकों और व्यक्तियों पर भरोसा करना पड़ता है जिनकी रुचि इसे गिराने में रही है, फिर भी इसके खंडन में जो उत्साह और जोश इन आलोचकों ने दिखाया है, उसीसे पता चलता है कि उन लोगों की दृष्टि में इसका कितना महत्व था। संभव जान पड़ता था कि पदार्थवाद के साहित्य का अधिक अंश, बाद के कालों में, पुरोहितों ने या कट्टर धर्मावलंबियों ने नष्ट कर दिया हो।

पदार्थवादियों ने विचार, धर्म और अध्यात्म में, प्रमाण का और सभी निहित स्वार्थों का विरोध किया। उन्होंने वेदों की, पुरोहिताई की, परंपरा से आए हुए विश्वासों की, निंदा की और यह घोषित किया कि विश्वास स्वतंत्र होना चाहिए और उसे पहले से मान ली गई बातों या केवल पुराने जमाने के प्रमाण का भरोसा न कर लेना चाहिए। सभी तरह के मंत्र-तंत्र और अंधविश्वास की उन्होंने बुराई की। उनका आम रवैया बहुत कुछ आज के पदार्थवादियों जैसा था, ये अपने को बीते हुए जमाने की जंजीरों और बोझ से, जो चीजें नहीं दिखाई देती, उनकी कल्पना से, और खयाली देवताओं की पूजा से मुक्त करना चाहते थे। केवल उसका अस्तित्व तो माना जा सकता था जिसे कि सीधे-सीधे देखा जा सके, इसके अलावा और सभी अनुमानों के सच होने की उतनी ही संभावना थी जितनी कि झूठ होने की। इसलिए अपने विभिन्न रूपों में पदार्थ के, और दुनिया के ही अस्तित्व को माना जा सकता था। मन और बुद्धि और सभी चीजें इन्हीं दुनियादी तत्वों से बनी हैं। प्रकृति के व्यापार आदमी के द्वारा स्थापित मूल्यों की परवाह नहीं करते, और अच्छे या बुरे से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। नैतिक मान मनुष्य द्वारा स्थापित रुढ़ि मान

इन सब विचारों को हम समझते हैं; ये दो हजार वर्ष पुराने नहीं, बल्कि कुछ विचित्र रूप से हमारे जमाने के विचार जान पड़ते हैं। इस तरह के तर्क-वितर्क, ऐसा संघर्ष, मानवी मस्तिष्क की परंपरा के विरुद्ध यह विद्रोह आखिर आया कहाँ से? हम उस काल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति ठीक तौर पर नहीं जानते, लेकिन यह बात अच्छी तरह प्रकट है कि यह जमाना राजनैतिक संघर्ष और समाजी उथल-पुथल का रहा है, जिसका नतीजा यह हुआ कि धर्म से विश्वास उठ गया है और लोग दिमागी जांच-पड़ताल में लगे हैं और खोज किसी ऐसे रास्ते की हुई है, जिससे मन को संतोष मिले। इसी दिमागी उथल-पुथल और समाजी अवतरो से नये रास्ते निकले हैं और नये दर्शनों ने रूप ग्रहण किए हैं। उपनिषदों के सहज ज्ञान से भिन्न, व्यवस्थित दर्शनों का दिखाई पड़ना शुरू होता है, और यह अनेक रूपों में जैन, बौद्ध और जिसे हम दूसरे शब्द के अभाव से हिंदू कहेंगे—सामने आते हैं। इसी जमाने के महाकाव्य हैं और भगवद्गीता भी इसी काल की वस्तु है।

१२: महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और आख्यायिकाएं

प्राचीन हिंदुस्तान के दो बड़े महाकाव्य—रामायण और महाभारत—शायद कई सदियों में तैयार हुए, और बाद में भी उनमें नये टुकड़े जोड़े जाते रहे। उनमें भारतीय आयों के आरंभ के दिनों का हाल है—उनकी विजयों का, उनकी आपस की उस समय की लड़ाइयों का जबकि वे फैल रहे थे और अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे—लेकिन इन महाकाव्यों की रचना और संग्रह बाद की बातें हैं। मैं कहीं किसी ऐसे ग्रंथ को नहीं जानता, जिसने आम जनता के मस्तिष्क पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो, जितना कि इन दो ग्रंथों ने डाला है। इतने प्राचीन काल में तैयार किए गए होते हुए भी, वे हिंदुस्तानियों के जीवन में आज भी अपना जीता-जागता प्रभाव रखते हैं। मूल संस्कृत में तो थोड़े-बहुत विद्वानों तक ही ये पहुंचते हैं, लेकिन अनुवादों और बहुत-से और तरीकों से, जिनसे परंपरा और किस्से-कहानियां फैलती हैं और आम लोगों की जिंदगी का ताना-बाना बन जाती हैं, ये जनता तक पहुंचे हुए हैं।

इनमें हमें वह खास हिंदुस्तानी ढंग मिलता है, जिसमें अलग-अलग सांस्कृतिक विकास के लोगों के लिए एकसाथ सामग्री प्रस्तुत

की जाती है, अर्थात् ऊँचे से ऊँचे दर्जों के विद्वानों से लेकर अनपढ़ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके द्वारा हमें प्राचीन हिंदुस्तानियों का वह गुर कुछ-कुछ समझ में आ जाता है जिससे वह एक पंचमेल और जात-पात में बंटे हुए समाज को इकट्ठा बनाए रखने में, उनके झगड़ों को सुलझाते रहने में, उन्हें वीर-परंपरा और नैतिक रहन-सहन की समान भूमिका देने में सफल हुए हैं।

मेरे बचपन की सबसे पहली यादों में इन महाकाव्यों की उन कहानियों की यादें हैं जिन्हें मैंने अपनी मां से और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों से उसी तरह सुना था, जिस तरह कि यूरोप या अमरीका में बच्चे परियों की या दूसरी साहस की कहानियां सुनते हैं। इन कहानियों में मेरे लिए परियों की कहानियों और साहस की कहानियों, दोनों ही के तत्त्व मौजूद थे। और फिर मैं हर साल खुले मैदान में होने वाले उन लोकप्रिय तमाशों में ले जाया जाता था, जहां रामायण की कथा का अभिनय होता था और बहुत बड़े मजमे उसे देखने के लिए इकट्ठे होते थे। ये सब बातें बड़े भड़े ढंग से हुआ करती थीं, लेकिन इससे कोई अंतर न पड़ता था, क्योंकि कहानी तो सभी लोगों की जानी हुई थी, और ये दिन मौज और उत्सव के दिन होते थे।

हिंदुस्तान की पौराणिक कथाएं महाकाव्यों तक सीमित नहीं हैं, वे वैदिक काल तक पहुंचती हैं और अनेक रूपों और पोशाकों में संस्कृत-साहित्य में आती हैं। कवि और नाटककार इनसे पूरा लाभ उठाते हैं और अपनी कथाएं और सुन्दर कल्पनाएं इनके आधार पर बनाते हैं। कहा जाता है कि अशोक का वृक्ष एक सुंदरी स्त्री के पैरों से छुआ जाकर फूल उठता है। हम कामदेव की और उसकी स्त्री रति की कथाएं पढ़ते हैं और उनके मित्त वसंत की। कामदेव दुस्साहस करके अपना पुष्पवाण स्वयं शिव पर चलाता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली हुई ज्वाला में भस्म हो जाता है। लेकिन वह अनंग अर्थात् बिना शरीर का होकर ज़िंदा रहता है।

इन पुराणों की कथाओं और वीर-गाथाओं में सचाई पर अड़े रहने और चाहे जैसा जोखिम होने पर भी अपने वचन का पालन करने, मृत्यु तक और उसके बाद भी वफादारी न छोड़ने, साहसी और अच्छे काम करने और लोकहित के लिए त्याग करने की शिक्षाएं दी गई हैं।

यूनानियों, चीनियों और अरब वालों की तरह प्राचीन हिंदुस्तानी इतिहासकार नहीं थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और कारण आज हमारे लिए तिथियां या कालक्रम निश्चित हो

। घटनाएं एक-दूसरे से गुंथ जाती हैं और बड़ा उलझाव पैदा होता है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानों ने हिंदुस्तानी साहित्य की भूल-भुलैया के बीच से कुछ अता-पता लगाया है। सब जाए तो केवल एक पुस्तक है, अर्थात् कल्हण की 'राज-तरंगिणी'। ऐसा की बारहवीं सदी में लिखा हुआ कश्मीर का इतिहास है, जिसे इतिहास कह सकते हैं। शेष इतिहास के लिए महाकाव्यों के कल्पित-काल की, या पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है, या शिलालेखों, या कृतियों या इमारतों के खंडहरों, सिक्कों, या विस्तृत संस्कृत-साहित्य से जहां-तहां संकेत मिल जाते हैं। हां, विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांतों से भी मदद मिलती है, विशेषकर यूनानियों, चीनियों और, बाद के समय के लिए, अरबों के यात्रा-वृत्तांतों से।

ऐतिहासिक भावना की इस कमी से जनता की कोई हानि नहीं हुई थी; क्योंकि जैसा और जगह होता है, बल्कि और जगह से ज्यादा, यहां जनता ने अतीत के बारे में अपने विचार परंपरागत वार्ताओं, पुराणों की कहानियों और गाथाओं की नींव पर, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती हैं, बनाए थे।

विज्ञान और आजकल की दुनिया से वास्ता पड़ने की वजह से अब घटनाओं की समझ-बूझ पैदा हुई है, जांच-पड़ताल की और प्रमाणों को तौलने की बुद्धि उपजी है, और परंपरा को ज्यों का त्यों स्वीकार से इन्कार भी हुआ है। बहुत-से विद्वान इतिहासकार आजकल काम में लगे हुए हैं, लेकिन वे बहुधा उलटी ही भूल करते हैं, अर्थात् घटनाओं के कालक्रम की तो बहुत छानबीन करते हैं, लेकिन जीवित इतिहास को छोड़ देते हैं।

लेकिन मैं देवताओं और देवियों की, और उन दिनों की चर्चा कर रहा था, जबकि पुराण के किस्सों और कथाओं का आरंभ हुआ था, और इस चर्चा से बहुत दूर हट आया। वे ऐसे दिन थे, जब जीवन भरा-पूरा था और प्रकृति के साथ उसका तार-तार मिला हुआ था, जब आदमी का मस्तिष्क विश्व के रहस्यों पर अचरज और अज्ञान से दृष्टि डालता था, जब स्वर्ग और धरती एक-दूसरे के बहुत नजदीक जान पड़ते थे, और देवता लोग तथा देवियां कैलास से, या हिमालय में स्थित अपने घामों से, ओलिंपस के देवताओं की तरह पुरुषों और स्त्रियों के बीच खेल करने या कभी-कभी उन्हें दंड देने के लिए आते थे। इस भरी-पूरी जिंदगी और शानदार कल्पना से, कथा-कहानी का और बली तथा सुंदर देवताओं एवं देवियों का जन्म हुआ,

यूनानियों की तरह हिंदुस्तानी भी जीवन और सांदर्य के प्रेमी थे ।

धीरे-धीरे वैदिक और दूसरे देवी-देवताओं के दिन हटकर पीछे पहुंच गए और उसकी जगह कठिन दर्शन ने ले ली । लेकिन लोगों के मस्तिष्कों में सुख के संगियों और दुख के साथियों की तरह उनकी अपनी आकांक्षाओं और अस्पष्ट रूप से अनुभव किए गए आदर्शों के रूप में वह मूर्तें फिर भी तिरती रहीं । और इनके गिर्द कवियों ने अपनी कल्पनाएं लपेटੀं, और अपने सपनों के घर बनाए और उन्हें अच्छी तरह सजाया ।

१३ : महाभारत

महाकाव्यों का समय बताना कठिन है । इनमें उस प्राचीन काल का हाल है कि जब आर्य हिंदुस्तान में बस रहे थे और अपनी जड़ जमा रहे थे । स्पष्ट है, इन्हें बहुत-से लेखकों ने लिखा है या इनमें भिन्न-भिन्न समयों में विस्तार किया गया है । रामायण ऐसा महाकाव्य है, जिसके वर्णन में थोड़ी-बहुत एकता है, महाभारत प्राचीन ज्ञान का एक बड़ा और फुटकर संग्रह है । दोनों ही बौद्धकाल से पहले बन गए होंगे, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि इनमें बाद में भी हिस्से जोड़े गए हैं ।

फ्रांसीसी इतिहासकार मिशले, १८६४ में, विशेषकर रामायण के प्रसंग में लिखते हुए कहते हैं—“जिस किसीने भी बड़े काम किए हैं या बड़ी आकांक्षाएं की हैं, उसे इस गहरे प्याले से जीवन और जीवन की एक लंबी घूंट पीनी चाहिए... पश्चिम में सभी चीजें संकरी और तंग हैं—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है, जूडिया खुशक जगह है और मैं हांफ जाता हूं । मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की ओर तनिक देर को देखने दो । वहां मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंद महासागर जैसा विस्तृत, मंगलमय सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ, जिसमें दैवी संगीत है, और जहां कोई वेसुरापन नहीं । वहां एक गहरी शांति का राज्य है, और संघर्ष के बीच भी वहां बेहद मिठास और चरम सीमा का भाईचारा है, जो सभी जीवित वस्तुओं पर छाया हुआ है । प्रेम, दया, क्षमा का अपार और अथाह समुंदर है ।”

महाकाव्य की हैसियत से रामायण एक बहुत बड़ा ग्रंथ अवश्य है और उससे लोगों को बहुत लगाव है लेकिन यह महाभारत है जो वास्तव में दुनिया की सबसे प्रमुख पुस्तकों में से एक है । यह एक चिरा

कृति है; परम्परा और कथाओं का, और हिंदुस्तान की प्राचीन राज-
नैतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विश्वकोष है। यह एक
रोचक बात है कि इस भयानक और सर्वव्यापी युद्धकाल में भी रूस
के पूर्वी विद्यार्थियों को जानने वाले विद्वानों ने महाभारत का इसी अनुवाद
प्रस्तुत किया है।

महाभारत में, हिंदुस्तान की बुनियादी एकता पर जोर देने की
बहुत निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम
आर्यावर्त यानी आर्यों का देश, था। लेकिन यह मध्य हिंदुस्तान के
विध्य पहाड़ तक फैले हुए, उत्तरी हिंदुस्तान तक, सीमित था। शायद
उस समय तक आर्य इस पहाड़ के सिलसिले के पार नहीं पहुंचे थे।
रामायण की कथा आर्यों के दक्खिन में पैठने का इतिहास है। वह बड़ा
गृहयुद्ध, जो बाद में हुआ और जिसका कि महाभारत में वर्णन है, मोटे
ढंग से अनुमान किया जाता है, ईसा से पूर्व चौदहवीं सदी में हुआ।
यह लड़ाई हिंदुस्तान (या शायद उत्तरी हिंदुस्तान) पर सबसे ऊंचा
अधिकार हासिल करने के लिए हुई थी, और इससे सारे हिंदुस्तान के,
भारतवर्ष के रूप में, कल्पना किए जाने का आरंभ होता है। भारतवर्ष
की जो यह कल्पना थी, उसमें आजकल के अफगानिस्तान का ज्यादा
हिस्सा, जिसे उस समय गांधार कहते थे, शामिल था और इस देश
का अपना अंग समझा जाता था।

भगिनी निवेदिता (मार्गरेट नोबुल) ने, महाभारत के बारे में
लिखते हुए बताया है—“विदेशी पाठक पर ... दो मुख्य बातों का असर
पड़ता है। पहली बात तो यह है कि विविधता में यहां एकता मिलती
है; दूसरी यह, कि सुनने वालों पर एक ऐसे केन्द्रीय हिंदुस्तान के विचार
को बिठाने का लगातार प्रयत्न है, जिसकी अपनी वीरता की परंपरा
है, जो एकता के भाव को जगाने वाली है।”

महाभारत में कृष्ण की कथाएं हैं और भगवद्गीता नाम का
प्रसिद्ध काव्य भी है। गीता के दर्शन के अलावा भी, इस ग्रंथ में आम तौर
पर राज्यकारण में और जीवन में, नैतिक और सदाचार के सिद्धांतों
पर जोर दिया गया है। धर्म की इस बुनियाद के बिना सच्चा सुख नहीं
मिल सकता, और न समाज ही स्थायी रह सकता है। समाज की
भलाई इसका उद्देश्य है, किसी एक गिरोह की भलाई नहीं, बल्कि सारी
दुनिया का हित। लेकिन धर्म स्वयं सापेक्ष है, और सचाई, अहिंसा
आदि बुनियादी सिद्धांतों के अतिरिक्त यह समय और परिस्थिति पर
निर्भर करता है। ये सिद्धांत सदा स्थिर रहते हैं और इनमें परिवर्तन

नहीं होते, मगर इनके अतिरिक्त धर्म, जो कर्तव्यों और जिम्मेदारियों का गड़ुमड़ु है, बदलते हुए जमाने के साथ बदलता रहता है। यहां और और जगहों पर अहिंसा पर जो जोर दिया गया है वह दिलचस्प है, क्योंकि इसमें और किसी अच्छे उद्देश्य के लिए लड़ाई करने में, कोई व्यक्ति विरोध नहीं माना गया है।

महाभारत एक ऐसा मूल्यवान भंडार है कि हमें उसमें बहुत तरह की कीमती चीजें मिल सकती हैं। यह रंग-विरंगी, घनी और खुदबुदाती हुई जिंदगी से भरपूर है, और इस बात में यह हिंदुस्तानी विचारधारा के दूसरे पहलू से बहुत हटकर है जिसमें तपस्या और जीवन से इन्कार पर जोर दिया गया है। यह केवल नीति की शिक्षा देने वाली पुस्तक नहीं है, यद्यपि नीति और संस्कृति की शिक्षा इसमें काफी मिलेगी। महाभारत की शिक्षा का सार एक वाक्य में रख दिया गया है—“दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर जो तुझे खुद अपने लिए नापसंद हो।” जोर समाज की भलाई पर दिया गया है, कहा है—“जिससे समाज की भलाई नहीं होती, या जिसे करते हुए तुम्हें शर्म आती है, उसे न करो।” फिर कहा है, “सच्चाई, अपने को वस में रखना, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म पर डटे रहना—इनसे सफलता प्राप्त होती है, जात और कुल से नहीं।” “जीवन और अमरता से धर्म बढ़कर है।” “सच्चे आनंद के लिए कष्ट उठाना आवश्यक है।” धन कमाने के पीछे पड़े रहने वाले पर एक व्यंग्य है, “रेजम का कीड़ा, अपने धन के कारण मरता है।” और, अंत में, एक न. नि-जागती और उन्नति करती हुई जाति के लोगों के उपयुक्त यह आदेश है, “असंतोष प्रगति का प्रेरक है।”

१४ : भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अंश है; एक बहुत बड़े नाटक की एक घटना है। लेकिन उसकी अपनी अलग जगह है, और वह अपने में संपूर्ण है। यों यह ७०० श्लोकों का छोटा-सा काव्य है, लेकिन विलियम वॉन हम्बोल्ट ने इसके बारे में लिखा है कि “यह सबसे सुंदर, शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है, जो किसी भी जानी हुई भाषा में मिलता है।” बौद्धकाल से पहले जब इसकी रचना हुई, तब से आज तक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव घटे नहीं हैं, और आज भी इसके लिए हिंदुस्तान में पहले जैसा आकर्षण बना हुआ है। विचार और दर्शन का हर एक संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है, और अपने-अपने ढंग से

इसकी व्याख्या करता है। संकट के समय, जबकि आदमी का मन संदेह से सताया हुआ होता है, और अपने कर्तव्य के बारे में उसे दुविधा दो ओर खींचती होती है, वह प्रकाश और मार्ग प्रदर्शन के लिए गीता की तरफ और भी झुकता है, क्योंकि यह संकट-काल के लिए लिखी गई कविता है—राजनैतिक और सामाजिक संकटों के अवसर के लिए, और उससे भी अधिक मनुष्य की आत्मा के संकट-काल के लिए। गीता की अनगिनत व्याख्याएं निकल चुकी हैं, और अब भी बराबर निकलती रहती हैं। विचार और काम के मैदान के आजकल के नेताओं—तिलक, अरविंद घोष, गांधीजी—ने भी इसके संबंध में लिखा है और अपनी-अपनी व्याख्याएं दी हैं। गांधीजी ने इसे अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का आधार बनाया है—और लोगों ने इसे हिंसा और धर्मकार्य के लिए युद्ध का।

यह काव्य, घोर युद्ध आरंभ होने से पहले, ठीक लड़ाई के मैदान में, अर्जुन और कृष्ण की बातचीत के रूप में आरंभ होता है। अर्जुन विचलित है, उसकी अंतरात्मा लड़ाई और उससे होने वाले बड़े संहार का, मित्रों और वंशुओं के संहार का, खयाल करके सहम उठती है। आखिर यह सब किसलिए? कौनसे ऐसे लाभ की कल्पना हो सकती है, जो इस क्षति का, इस पाप का, परिहार कर सके? उसकी सभी पुरानी संतोटियां जवाब दे देती हैं, वे सभी मूल्य, जिन्हें उसने आंक रखा था, बेकार हो जाते हैं। अर्जुन मनुष्य की पीड़ित आत्मा का प्रतीक बन जाता है, ऐसी आत्मा का, जो सभी काल में, कर्तव्य और सदाचार के तकाजों की वजह से दुविधा में पड़ी रही है। इस निजी बातचीत से होते-होते हम आदमी के कर्तव्य और सामाजिक आचरण, इंसानी जिदगी और सदाचार और हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए, इन व्यापक विचारों तक पहुंच जाते हैं। इसमें बहुत कुछ ऐसा है जो आध्यात्मिक है; और इस बात की कोशिश की गई है कि मानवी उन्नति के तीन रास्तों—ज्ञान मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति मार्ग—का इसके द्वारा समन्वय हो।

गीता का संदेश सांप्रदायिक या किसी एक विशिष्ट विचार के लोगों के लिए नहीं है। क्या ब्राह्मण और गया अजात, यह सभीके लिए है। यह कहा गया है कि "सभी रास्ते मुझ तक पहुंचाते हैं।" ढाई हजार बरसों में, जो इसके लिखे जाने के बाद बीते हैं, हिंदुस्तान के लोगों ने न जाने कितने परिवर्तन देखे हैं और चढ़ाव-उतार भी देखे हैं; अनुभव पर अनुभव हुए हैं; खयाल पर खयाल उठे हैं, लेकिन उन्हें

हमेशा गीता में कोई जीवित वस्तु मिली है, जो उनके उन्नति करते हुए विचार से मेल खा गई है, जिसमें ताजगी रही है, और मस्तिष्क को छेड़ने वाले आध्यात्मिक प्रश्नों पर जो लागू रही है।

१५ : प्राचीन हिंदुस्तान में जीवन और व्यवसाय

विद्वानों और दार्शनिकों ने प्राचीन हिंदुस्तान के दर्शन और अध्यात्म के विकास को जांचने के लिए बहुत कुछ किया है; ऐतिहासिक घटनाओं का कालक्रम निश्चित करने के लिए भी बहुत कुछ किया गया है। लेकिन उन कालों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को मालूम करने के लिए अभी विशेष काम नहीं हुआ है—यह कि किस तरह लोग रहते-सहते थे और अपना धंधा करते थे, क्या चीजें और किस तरह पैदा करते थे और व्यापार किस ढंग से होता था? इन बहुत महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। महाभारत स्वयं समाज-शास्त्र संबंधी और सूचनाओं का भंडार है और निश्चय ही दूसरी बहुत-सी पुस्तकों से हमें जानकारी प्राप्त हो सकती है। लेकिन उनकी इस दृष्टि से, ध्यानपूर्वक जांच-पड़ताल करना जरूरी है। एक पुस्तक, जिसका कि इस विचार से बहुत मूल्य है कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है, जो ईसा से पूर्व चौथी सदी में लिखा गया था, और जिससे मौर्य-साम्राज्य के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सैनिक संगठन के बारे में बहुत-सी व्यौरेवार जानकारी मिलती है।

इससे भी पहले का एक वर्णन, जो हमें बुद्ध से भी पहले के समय तक पहुंचाता है, हमें जातक-कथाओं में मिलता है। प्रोफेसर रीज डेविड्स ने इन्हें लोककथाओं का सबसे पुराना, सबसे पूर्ण और सबसे महत्व का संग्रह बताया है।

जातकों में उस काल की चर्चा है जबकि हिंदुस्तान की दो मुख्य जातियों का, यानी द्रविड़ों और आर्यों का, अंतिम मेल-मिलाप हो रहा था। उनसे एक "विविध और अस्तव्यस्त समाज का पता लगता है, जिसके वर्गीकरण के सभी प्रयत्न निरर्थक होंगे और जिसके बारे में उस जमाने की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार संगठन की कोई बात ही नहीं हो सकती।" यह कहा जा सकता है कि जातकों में हमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की परंपरा के विरोध में जन-साधारण की परंपरा मिलती है।

जुदा-जुदा राज्यों और शासकों की कालक्रम और वंशावलियां हमें मिलती हैं। आरंभ में राजा चुना जाता था, बाद में राजे वंश-क्रम

ने लगे और सबसे जेठा लड़का राज्य का अधिकारी होता। स्त्रियाँ अधिकार से अलग रखी गई हैं, लेकिन इस नियम के अपवाद मिलते हैं। जैसाकि चीन में रहा है, शासक सभी दुर्भाग्यों के जिम्मेदार पाए जाते थे।

अगर कोई बात बिगड़ती है तो दोष राजा पर आता है। मंत्रियों समितियाँ हुआ करती थीं, और एक तरह की राज्य-परिषद् के भी संग मिलते हैं। फिर भी राजा स्वायत्त हुआ करता था, हालांकि उसे कुछ स्थापित मान्यताओं के अनुसार चलना पड़ता था। दरबार में उरोहित का पद बड़ा ऊंचा माना जाता था, वह सलाहकार भी होता था और धार्मिक रस्मों को अदा करने वाला भी। अन्यायी राजाओं के विरुद्ध जनता के विद्रोह के भी हवाले मिलते हैं, और ऐसे राजाओं को उनके अपराधों के लिए जानें तक गंवानी पड़ी है।

ग्राम-सभाओं (पंचायतों) को एक हद तक खुदमुज्तारी प्राप्त थी। जमीन के लगान से मुख्य आमदनी थी। यह खयाल किया जाता था कि जमीन पर लगाया गया कर राजा के हिस्से का है; ग्राम तौर पर यह गल्ले या उपज के रूप में अदा किया जाता था, लेकिन हमेशा ऐसा न होता था। यह खासकर किसानों की सभ्यता थी, और इसकी बुनियादी इकाई यही स्वायत्त गांव हुआ करते थे। इन्हीं गांवों की जनता के आधार पर राजनैतिक और आर्थिक संगठन होता था, दस-दस और सौ-सौ गांवों के समूह बना दिए जाते थे। वागवानी, पशु-पालन और ग्वालों का घंघा बहुत बड़े पैमाने पर होता था। वाग और उद्यान बहुतायत से थे और फूलों और फलों की कद्र की जाती थी।

शिकार एक नियमित घंघा था, विशेषकर इसलिए कि उसके द्वारा खाना प्राप्त होता था। मांसाहार साधारण-सी बात थी और इस मुर्ग और मछलियाँ शामिल थीं; हिरन के मांस की बड़ी कद्र होती थी मछुओं का अलग घंघा था, और कसाईखाने भी थे। लेकिन खाने खास चीजें चावल, गेहूं, बाजरा और मक्का थीं। ईख से शक्कर बना जाती थी। शराब की दुकानें भी थीं और जराब चावल, फल ईख से तैयार की जाती थी।

धातुओं और कीमती पत्थरों की खानें थीं। जिन धातुओं का आया है, वे हैं सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सीसा, टिन, पीतल। की पत्थरों में हीरा, लाल, मूंगा हैं, मोतियों का भी जिक्र है। सोने, और तांबे के सिक्कों के हवाले हैं। व्यापार के लिए साझे हुआ क और सूद पर कर्ज दिया जाता था।

तैयार किए गए माल में रेशम, ऊन और रुई के कपड़े, लोइयां, कंबल और कालीन हैं। कताई, बुनाई, रंगाई के धंधे खूब फैले हुए और नफे के धंधे थे। धातुओं के उद्योग से लड़ाई के हथियार तैयार होते थे। इमारत के धंधे में पत्थर, लकड़ी और ईंटें काम में आती थीं। बढ़ई लोग तरह-तरह के सामान तैयार करते थे, जैसे गाड़ियां, रथ, पलंग, कुर्सियां, वैचें, पेटियां, खिलौने आदि। बेंत का काम करने वाले चटाई, टोकरियां, पंखे और छाते तैयार करते थे। कुम्हार हर एक गांव में होते थे। फूलों और चंदन की लकड़ी से कई तरह की सुगंधियां, तेल और सिंगार की चीजें तैयार की जाती थीं, इसमें चंदन की वुकनी भी होती थी। कई तरह की दवाइयां और आसव तैयार होते थे और कभी-कभी मरे हुए आदमी के शरीर को मसाला लगाकर सुरक्षित रखा जाता था।

बहुत तरह के कारीगरों और दस्तकारों के अलावा, जिनकी चर्चा हुई है, कई और पेशेवरों के हवाले मिलते हैं। ये हैं—अध्यापक, वैद्य, जराह, व्यापारी, दुकानदार, गवैये, ज्योतिषी, कुंजड़े, अभिनेता, नर्तक, भांड, वाजीगर, नट, कठपुतली का तमाशा करने वाले और फेरी वाले।

घरों में दासों का होना काफी मामूली बात थी, लेकिन खेती के काम और दूसरे कामों के लिए मजदूर लगाए जाते थे। उस समय भी थोड़े-से अछूत थे—ये चांडाल कहलाते थे और इनका खास काम था मुर्दों को फेंकना या जलाना।

व्यापारियों के संगठनों और कारीगरों के संघों का महत्त्व माना जा चुका था। जातकों में लिखा है कि कारीगरों के अठारह संघ थे, लेकिन उनमें केवल चार नाम से बताए गए हैं, अर्थात् बढ़इयों और थवइयों के, सुनारों के, चमड़े का काम करने वालों के और रंगसाजों के। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है, जिनका राजा को खास ध्यान रखना चाहिए। व्यापारियों का मुखिया श्रेष्ठी (आज-कल का सेठ) बहुत काफी महत्त्व रखता था।

जातकों के वयान से एक कुछ असाधारण विकास का पता लगता है। बड़ी-बड़ी सड़कें, जिनके किनारे-किनारे यात्रियों के आराम के लिए घर बने थे, और कहीं-कहीं अस्पताल भी, सारे उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थीं और दूर-दूर की जगहों को मिलाती थीं। समुद्र पार के व्यापार के लिए जहाजों की जरूरत थी और यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तान में देश के भीतर नदियों पर चलने के लिए ही नहीं, बल्कि समुद्र पर चलने वाले जहाज भी बनते थे। जातकों में व्यापारियों की समुद्र-यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। खुस्की के राजा हिंदुस्तानों को

भड़ोंच के पच्छिमी बन्दरगाह तक और उत्तर में गांधार (अफगानिस्तान) एशिया तक कारवां जाया करते थे। भड़ोंच से जहाज़ बाबूल (बेल्जियम) के लिए फारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते से ग्रामदरपत्त हुआ करती थी और जातकों के अनुसार वेड़े बनारस, गुना, चंपा (भागलपुर) और दूसरे जगहों से समुंदर को जाया करते और वहां से दक्खिनी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक। हिंदुस्तान से बाहर जाने वाले माल में रेशम के कपड़े, मलमल, और महीन कपड़े, छुरियां, जिरह-बल्लर, कमखाव, जरदोजी के काम, लोइयां, इत्र-फुलेल, दवाइयां, हाथी-दांत और हाथी-दांत की बनी चीजें, जेवर और सोना (चांदी बहुत कम) — ये खास चीजें होती थीं, जिन्हें व्यापारी भेजा करते थे।

हिंदुस्तान, बल्कि उत्तरी हिंदुस्तान अपने लड़ाई के हथियारों के लिए मशहूर था, खास तौर पर अपने लोहे की उमत्तता के लिए और तलवारों और कटारों के लिए। प्राचीन हिंदुस्तान में, जान पड़ता है, लोहे को तैयार करने में बड़ी उन्नति हो गई थी। दिल्ली के पास एक बहुत बड़ा लोहे का खंभा है जिसने आजकल के वैज्ञानिकों को भी दंग कर दिया है, और वे नहीं पता लगा सके हैं कि यह किस तरह बना होगा, क्योंकि इसपर न जंग लग सका है और न दूसरे मौसमी परिवर्तनों का असर पहुंचा है। इसपर जो लेख खुदा है, वह गुप्तकाल की लिपि में है, जोकि ईसा के बाद की चौथी सदी में प्रचलित थी। लेकिन कुछ विद्वानों का यह कहना है कि खंभा खुद इस लेख के पहले का और यह लेख बाद में जोड़ा गया है।

ईसा पूर्व की चौथी सदी में, सिकंदर का हिंदुस्तान पर हमला था और वह भी बहुत कामयाब हमला नहीं था। एक सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि खास हिंदुस्तान पर वह आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। हिंदुस्तान की फौजी का अनुमान सिकंदर के वापस जाने और उसकी मृत्यु के थोड़े ही बाद मिला, जब सिल्यूकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस जमाने में हिंदुस्तानी फौजों की ऐसी सुविधा थी जो दूसरों को नहीं प्राप्त थी; वह सिख हाथियों की सुविधा थी, जिनकी तुलना आजकल के टैंकों से सकती है। सल्यूकस निकटोरे ने हिंदुस्तान से ऐसे ५०० लक्ष हाथी हासिल किए और ३०२ ई० पू० में एशिया माइनर में, ए

के खिलाफ लड़ाई में इन्हें लगाया। फौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों का कहना है कि लड़ाई में जो ऐंटिगोनस मारा गया और उसके बेटा दिमित्रियस भाग गया तो इसका मुख्य कारण हाथी ही थे।

हाथियों को सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने आदि विषयों पर पुस्तकें लिखी गई हैं—इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बर्तनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। मोहनजोदड़ो में ऐसे लेख मिले हैं जिन्हें अभी तक पूरी तरह नहीं पढ़ा जा सका है। ब्राह्मी लेख जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं, ऐसे हैं, जिनकी लिपि पूरी तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पच्छिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा पूर्व छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया। इसे केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राद के सोवियत प्रोफेसर टी० शेरवत्सकी ने उसे 'मानवी मस्तिष्क की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक' बताया है। पाणिनि को आज भी संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माना जाता है, हालांकि बाद के व्याकरणों ने उसमें और बातें जोड़ी हैं और उसकी अपने ढंग से व्याख्याएं की हैं। यह एक रोचक बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच, सिकंदर के पूरब आने से पहले ही, किसी न किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का विशेष रूप से अध्ययन होता था और अक्सर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ झुकता था। औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था, ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्यपुस्तकें इसवी सन् की शुरु की सदियों में रची गईं। इनमें औषध पर चरक की, और शल्य या जराही पर सुश्रुत की पुस्तकें हैं। यह खयाल किया जाता है कि कनिष्क (जिसकी राजधानी पच्छिमोत्तर में थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन पुस्तकों में बहुत-से रोगों का वर्णन है और उनके निदान और उपचार बताए गए हैं। सुश्रुत ने बहुत-से जराही के औजारों का जिक्र किया है और चौर-फाड़ का भी, जिसमें कि अंगों को काटने, पेट चीरने, पेट चीरकर वच्चा निकालने, मोतियाबिंद की जराही आदि हैं। ईसा पूर्व तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। यह शायद जैनियों और बौद्धों के धर्मों के प्रभाव

थे ।
 गित में प्राचीन हिंदुस्तानियों ने कुछ क्रांतिकारी आविष्कार
 थे—खास तौर पर शून्य के चिह्न, दशमलव-प्रणाली, ऋण के
 और वीजगणित में अज्ञात राशियों के लिए अक्षरों का प्रयोग ।
 प्राविष्कारों का समय बताना मुश्किल है, क्योंकि सिद्धांत की
 ना और उसके व्यवहार के बीच बड़े लंबे जमाने का अंतर आ
 है । लेकिन यह स्पष्ट है कि अंकगणित, वीजगणित और रेखा-
 त का आरंभ सबसे प्राचीन काल में हो चुका था । ऋग्वेद के जमाने
 भी गिनती के लिए दहाई का प्रयोग किया जाता था । इन प्राचीन
 हिंदुस्तानियों में गिनती और समय का असाधारण ज्ञान था । बहुत
 ही राशियों के नामों की एक लंबी सूची उन्होंने बना रखी थी ।
 नानियों, रोमनों, ईरानियों और अरबों के यहां हजार या ज्यादा से
 ज्यादा दस हजार ($90^5 = 90,000$) की संख्या से आगे के नाम न
 थे । हिंदुस्तान में १८ निश्चित नामकरण (90^{14}) तो थे ही, और
 इससे भी लंबी सूचियां बन गई थीं । बुद्ध की आरंभ की शिक्षा के वर्णन
 से हमें मालूम होता है कि 90^{14} तक की संख्याओं के अलग-अलग
 नाम वह ले सकते थे ।

दूसरी तरफ काल का बड़ा सूक्ष्म विभाजन हो गया था और
 इसकी सबसे छोटी इकाई लगभग एक सेकंड का सत्रहवां हिस्सा थी ।
 लंबाई की सबसे छोटी माप करीब-करीब 9.3×10^{-9} इंच थी । ये
 सब बड़ी और छोटी राजियां केवल काल्पनिक थीं, और इनका प्रयोग
 दर्शन के विचारों में हुआ करता था । फिर भी प्राचीन हिंदुस्तानियों की
 देश-काल की कल्पना और प्राचीन कौमों के मुकाबले कहीं बड़ी-चढ़ी
 थी । उनका चिंतन बहुत बड़े पैमाने पर होता था । उनकी पौराणिक
 कथाओं में अरबों-दरबों साल के युगों का बयान है । आजकल के
 भूगर्भशास्त्र के विशद युगों की गिनतियां और नक्षत्रों की दूरी की बहुत
 बड़ी मापें उनके लिए अचरज की चीजें न होतीं । इस पृष्ठभूमि व
 वजह से डार्विन के और इसी तरह के दूसरे सिद्धांतों ने हिंदुस्तान में
 उथल-पुथल और भीतरी संघर्ष नहीं पैदा किया, जो उन्नीसवीं सदी
 बीच के जमाने में उठा था । यूरोप की साधारण जनता के मस्तिष्क
 जो समय का पैमाना आम तौर पर आता था, वह कुछ हजार साल
 आगे का नहीं था । 'अर्थशास्त्र' में उत्तरी हिंदुस्तान में ईसा पूर्व च
 सदी में बरती जाने वाली मापें और तोलें मिलती हैं । बाजार में
 के बटखरों की कड़ी जांच हुआ करती थी ।

पुराणों के जमाने में अक्सर आश्रमों का चर्चा है जो एक तरह के वन-स्थित विश्वविद्यालय होते थे। ये शहरों से बहुत दूर पर नहीं होते थे और यहां प्रसिद्ध विद्वानों के पास शिक्षा-दीक्षा के लिए विद्यार्थी इकट्ठा हुआ करते थे। यह शिक्षा कई विषयों की होती थी, इसमें फांजी शिक्षा भी सम्मिलित थी। इन आश्रमों को इसलिए पसंद किया जाता था कि विद्यार्थी लोग यहां शहर के शोर-गुल और आकर्षणों से दूर रहते हुए, संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिता सकते थे। इस बात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय गुरुओं के यहां बड़ी संख्या में विद्यार्थी खिचकर पहुंचा करते थे।

वनारस हमेशा से विद्या का एक केन्द्र रहा है, और बुद्ध के जमाने में भी यह प्रसिद्ध था और प्राचीन माना जाता था। वनारस के पास मृगदाव में बुद्ध ने सबसे पहले उपदेश दिया था, लेकिन वनारस किसी जमाने में ऐसे विश्वविद्यालय का केन्द्र रहा हो, जैसे उस समय और बाद में और जगहों में थे, यह नहीं जान पड़ता। वहां पर गुरुओं और शिष्यों के बहुत-से अलग-अलग समुदाय थे, और अक्सर विरोधी समुदायों में तीखे शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

लेकिन पच्छिमोत्तर में, वर्तमान पेशावर के पास, एक प्राचीन और प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। यह खास तौर पर विज्ञान चिकित्सा-शास्त्र और कलाओं के लिए मशहूर था और हिंदुस्तान के दूर-दूर के हिस्सों से यहां लोग आया करते थे। यहां मध्य एशिया और अफगानिस्तान से भी विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आया करते थे। तक्षशिला का स्नातक होना एक प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र सीखकर निकलते थे, उनकी बड़ी कद्र होती थी, और इसका वर्णन मिलता है कि जब कभी बुद्ध बीमार पड़ते थे, तब उनके भक्त ऐसे मशहूर वैद्य को बुलाते थे जो तक्षशिला का स्नातक होता था। ईसा से पूर्व की छठी-सातवीं सदी के वैवाकरण पाणिनि ने यहीं शिक्षा पाई थी।

कानून की दृष्टि से स्त्रियों का दर्जा, सबसे पहले स्मृतिकार मनु के अनुसार, निश्चित रूप से, गिरा हुआ था। वे हमेशा किसी न किसी के सहारे पर रहती थीं, वह चाहे बाप का हो, चाहे पति का, चाहे बेटे का। कानून की दृष्टि में उन्हें चल-संपत्ति-जैसा माना जाता था। फिर भी, महाकाव्यों की बहुत-सी कथाओं से पता चलता है कि ये कानून कड़ाई के साथ लागू नहीं किए जाते थे और उन्हें समाज में और घरों में आदर का पद मिलता था। मनु स्वयं लिखते हैं—“जहां श्री—का

।।दर होता है, वहां देवता लोग आकर बसते हैं।" तक्षशिला या किसी पुराने विद्यापीठ के सिलसिले में विद्यार्थिनियों का चर्चा नहीं मिलता। किन्तु उनमें से कुछ कहीं न कहीं शिक्षा जरूर पाती रही हैं, क्योंकि वेदुपी और पढ़ी-लिखी स्त्रियों का बार-बार चर्चा हुआ है। बाद के युगों में भी प्रसिद्ध विदुषी स्त्रियां हुई थीं। स्त्रियों का कानूनी दर्जा प्राचीन हिंदुस्तान में, गिरा हुआ जरूर था, लेकिन आज की कसौटी से जांचा जाए, तो प्राचीन यूनानी, रोम, आरंभ के ईसाई मत वाले देशों में और मध्ययुग के, चर्क और हाल के, अर्थात् उन्नीसवीं सदी के आरंभ के, यूरोप में, उनका जैसा दर्जा था, उससे यहां कहीं अच्छा था।

उस काल के हिंदुस्तानी कैसे थे? हमारे लिए इतने पुराने और इस जमाने से इतने भिन्न काल के बारे में अनुमान करना कठिन है; फिर भी जो फुटकर जानकारी हमें है उससे एक घुंघली तस्वीर हमारे सामने आती ही है। वे खुले दिल के, अपने में भरोसा रखने वाले, अपनी परंपरा पर गर्व करने वाले लोग थे; रहस्य की खोज में हाथ-पैर फेंकने वाले, प्रकृति और मानवी जीवन के बारे में बहुत-से प्रश्न करने वाले, अपनी बनाई मर्यादा और स्थापित मूल्यों के बारे में सावधान रहने वाले थे, लेकिन जीवन में आनंद के साथ हिस्ता लेने वाले और मौत का बेफिक्री से सामना करने वाले थे।

१६ : महावीर और बुद्ध : वर्ण-व्यवस्था

महाकाव्यों के समय से लेकर आरंभिक बौद्ध काल तक, उत्तरी हिंदुस्तान की कुछ इस तरह की भूमिका रही है जैसीकि ऊपर बताया गई है। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से यह बराबर बदलती रही है, और मिलने-जुलने और समन्वय का और घंघों के विशिष्ट होकर बंट जाने का क्रम जारी रहा है। विचार के क्षेत्र में बराबर विकास होता रहा है और प्रायः संघर्ष रहा है। आरंभ के उपनिषदों के बाद के काल में, बहुत-सी दिशाओं में विचार और कार्य में उन्नति हुई है, और यह कर्मकांड और पुरोहिताई के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में रही है। लोगों का मस्तिष्क, जो कुछ वे देखते थे, उसके विरुद्ध विद्रोह करता था, और इस विद्रोह का नतीजा था जो गुरु के उपनिषदों में, और कुछ समय बाद, जड़वाद, जैनधर्म और बौद्धधर्म के रूप में, और भगवद्-गीता में पाए जाने वाले सब धर्मों के समन्वय में हमें मिलता है। फिर इन सबके भीतर से हिंदुस्तानी दर्शन की छः पद्धतियां निकलती हैं।

जैनधर्म और बौद्धधर्म, वैदिक धर्म और उसकी शाखाओं से हटकर थे, यद्यपि एक अर्थ में ये स्वयं उसीसे निकले थे। ये वेदों को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं, और जो बात सबसे दुनियादी है, वह यह है कि ये आदि कारण के बारे में या तो मौन हैं या उससे इन्कार करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर जोर देते हैं और ब्रह्मचारी भिक्षुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एक हृद तक यथार्थवादी और दुनियादी दृष्टिकोण है, हालांकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो, तो लाजिमी तौर पर यह दृष्टिकोण हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। जैनधर्म का एक दुनियादी सिद्धांत है कि नृत्य हमारे विचारों से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्षवादी विचार-पद्धति है और इस धर्म में जीवन और विचार में तपस्या के पहलू पर जोर दिया गया है।

जैनधर्म के संस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय वर्ण के थे। बुद्ध का ८० वर्ष की उम्र में, ईसा से ५४४ वर्ष पहले निर्वाण हुआ। तभी से बौद्ध-संवत् शुरू होता है। बौद्ध-साहित्य में यह लिखा है कि बुद्ध का जन्म वैशाख (मई-जून) महीने की पूर्णिमा को हुआ था, इसी तिथि को उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था और इसी तिथि को उनका निर्वाण भी हुआ था।

बुद्ध में प्रचलित धर्म, अंधविश्वास, कर्मकांड और यज्ञ आदि की प्रथा पर और इनके साथ जुड़े हुए निहित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आधिर्भातिक और परमार्थी दृष्टिकोण का, करा-मातों, अलौकिक व्यापार आदि का विरोध किया। पर उनका तर्क, बुद्धि और अनुभव पर आग्रह था, और उन्होंने नीति या सदाचार पर जोर दिया। उनका ढंग था मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का, और इस मनोविज्ञान में आत्मा को जगह नहीं दी गई थी। उनका दृष्टिकोण आधिर्भातिक कल्पना की वासी हवा के बाद पहाड़ की ताज़ी हवा के हल्के थपेड़े-सा जान पड़ता है।

बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था पर कोई सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपने संघ में उन्होंने इसे जगह नहीं दी और इसमें शक नहीं कि उनका सारा रुख और काम करने का ढंग ऐसा रहा कि उससे वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुंचा। जायद उनके समय में और कुछ सदियों बाद तक जाति या वर्ण-व्यवस्था बहुत तरल दशा में थी। यह स्पष्ट है कि जिस समाज में जाति-पात के बंधन हों, वह विदेशों से व्यापार में, या दूसरे सहस्रों कानों में बहुत हिंसा नहीं ले सकता, और फिर भी बुद्ध के पंजर तो

स बाद तक हम देखते हैं कि हिंदुस्तान और पड़ोसी मुल्कों के बीच अपार उन्नति कर रहा था, और हिंदुस्तानी उपनिवेशों की भी अच्छी यति थी। पच्छिमोत्तर से विदेशी लोगों के आने का तांता बंधा रहा और ये लोग यहां की जनता में समाविष्ट होते रहे।

जैनधर्म, जो स्थापित धर्म से विद्रोह करके उठा था, और बहुत तरह से उससे भिन्न था, जाति की ओर सहिष्णुता दिखाता था और स्वयं उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि यह आज भी जीवित है और हिंदुस्तान में जारी है। यह हिंदूधर्म की करीब-करीब एक शाखा बन गया है। बौद्धधर्म, वर्ण-व्यवस्था न स्वीकार करने के कारण अपने विचार और रुख में अधिक स्वतंत्र रहा। अठारह सौ साल हुए ईसाई मत यहां आता है, और बस जाता है, और क्रमशः अपनी अलग जातें बना लेता है। मुसलमानी समाजी संगठन, बावजूद इसके कि उसमें इस तरह के भेदों का जोरदार विरोध हुआ है, इससे कुछ हद तक प्रभावित हुए बिना न रह सका।

हमारे ही जमाने में, जात-पांत की कठोरता को तोड़ने के लिए बीच के वर्ग वालों में बहुत-से आंदोलन हुए हैं और उनसे कुछ अंतर भी पैदा हुआ है, लेकिन जहां तक आम जनता का संबंध है कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। इन आंदोलनों का कायदा यह रहा है कि सीधे हमला किया जाए। इसके बाद गांधीजी आए और उन्होंने मुसलमे को हिंदुस्तानी तरीके पर हाथ में लिया—यानी घुमाव के तरे से—और उनकी निगाह आम जनता पर रही। उन्होंने काफी तरीके पर भी वार किए हैं, काफी छेड़-छाड़ की है, काफी आग्रह साथ इस काम में लगे रहे हैं, लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल बुनियाद में काम करने वाले सिद्धांत को चुनौती नहीं दी। इस व्यवस्था के ऊपर और नीचे जो झाड़-अंखाड़ उग आई है, उसपर उन्होंने किया और यह जानते हुए, कि इस तरह वह जात-पांत को ढूँढ़े की जड़ काट रहे हैं। इसकी बुनियाद को उन्होंने अभी भी हिलाने का प्रयास नहीं किया है। इसकी बुनियाद को उन्होंने अभी भी हिलाने का प्रयास नहीं किया है। उनके लिए यह है कि या तो सारा ढड़का कायम रहे या सारा का सारा टूट जाए। लेकिन गांधीजी की शक्ति से भी बड़ी एक शक्ति काम कर रही है और यह है हमारे वर्तमान जीवन की परिस्थितियाँ—और जान पड़ता है कि अंततः प्राचीन काल के डम निमटे रहने वाला भी अंत होने वाला है।

१७ : बुद्ध की शिक्षा

बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—“सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो। उनसे कहो कि गरीब और दीन, अमीर और कुलीन, सब एक हैं और इस धर्म में सभी जाते इस तरह आकर मिल जाती हैं जिस तरह नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं।” उनका संदेश सभीके लिए दया और प्रेम का संदेश था। क्योंकि “इस दुनिया में घृणा का अंत घृणा से नहीं हो सकता; घृणा प्रेम से ही जाएगी।” और “आदमी को चाहिए कि क्रोध को दया के द्वारा और बुराई को भलाई के द्वारा जीते।”

भले काम करने का और अपने ऊपर संयम रखने का यह आदेश था। “आदमी लड़ाई में हजार आदमियों पर विजय हासिल कर सकता है; लेकिन जो अपने ऊपर विजय पाता है, वही सबसे बड़ा विजयी है।” “जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ही आदमी शूद्र या ब्राह्मण होता है।” “जो पापियों से जान-बूझकर कड़े शब्द कहता है, वह मानो उनके पाप-रूपी घाव पर नमक छिड़कता है।” “विजय घृणा उपजाती है, क्योंकि विजित दुखी होता है।”

अपने इन सब उपदेशों में उन्होंने धर्म का प्रमाण नहीं दिया, न ईश्वर या किसी दूसरी दुनिया का हवाला दिया। वह बुद्धि और तर्क और अनुभव पर भरोसा करते हैं, और लोगों से कहते हैं कि सत्य को अपने मन के भीतर खोजो। कहा जाता है कि उन्होंने कहा—“किसीको मेरे बताए नियमों को आदर की वजह से न मान लेना चाहिए, उसकी परख पहले इस तरह कर लेनी चाहिए जैसे तपाकर सोने की परख की जाती है।” सचाई के न जानने से सभी दुःख उपजते हैं। ईश्वर या परब्रह्म है या नहीं, इसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं बताया है। न वह उसे स्वीकार करते हैं न उससे इन्कार। जहां जानकारी संभव नहीं, वहां हमें अपना निर्णय नहीं देना चाहिए। एक प्रश्न के उत्तर में, बताया जाता है कि बुद्ध ने यह कहा था—“अगर परब्रह्म से तात्पर्य है किसी ऐसी वस्तु से, जिसका सभी जानी हुई वस्तुओं से कोई संबंध नहीं तो किसी तर्क से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह हम कैसे जान सकते हैं कि दूसरी चीजों से असंबद्ध चीज कोई है भी या नहीं? यह सारा विश्व—उसे हम जिस रूप में जानते हैं—संबंधों का एक सिलसिला है: हम कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो बिना संबंध के है या हो सकती है।” इसीलिए हमें अपने को ————— सीमित

रखना चाहिए, जिनका हम अनुभव कर सकते हैं और जिनके बारे में हमें पक्की जानकारी है।

इसी तरह बुद्ध ने आत्मा-के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं कहा है। वह इसे भी न स्वीकार करते हैं और न इससे इन्कार। लेकिन प्रकृति के नियम के स्थायित्व में, और एक व्यापक हेतुवाद में उनका विश्वास है, और इस तरह हर एक वाद की स्थिति अपने से पहले की स्थिति का नतीजा है, अच्छे काम का सुख से और बुरे काम का दुःख से स्वाभाविक संबंध है।

हम अनुभव की इस दुनिया में शब्दों या भाषा का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि 'यह है' या 'यह नहीं है।' लेकिन जब हम सतही पहलुओं के भीतर पैठते हैं, तो इनमें से एक भी, संभव है, सही न हो और जो कुछ हो रहा है उसका वर्णन करने में हमारी भाषा ही अपर्याप्त हो। सत्य 'है' और 'नहीं है' के बीच में या इनसे परे कहीं भी हो सकता है। नदी बराबर बहती है और हर क्षण एक-सी मालूम पड़ती है फिर भी पानी बराबर बदलता रहता है। इसी तरह आग है। लौ जलती रहती है और अपना आकार भी बनाए रखती है, फिर भी वही लौ हमेशा नहीं रहती, बल्कि क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इसी तरह जीवन बराबर बदलता रहता है और अपने सभी रूपों में वह एक धारा की तरह है जिसे हम, 'होने की प्रक्रिया' कह सकते हैं। वास्तविकता कोई ऐसी चीज नहीं है जो बनी रहने वाली और न बदलने वाली हो, बल्कि वह एक प्रकाशवान शक्ति है, जिसमें तीक्ष्णता है, और गति है, और जो नतीजों का एक सिलसिला है। समय की धारणा "केवल एक कल्पना है, जो जिस किसी घटना के आधार पर व्यवहार के लिए बना ली गई है।" हम यह नहीं कह सकते कि कोई एक चीज किसी दूसरी चीज के कारण है क्योंकि 'होने की प्रक्रिया' में कोई अंश ऐसा नहीं है जो स्थायी हो या न बदलने वाला हो। किसी वस्तु का तत्त्व, उसमें निहित नियम में है जो उसे किसी दूसरी कहलाई जाने वाली वस्तु से जोड़ता है। हमारे शरीर और हमारी आत्माएं क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं; उनका अंत हो जाता है और उनकी जगह पर कोई दूसरी चीज, जो उन्हीं जैसी, लेकिन उनसे भिन्न होती है, यह स्थान ले लेती है, और फिर वह भी चली जाती है। एक अर्थ में हम प्रतिक्षण मर रहे हैं और प्रतिक्षण फिर से जन्म ले रहे हैं, और यह क्रम एक अटूट अस्तित्व का आभास देता है। यह 'एक सतत परिवर्तनशील अस्तित्व का सिलसिला' है। प्रत्येक वस्तु बस एक बहाव, मत

और परिवर्तन है ।

बुद्ध का ढंग मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ढंग था, और यहां भी यह देखकर अचरज होता है कि आज के विज्ञान की नई से नई खोजों के कितने निकट उनकी सूझ-बूझ थी । आदमी के जीवन पर विचार और जांच बिना किसी स्थायी आत्मा को माने हुए होती है, क्योंकि अगर किसी ऐसी आत्मा की सत्ता है भी, तो वह हमारी समझ से परे है—मन को शरीर का अंग, मानसिक शक्तियों की एक मिलावट समझा जाता था । इस तरह से व्यक्ति मानसिक स्थितियों की एक गठरी बन जाता है; "आत्मा विचारों का केवल एक प्रवाह है ।" "जो कुछ भी हम हैं, वह जो कुछ भी हमने सोचा है, इसका परिणाम है ।"

जीवन में जो दुःख और व्यथा है, उसपर जोर दिया गया है, और बुद्ध ने जिन 'चार बड़े सत्यों' का बखान किया है, उनमें ये दुःख, उसके कारण, उसे समाप्त करने की संभावना और उसके लिए उपाय बताए गए हैं । अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए, कहा जाता है कि बुद्ध ने कहा था—"तुमने युगों के दौर में जब तुमने इस (दुःख) का अनुभव किया, तुम्हारी आंखों से इतना पानी वह रहा है; जब तुम इस (जीवन की) यात्रा में भटके हो, और तुमने शोक किया है, या तुम रोए हो—क्योंकि जिस वस्तु से तुम घृणा करते रहे हो वह तुम्हें मिली है, और जिस चीज की तुम इच्छा करते रहे हो वह तुम्हें नहीं मिली है, वह सब तुम्हारे आंसुओं का पानी चारों बड़े समुद्रों के पानी से अधिक रहा है ।"

दुःख की इस हालत का अंत कर देने से 'निर्वाण' प्राप्त हो सकता है । 'निर्वाण' है क्या ? इसके बारे में लोगों में बड़ा मतभेद रहा है, क्योंकि एक ऐसी हालत का, जो अनुभव से परे है, किस तरह से हमारे सीमित मस्तिष्क की भाषा में वर्णन हो सकता है । कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल विनाश हो जाना है, बुझ जाना है । लेकिन बुद्ध ने, कहा जाता है कि, इससे इन्कार किया है और यह बताया है कि यह एक अत्यंत क्रियाशीलता की अवस्था है । यह झूठी इच्छाओं के मिट जाने की हालत है, न कि अपने मिट जाने की ।

बुद्ध का बताया हुआ रास्ता मध्यम मार्ग है, और यह अपने को यातना देने और विलास में डुबा देने के बीच का रास्ता है । अंगरेजी के कष्ट देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा है कि जो आदमी अत्यंत मजबूत हो बैठता है, वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता

कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ

अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि हाथ की इन पत्तियों—
 रिक्त क्या और भी कहीं पत्तियाँ हैं? आनंद ने जवाब दिया—
 'झड़ की पत्तियाँ सभी तरफ गिर रही हैं, और वह इतनी हैं कि
 की गिनती नहीं हो सकती।' तब बुद्ध ने कहा—“इसी तरह मैंने
 हैं मुट्ठी-भर मत्त दिए हैं, लेकिन इनके अलावा कई हजार और
 हैं, इतने कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।”

१८ : बुद्ध की कहानी

बुद्ध की कहानी ने मुझे शुरू बचपन में ही आकर्षित किया था और
 मैं युवा सिद्धार्थ की तरफ खिंचा था, जिसने बहुत-से अंतर्द्वन्द्वों, दुःख,
 और यातना के बाद बुद्ध का पद प्राप्त किया था। एडविन आर्नल्ड
 की किताब 'लाइट ऑफ एशिया' मेरी एक प्रिय पुस्तक बन गई। बाद
 में जब मैंने अपने प्रांत में बहुत-से दौरे किए, तब मैं बुद्ध की कथा से
 संबंध रखने वाली बहुत-सी जगहों पर, अपने यात्रा-मार्ग से हटकर
 भी, जाना पसंद करता था। इनमें से अधिक स्थान या तो मेरे ही सूत्रों
 में हैं या उसके निकट हैं। यहीं (नेपाल की सरहद पर) बुद्ध का जन्म
 हुआ, यहीं वह घूमते-फिरते रहे, यहीं (गया बिहार में) उन्होंने बोधि-
 वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया, यहीं उन्होंने अपना पहला उपदेश
 दिया, यहीं वह मरे।

जब मैं उन देशों में गया, जहाँ बौद्धधर्म अब भी एक जीत
 जागता और चाम धर्म है, तब मैंने जाकर मंदिरों और मठों को देखा
 और भिक्षुओं और आम लोगों से मिला, और यह जानने की कोशिश
 की कि बौद्धधर्म ने जनता के लिए क्या किया। बौद्धधर्म के बुद्धि-
 वादी नैतिक सिद्धांतों पर इतना कूड़ा-करकट जमा हो गया है, कि
 कर्मकांड, इतने विधि-विधान, और बुद्ध की शिक्षा के बावजूद, कि
 आधिर्भातिक सिद्धांत और जादू-टोना तक इकट्ठा हो गया है, कि
 कहा जाए। और बुद्ध के सतर्क कर देने पर भी उन्हें ईश्वर माना
 है, और उनकी बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ बन गई हैं, जिन्हें मैंने मंदिरों
 और और जगहों में, अपने सिर की ऊँचाई से भी ऊपर स्थापित
 है। बहुत-से भिक्षु श्रमपढ़ लोग हैं, बल्कि घमंडी हैं, क्योंकि वे यह
 हैं कि उनके सामने माया झुकाया जाए—अगर उनके सामने
 तो उनके भेस के सामने।
 लेकिन मैंने बहुत कुछ ऐसा भी देखा जिसे कि मैंने पसंद

कुछ मठों में और उनसे लगे विद्यालयों में ध्यान और शांति से अध्ययन करने का वातावरण था। बहुत-से भिक्षुओं के चेहरों पर शांति और नम्रता मिली, और ओज और दया और तटस्थता का भाव मिला, और संसार की चिंताओं से मुक्ति दिखाई दी।

जान पड़ता है कि बुद्ध की वह कल्पना, जिसे अनगिनत प्रेमपूर्ण हाथों ने, पत्थर और संगमरमर और कांसे में, गढ़कर साकार किया है, हिंदुस्तानियों के विचारों और भावों की प्रतीक है, या कम से कम उसके एक ज़िदा पहलू की प्रतीक है। कमल के फूल पर शांत और धीर, वासनाओं और इच्छाओं से परे, इस दुनिया के तूफान और कशमकश से दूर, वह इतने ऊपर, इतने दूर मालूम पड़ते हैं कि जैसे पहुंच से बाहर हों। लेकिन जब फिर उन्हें देखते हैं, तो उस शांत अडिग आकृति के पीछे एक आवेग और मनोभाव जान पड़ता है, जो अनोखा है और उन आवेगों और मनोभावों से, जिनसे हम परिचित हैं, ज्यादा जोरदार है। उनकी आंखें मुंदी हुई हैं लेकिन चेतना की कोई शक्ति उनके भीतर से दिखाई देती है और शरीर में एक जीवन-शक्ति भरी हुई जान पड़ती है। युग पर युग बीतते हैं फिर भी बुद्ध इतने दूर के नहीं जान पड़ते; उनकी वाणी हमारे कानों में कुछ धीमे स्वर से कहती जान पड़ती है और यह बताती है कि हमें संघर्ष से भागना नहीं चाहिए बल्कि धीरे नेत्रों से उसका सामना करना चाहिए और ज़िंदगी में विकास और तरक्की और और भी बड़े अवसरों को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्व का असर है और जिस व्यक्ति ने इंसान के विचारों पर अपनी वह छाप डाली हो जो बुद्ध ने डाली, जिसमें कि आज भी हम उनकी कल्पना में कोई जीती-जागती थराहट पैदा करने वाली चीज पाते हैं वह व्यक्ति बड़ा ही अद्भुत रहा होगा—ऐसा आदमी जो वार्थ के शब्दों में “शांत और मधुर प्रभुता की राजी हुई मूर्ति था, जिसमें सभी प्राणियों के लिए अपार कृपा थी, जिसे पूरी नैतिक स्वतंत्रता मिली हुई थी और जो सभी तरह के पक्षपात से अलग था।” और उस कौम और जाति में जो ऐसे विशाल नमूने पैदा कर सकती है बुद्धिमानी और भीतरी ताकत का कैसा गहरा संचय होगा?

१६ : चंद्रगुप्त व चाणक्य : सौर्य-साम्राज्य की स्थापना

धीरे-धीरे बौद्धधर्म हिंदुस्तान में फैल गया; इसके नैतिक और लोकतंत्री पहलू और विरोधकर पुरोहिताई और कर्मकांड के विरोध,

ग्राम लोगों को पसंद आए। लेकिन ग्राम तौर पर ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और बौद्धों को नास्तिक और स्थापित धर्म के विरुद्ध विद्रोह करने वाला बताया। ढाई सदी बाद सम्राट् अशोक ने इस धर्म में दीक्षा ली और शांति के साथ इस धर्म का हिंदुस्तान में और बाहर प्रचार करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी।

इन दो सदियों में हिंदुस्तान में बहुत-से परिवर्तन हुए। जातीय ऐक्य स्थापित करने की और छोटे-छोटे राज्यों, रजवाड़ों तथा गणराज्यों को मिलाकर एक रूप देने की बहुत-सी प्रक्रियाएं बहुत दिनों से जारी थीं; एक संयुक्त केन्द्रीय राज्य स्थापित करने की पुरानी प्रेरणा भी काम कर रही थी और इन सबका परिणाम यह हुआ कि एक शक्तिशाली शानदार साम्राज्य स्थापित हो गया। पच्छिमोत्तर में होने वाले सिकंदर के आक्रमण ने इस विकास को और भी आगे ढकेलने में मदद दी, और दो ऐसे मार्गों के आदमी सामने आए जिन्होंने इस बदलती हुई हालत से लाभ उठाया और उसे अपनी इच्छा के अनुकूल ढाल लिया। ये थे—चंद्रगुप्त मौर्य और उनके मित्र मंत्री और सलाहकार ब्राह्मण चाणक्य। इनके मेल से खूब काम चला। दोनों ही नंदों के मगध राज्य से जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) थी निकाले हुए थे। दोनों ही पच्छिमोत्तर से तक्षशिला पहुंचे और वहां सिकंदर के नियुक्त यूनानियों के संपर्क में आए। चंद्रगुप्त सिकंदर से स्वयं मिला; उसकी विजयों और शान-शौकत का हाल सुना और उसीकी वरावरी करने का उसके मन में हौसला पैदा हुआ। दोनों देखभाल और तैयारी में लगे रहे। उन्होंने बड़े ऊंचे मनसूबे बांधे और अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहे।

जल्द ही उन्हें काबुल से सिकंदर के (३२३ ई० पू० में) मरने की खबर मिली और तुरंत चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना और सदा नया नारा बुलंद किया। यूनानियों की संरक्षक सेना तक्षशिला से भगा दी गई। राष्ट्रीयता की पुकार ने चंद्रगुप्त को बहुत-से साथी दिए और उन्हें साथ लेकर उत्तरी हिंदुस्तान पार करते हुए उसने पाटलिपुत्र पर धावा कर दिया! सिकंदर की मृत्यु के दो साल के भीतर ही उसने इस शहर पर और राज्य पर अधिकार कर लिया और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना हो गई।

सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस ने जिसने अपने स्वामी की मृत्यु के बाद एशिया माइनर से लेकर हिंदुस्तान तक के प्रदेश पर उत्तराधिकार

पाया था पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान पर फिर से हुकूमत कायम करनी चाही और उसने अपनी फौज लेकर सिंधु नदी पार कर ली। वह परास्त हुआ, और काबुल और हिरात तक अफगानिस्तान का एक हिस्सा उसे चंद्रगुप्त को देना पड़ा और उसने अपनी लड़की भी चंद्रगुप्त के साथ व्याह दी। दक्खिन हिंदुस्तान को छोड़कर सारे हिंदुस्तान पर—अरब समुद्र से लेकर बंगाल की खाड़ी तक—चंद्रगुप्त का साम्राज्य फैला हुआ था, और उत्तर में यह काबुल तक पहुंचता था। लिखित इतिहास में यह पहला अवसर था कि हिंदुस्तान में एक केन्द्रीय शासन इतने बड़े पैमाने पर बना। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

यह नया शासन था कैसा? सौभाग्य से इसके पूरे-पूरे हाल हमें मिलते हैं हिंदुस्तानियों के लिखे हुए भी और यूनानियों के भी। मेगस्थनीज ने, जो सेल्यूकस का भेजा हुआ राजदूत था, वृत्तांत लिखा है और उससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में, जो राजनीति-शास्त्र पर एक पुस्तक है, हमें उसी काल का लिखा हुआ हाल मिलता है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है, और इस तरह हमें एक ऐसी पुस्तक देखने को मिलती है, जिसका लिखने वाला न केवल एक विद्वान था, बल्कि जिसने साम्राज्य के स्थापित करने, उसे उन्नति देने और उसकी रक्षा में बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। चाणक्य को हिंदुस्तान का मैकियाविली कहा गया है, और कुछ हद तक यह तुलना उचित भी है। लेकिन हर अर्थ में वह उसके मुकाबले में बहुत बड़ा आदमी था—मस्तिष्क में भी और काम में भी। वह एक राजा का केवल समर्थक अथवा शक्तिशाली सम्राट का दीन सलाहकार न था। हिंदुस्तान के एक पुराने नाटक—मुद्राराक्षस में, जो उस समय का हाल वर्णन करता है, उसका चित्र हमें मिलता है। साहसी और पद्योंवी, गर्वीला और बदला लेने वाला, अपमान को कभी न भूलने वाला, अपने उद्देश्य पर बराबर डटा रहने वाला, दुश्मन को धोखे में डालने और हराने की सभी तरह की तरकीबों को काम में लाने वाला—इस रूप में हम उसे एक साम्राज्य की बागडोर को हाथ में लिए देखते हैं; और वह सम्राट को अपने मालिक की तरह नहीं, बल्कि एक प्रिय शिष्य की तरह देखता है। अपने जीवन में सीधा-सादा और तपस्वी, ऊंचे पद की शान-शोकांत में रुचि न लेने वाला है; और जब उसका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है, तो वह काम से छुट्टी पा लेना चाहता है और ब्राह्मण की तरह, मनन का जीवन बिताना चाहता है। कहते हैं कि... ने, अपने

ऊँचे पद की मुहर को, स्वयं ही उस विपक्षी के मंत्री के सुपुर्द कर दिया था, जिसकी बुद्धिमानी और राजभक्ति का चाणक्य पर बड़ा असर पड़ा था। इस तरह से यह कया हार और अपमान की कड़वाहट के साथ नहीं, बल्कि समझाते के साथ और राज्य की दृढ़ और बनी रहने वाली बुनियाद के रखने के साथ, समाप्त होती है, जिसमें बैरी की हार ही नहीं होती है, बल्कि उसे दिल से भी अपने में मिला लिया जाता है।

२० : राज्य का संगठन

यह नया राज्य, जो ३२१ ई० पू० में कायम हुआ और हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से पर और उत्तर में ठीक काबुल तक फैला, आखिर था कैसा राज्य? यह एक निरंकुश शासन था, और ऊपर के सिरे पर हम इसमें तानाशाही पाते हैं, जैसा कि अधिकतर साम्राज्यों में रहा है और अब भी है। शहरों और गांवों की इकाइयों में बहुत कुछ स्थानीय स्वायत्तता थी और चुने हुए बुजुर्ग इन स्थानीय मामलों की देखभाल किया करते थे। इस स्थानीय स्वराज्य की बड़ी कद्र थी, और शायद ही किसी राजा या सबसे बड़े शासक ने इसमें दखल दिया हो। फिर भी, केन्द्रीय शासन का असर था और उसके तरह-तरह के काम सभी जगह देखने में आते थे, और कुछ अर्थों में यह मॉयें-शासन ऐसा था कि आधुनिक तानाशाहियों की याद दिलाता है। उस शुद्ध कृषि-युग में राज्य व्यक्ति पर, उस तरह की बंदिशें, जैसी आजकल दिखती हैं, लगा नहीं सकता था। लेकिन सब सीमाओं के बावजूद, जिदगी पर रोक लगाने की और उसे नियंत्रित करने की कोशिशें हुईं। यह शासन केवल पुलिस शासन न था जिसका उद्देश्य बाहरी और भीतरी शांति कायम रखना और लगान वसूल करना रहा हो।

एक काफी फैली हुई और कड़ी नांकरशाही थी और खुफिया विभाग के वर्णन अक्सर मिलते हैं। खेती पर बहुत तरीकों से नियंत्रण लगे हुए थे, और यही हालत सूद के दर की थी। खाने की चीजों, मंडियों, कारखानों, कसाईखानों, पशुओं की नस्लकशी, पानी के हकों, शिकार, वेश्याओं और शराबखानों पर बंदिशें लगी हुई थीं, और इनकी नियमित जांच हुआ करती थी। मापें और तौलें सब जगहों के लिए एक-सी कर दी गई थीं। खाने की चीजों के भरने और उनमें मिलावट करने पर कड़ी सजाएं मिलती थीं। व्यापार पर कर लगा हुआ था और इसी तरह धर्म के कामों पर भी। नियमों का पालन न हुआ था और कोई

अपराध हुआ तो मंदिरों का घन ज्वल कर लिया जाता था। अगर अमीर लोग ग़दर करते या कौसी संकटों से फायदा उठाते, तो उनकी जायदाद ज्वल कर ली जाती। सरकारी का प्रबंध किया जाता था और अस्पताल खुले हुए थे और खास-खास केन्द्रों पर वैद्य नियुक्त रहते थे। सरकार की तरफ से विधवाओं, यतीनों, बीमारों और कमजोरों को मदद दी जाती थी। अकाल से बचाने की खास जिम्मेदारी शासन की होती थी और सरकार के भंडारों में जो कुछ भी गल्ला होता, उसका आधा केवल इसलिए बचाकर रखा जाता था कि अकाल के ज़माने में काम आवे।

चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में अनेकानेक विषयों का बयान हुआ है—व्यापार और वाणिज्य, कानून और न्यायालय, म्यूनिसिपल व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह और तलाक, औरतों के अधिकार, राज्य-कर और लगान, खेती, खानों और कारखानों का चलाना, व्यवसायी मंडियां, दागदानी, उद्योग-धंदे, आपराधी और जल-मार्ग-जहाज और जहाजरानी, निगम, मदमशुमारी, मछली पकड़ने का धंधा, कलाईखाने, पासपोर्ट, और कैदखाने। विधवा का पुनर्विवाह मान्य है, और किन्हीं खास हालतों में तलाक भी। चीन के बने रेशमी कपड़े, चीन-पट्ट, का हुवाला मिलता है और इस कपड़े में और हिंदुस्तान के बने रेशम के कपड़े में फर्क बताया गया है।

साम्राज्य में व्यापार खूब होता था और दूर-दूर जगहों के बीच चाँड़ी सड़के बनी हुई थीं। इस विशाल साम्राज्य में बहुत-से, बड़ी आबादी वाले शहर थे, लेकिन उन सबमें बड़ा शहर पाटलिपुत्र था, जो राजधानी था, और यह आलीशान शहर गंगा और सोन के संगम पर (वर्तमान पटना) बसा हुआ था। मेगस्थनीज ने इसका यों बयान किया है: "इस नदी (गंगा) और एक दूसरी नदी के संगम पर पालि योत्र बसा हुआ है—जो कि अस्सी स्टेडिया (६२ मील) लंबा और पंद्रह स्टेडिया (१७ मील) चौड़ा है। इसकी शकल समचतुष्कोण की है और यह लकड़ी की चारदीवारी से घिरा हुआ है, जिसमें तीर चलाने के लिए सड़ें बनी हुई हैं। सामने इसके एक खाई है, जो हिफाजत के लिए है और जिसमें शहर का गंदा पानी पहुंचता है। यह खाई, जो चारों तरफ घूमी हुई है, चौड़ाई में ६०० फीट है, और गहराई में ३० हाथ; और दीवाल पर ५७० बुजें हैं, और उसमें ६४ फाटक हैं।"

यह दीवाल ही लकड़ी की नहीं थी, बल्कि लोहा —

लकड़ी के थे । स्पष्ट है कि यह भूकम्प से बचाव के लिए था, क्योंकि उस प्रदेश में भूकम्प अक्सर आते ही रहे हैं । पाटलिपुत्र में, लोगों की चुनी हुई म्युनिसिपल सभा भी थी । इसके ३० सदस्य थे, और वह पांच-पांच की ६ समितियों में बंटे हुए थे और इनके हाथ, व्यापार, दस्तकारी, मौत और पैदाइश, उद्योग-धंधों, यात्रियों वगैरह के प्रबंध थे । रुपये-पैसे, सफाई, पानी पहुंचाना, सार्वजनिक इमारती और वगीचों की देखभाल पूरी नगरसभा के जिम्मे थी ।

२१ : अशोक

हिंदुस्तान और पच्छिमी दुनिया से जो संपर्क चंद्रगुप्त मौर्य ने काम्य किए थे, वह उसके बेटे बिंदुसार के लंबे राज्य-काल में बने रहे । पाटलिपुत्र के दरबार में, मित्त के टोलमी और पच्छिमी एशिया के सेल्यूकस निकटोर के बेटे और उत्तराधिकारी ऐंटिओकस के यहां से एलची आते रहे । चंद्रगुप्त के पोते अशोक ने यह संपर्क और भी बढ़ाया और इसके जमाने में हिंदुस्तान एक महत्त्व का अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया—खास तौर से बौद्धधर्म के तेजी से बढ़ते हुए प्रचार की वजह से ।

२७४ ई० पू० में अशोक इस बड़ साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ । इससे पहले वह पच्छिमोत्तर सूबे में, जहां की राजधानी, अपने विद्यापीठ के लिए मशहूर, तक्षशिला थी, राजा के प्रतिनिधि के रूप में रह चुका था । उस समय ही साम्राज्य के भीतर हिंदुस्तान का ज्यादातर हिस्सा आ गया था और वह ठीक मध्य एशिया तक फैला हुआ था । सिर्फ दक्खिन-पूरव और दक्खिन का एक हिस्सा इनमें नहीं आ पाया था । सारे हिंदुस्तान को एक शासन के मातहत ले आने के पुराने सपने ने अशोक को उकसाया, और उसने पूरबी समुद्र-तट के कर्निग प्रदेश को जीतने की ठानी । यह प्रदेश मोटे ढंग से आजकल के उड़ीसा और आंध्र देश का एक हिस्सा मिलकर बनेगा । कर्निग के लोगों को बहादुरी से मुकाबला करने के बावजूद अशोक की सेना जीत गई । इस लड़ाई में भयानक नारकाट हुई और जब अशोक के पास समाचार पहुंचे तो उसे बड़ा पछतावा हुआ और युद्ध से उसका जी फिर गया । विजयी सम्राटों और इतिहास के नेताओं के बीच वह अकेला व्यक्ति है जिसने विजय के क्षण में यह निश्चय किया कि वह आग युद्ध न करेगा । सारे हिंदुस्तान ने उसका आधिपत्य स्वीकार

कर लिया—सिवाय धुर दक्खिन के एक टुकड़े के, जिसे वह इच्छा करने भर से अपने अधिकार में ला सकता था । लेकिन उसने अपने राज्य को बढ़ाया नहीं, और बुद्ध की शिक्षा के असर में उसका मन दूसरी ही तरह की विजयों और साहसी कामों की तरफ फिरा ।

अशोक के क्या विचार थे, और उसने क्या किया, यह हम उसके ही शब्दों में, उन बहुत-से आदेशों में जो उसने जारी किए थे और जो कि पत्थरों और धातुओं पर अंकित किए गए थे, जानते हैं । उसके एक आदेश में यह कहा गया है :

“परम पवित्र प्रियदर्शी सम्राट ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता । एक लाख पचास हजार आदमी वहां से कैदी के रूप में लाए गए; एक लाख आदमी वहां पर मारे गए और इस संख्या के कई गुने लोग और मरे ।

“कलिंग के साम्राज्य में मिल जाने के ठीक बाद ही प्रियदर्शी सम्राट का अहिंसा-धर्म का पालन करना, उस धर्म से प्रेम और उसका प्रचार शुरू होता है । इस तरह प्रियदर्शी सम्राट का कलिंग-विजय पर परचात्ताप उदय होता है, क्योंकि न जीते गए देश के जीते जाने के साथ ही हत्याएं और मौतें होती हैं और लोग बंदी करके ले जाए जाते हैं । यह प्रियदर्शी सम्राट को महान शोक पहुंचाने वाली बात है ।”

इस अदभुत शासक ने, जिसे कि अब तक हिंदुस्तान में और एशिया के दूसरे हिस्सों में प्रेम के साथ याद किया जाता है, बुद्ध के गत्कमं और सद्भाव की शिक्षा के फैलाने में, और जनता के हित के कामों में अपने को पूरी तरह लगा दिया । “सब समय और सब तरह, चाहे मैं खाना खाता होऊं, चाहे रनिवास में होऊं, चाहे अपने शयन में रहूं, या स्नान में, सवारी पर रहूं या महल के बाग में, सरकारी कर्मचारी, जनता के कार्यों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें । ... जिस समय भी हो, और जहां भी हो, मैं लोकहित के लिए काम करूंगा ।”

उसके दूत और एलची सीरिया, मिस्र, मैसेडोनिया, साइरान और एपाइरस तक बुद्ध के संदेश और उसकी शुभकामनाओं को पहुंचाते । वह मध्य एशिया भी गए, और वरमा और त्याम नी, और उसने स्वयं अपने बेटे और बेटी, महेन्द्र और संघमित्रा को दक्षिण में लंका भेजा । सभी जगह मस्तिष्क और हृदय को फेरने के प्रयत्न हुए; कोई बल या जोर का प्रयोग नहीं किया गया । स्वयं बुद्ध जीते होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिए आदर का भाव दिखाया ।

आदेश में उसने यह विज्ञापित किया—“सभी मत, किसी न किसी कारण, आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।”

बौद्धधर्म, हिंदुस्तान में, काश्मीर से लेकर लंका तक, बड़ी तेजी के साथ फैला। यह नेपाल में भी पैठा, और बाद में तिब्बत और चीन और मंगोलिया तक पहुंचा। हिंदुस्तान में इसका एक परिणाम यह हुआ कि शाकाहार बढ़ा और शराब पीने से लोग बचने लगे। उस वक्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराब पीते थे। पशुओं का बलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से सम्पर्क होने और धर्म के प्रचारकों के बाहर जाने का नतीजा यह अवश्य हुआ होगा कि हिंदुस्तान और बाहर के मुल्कों में व्यापार बढ़ा हो। खुतन (अब मध्य एशिया में सिन-ज्यांग) में हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का वर्णन हमें प्राप्त हुआ है। हिंदुस्तान के विद्यापीठों में खास तौर से तक्षशिला में बाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक बड़ा निर्माता भी था, उसके पाटलिपुत्र के महल को बहुत-से खंभों वाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए, पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डाक्टर स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है कि “यह ऐसी सुरक्षित हालत में पाई गई है कि विश्वास नहीं होता है। इसमें लगी हुई शहतीरें वैसे ही चिकनी और ठीक हालत में हैं, जैसी कि वे उस दिन रहीं होंगी जबकि वे लगाई गई थीं, यानी दो हजार से ज्यादा साल पहले।” आगे चलकर वह यह भी लिखते हैं कि “पुरानी लकड़ी की ऐसी रखा—उनके किनारे इतने सही-सही और पक्के थे, कि उनके जोड़ों की लकीरों तक का पता न चलता था—देखकर सभी देखने वालों की हैरत का ठिकाना न था। सब की सब चीजें ऐसी सफाई और होशियारी से बनी थीं कि उनसे अच्छा काम आज भी हो सकना मुमकिन नहीं है—संदेह में यह कि बनावट इतनी पक्की थी कि जितनी कि इस तरह के कामों में हो सकती है।”

अशोक की मृत्यु ईसा से पहले २३२वें साल में हुई, जबकि वह इकतालीस साल राज कर चुका था। इसके बारे में एच०जी०वेल्स ने अपनी ‘आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री’ में लिखा है—“बादशाहों के दस्तियों हजार नामों में, जिनसे कि इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं, जिनमें बड़े-

बड़े नहराजे, और महामहिम और सम्राट हैं, अशोक का नाम अकेला
 चमक रहा है और इस तरह से चमक रहा है जैसे कोई सितारा हो ।
 बोलगा से लेकर जापान तक उसका नाम आज भी आदर के साथ लिया
 जाता है । चीन, तिब्बत और हिंदुस्तान भी (जहां उसकी शिक्षाएं
 यद्यपि त्याग दी गई हैं) उसके बड़प्पन की परंपरा की रक्षा करते हैं ।
 आज के जितने जीवित व्यक्ति उसकी स्मृति को बनाए हुए हैं, उतने
 लोगों ने कांस्टेंटाइन और शार्लमेन के नाम कभी गुने भी न होंगे ।"

आदेश में उसने यह विज्ञापित किया—“सभी मत, किसी न किसी कारण, आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है, साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।”

बौद्धधर्म, हिंदुस्तान में, काश्मीर से लेकर लंका तक, बड़ी तेजी के साथ फैला। यह नेपाल में भी पैठा, और बाद में तिब्बत और चीन और मंगोलिया तक पहुंचा। हिंदुस्तान में इसका एक परिणाम यह हुआ कि शाकाहार बढ़ा और शराब पीने से लोग बचने लगे। उस वक्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराब पीते थे। पशुओं का बलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से सम्पर्क होने और धर्म के प्रचारकों के बाहर जाने का नतीजा यह अवश्य हुआ होगा कि हिंदुस्तान और बाहर के मुल्कों में व्यापार बढ़ा हो। खुतन (अब मध्य एशिया में तिन-व्यांग) में हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का वर्णन हमें प्राप्त हुआ है। हिंदुस्तान के विद्यापीठों में खास तौर से तक्षशिला में बाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक बड़ा निर्माता भी था, उसके पाटलिपुत्र के महल की बहुत-से खंभों वाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए, पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डाक्टर स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है कि “यह ऐसी सुरक्षित हालत में पाई गई है कि विश्वास नहीं होता है। इसमें लगी हुई शहतीरें वैसे ही चिकनी और ठीक हालत में हैं, जैसी कि वे उस दिन रहीं होंगी जबकि वे लगाई गई थीं, यानी दो हजार से ज्यादा साल पहले।” आगे चलकर वह यह भी लिखते हैं कि “पुरानी लकड़ी की ऐसी रखा—उनके किनारे इतने सही-सही और पक्के थे, कि उनके जोड़ों की लकीरों तक का पता न चलता था—देखकर सभी देखने वालों की हैरत का ठिकाना न था। सब की सब चीजें ऐसी सफाई और होशियारी से बनी थीं कि उनसे अच्छा काम आज भी हो सकना मुमकिन नहीं है। संक्षेप में यह कि बनावट इतनी पक्की थी कि जितनी कि इस तरह के कामों में हो सकती है।”

अशोक की मृत्यु ईसा से पहले २३२वें साल में हुई, जबकि वह इकतालीस साल राज कर चुका था। इसके बारे में एच०जी०वेल्स ने अपनी ‘आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री’ में लिखा है—“बादशाहों के दसियों हजार नामों में, जिनसे कि इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं, जिनमें बड़े

वड़े महाराजे, और महामहिम और सम्राट हैं, अशोक का नाम अकेला चमक रहा है और इस तरह से चमक रहा है जैसे कोई सितारा हो। वोल्गा से लेकर जापान तक उसका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और हिंदुस्तान भी (जहां उसकी शिक्षाएं यद्यपि त्याग दी गई हैं) उसके वड़प्पन की परंपरा की रक्षा करते हैं। आज के जितने जीवित व्यक्ति उसकी स्मृति को बनाए हुए हैं, उतने लोगों ने कांस्टैंटाइन और शार्लमेन के नाम कभी सुने भी न होंगे।”

युगों का चक्र

१ : गुप्तकाल में राष्ट्रीयता और समाजवाद

भीर्य-साम्राज्य का अंत हुआ और उसकी जगह शुंग-वंश ने ली। इसका राज्य उसकी अपेक्षा बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्खिन में बड़े-बड़े राज्य उठ रहे थे और उत्तर में बाज्जीय हिंदी यूनानी काबुल से पंजाब तक फैल गए थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र पंजाब तक फैल गए थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया, लेकिन मार भगाए गए। स्वयं मेनांडर पर हिंदु-स्तान के रंग-रंग और वातावरण का असर पड़ा और वह बौद्ध बन गया, और वह एक प्रसिद्ध बौद्ध हुआ। आम बौद्ध-परंपरा में यह राजा मिलिंद कहलाया और इसे संत जैसा ही माना गया है। हिंदुस्तानी और यूनानी संस्कृतियों के मेल-जोल से गंधार की अर्थात् अफगानी सरहदी सूवे की यूनानी बौद्धकला का जन्म हुआ।

मध्य हिंदुस्तान में, सांची के निकट, वेसनगर में एक पत्थर की जाट है, जो हैलियोडोरस की लाट के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका समय ईसा पूर्व पहली सदी है। इसपर संस्कृत में एक लेख खुदा हुआ है। इससे हमें इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह यूनानी, जो हिंदुस्तान की सरहद पर आए थे, हिंदुस्तानी बन रहे थे और हिंदुस्तानी संस्कृति में समाविष्ट हो रहे थे।

कुषाणों के समय में, बौद्धधर्म दो टुकड़ों में बंट गया—एक महा-यान और दूसरा हीनयान कहलाया—और दोनों में बड़े विवाद होते थे और बड़ी-बड़ी सभाओं में, जिनमें सारे हिंदुस्तान से प्रतिनिधि इकट्ठे होते थे, झगड़े के विषयों को लेकर बहसें हुआ करती थीं। इन विवादों में एक नाम बहुत आगे आता है, वह है नागार्जुन का, जो पहली सदी ईसवी में हुआ था। यह बौद्ध-शास्त्रों का और हिंदुस्तानी दर्शन का बहुत बड़ा ज्ञाता था, और इसीकी वजह से हिंदुस्तान में

महायान-मत की जीत हुई। महायान के ही सिद्धांत चीन में फैले। लंका और वरमा हीनयान के सिद्धांत को मानते रहे।

कुषाण हिंदुस्तानी बन गए थे और हिंदुस्तानी संस्कृति के संरक्षक थे। फिर भी राष्ट्रीय विरोध की धारा भीतर-भीतर इस शासन के विरुद्ध चल रही थी और जब बाद में नई जातियां हिंदुस्तान में आईं, तब इस राष्ट्रीय और विदेशियों का विरोध करने वाले आंदोलन ने चौथी सदी ईस्वी में एक रूप ग्रहण कर लिया। एक-दूसरे बड़े शासक न, जिसका नाम भी चन्द्रगुप्त था, नये आक्रमणकारियों को मार भगाया और एक शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया।

इस तरह से साम्राज्यवादी गुप्तों का समय, ३२० ई० में आरंभ होता है, जिसमें एक के बाद एक कई बड़े शासक पैदा होते हैं, जो न केवल युद्ध में विजयी होते हैं, बल्कि शांति की कलाओं में भी सफलता दिखाते हैं। दार-दार के हमलों ने विदेशियों के विरुद्ध एक दृढ़ भावना पैदा कर दी थी। और देश के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इस बात पर विवश हुए कि अपने देश की और संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ करें। इस बात की कोशिश की गई कि पुराने ब्राह्मण-आदर्शों की नींव पर एक संगठित शासन स्थापित किया जाए।

धर्म और दर्शन, इतिहास और परंपरा, रीति-रिवाज और सामाजिक व्यवस्था, जो उस काल के हिंदुस्तान के जीवन को अपने घेरे में लिए हुए थी और जिसे ब्राह्मण धर्म या (बाद में व्यवहार में आए हुए शब्द द्वारा) हिंदूधर्म कह सकते हैं, इस राष्ट्रीयता का प्रतीक बना। यह वास्तव में एक राष्ट्रीय धर्म था और यह सब उन जातीय और सांस्कृतिक गहरी भावनाओं के अनुकूल था, जो आज सब जगह राष्ट्रीयता की नींव में हैं। बौद्धधर्म की भी, जो हिंदुस्तानी विचार से उपजा था, अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि थी। उसके लिए हिंदुस्तान वह देश था जहां बुद्ध रहते थे, उन्होंने उपदेश दिया था और जहां वह मरे थे। लेकिन मूल में बौद्धधर्म अंतर्राष्ट्रीय था, सारी दुनिया का धर्म था, और जैसे-जैसे इसने विकास पाया और फैला, तैसे-तैसे वह अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय होता गया। इन तरह पुराने ब्राह्मण-धर्म के लिए यह स्वाभिक था कि वह दार-दार राष्ट्रीय जागृतियों का प्रतीक बने।

चौथी सदी से लेकर कोई डेढ़ सौ साल तक गुप्त वंश ने उत्तर में एक बड़े शक्तिशाली और संपन्न राज्य के ऊपर शासन किया। कर्नाट

डेढ़ सौ साल तक और उनके उत्तराधिकारी यह राज्य चलाते रहे, लेकिन वे अपनी रक्षा करने में लगे रहे और उनका साम्राज्य सिमटता और कमशः छोटा होता रहा। मध्य एशिया से नये आक्रमणकारी हिंदुस्तान में उतर रहे थे और इसपर हमले कर रहे थे। ये लोग श्वेत हूण थे और इन्होंने देश में लूट-मार की, उसी तरह जिस तरह कि ऐटिला यूरोप में कर रहा था। उनके बर्बर व्यवहार और पैशाचिक निर्दयता ने अंततः लोगों को जगाया और यशोवर्धन के नेतृत्व में मिल-जुलकर लोगों ने उनपर हमला किया। हूणों की शक्ति तोड़ दी गई और उनके नेता मिहिरगुल को कैद कर लिया गया। लेकिन गुप्तों के वंशज, बालादित्य ने, अपने देश की परंपरा के अनुसार, उसको साथ उदारता का व्यवहार किया, और उसे हिंदुस्तान से वापस जाने दिया। मिहिरगुल ने इस बर्ताव का यह बदला दिया कि बाद में वह फिर लौटा और उसने अपने कृपपी पर कपाट से हमला किया।

लेकिन हिंदुस्तान में हूणों का राज्य थोड़े दिनों का था—कोई आधी सदी का। कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन ने उन्हें कुचल दिया और बाद में उसने एक शक्तिशाली राज्य का स्वयं संगठन किया, जो सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य एशिया तक फैला हुआ था। वह बड़ा उत्साही बौद्ध था, लेकिन उसका मत, महायानी बौद्धधर्म था, जो बहुत कुछ हिंदूधर्म के निकट था। उसने बौद्धधर्म और हिंदूधर्म दोनों की ही मदद की। इसीके समय में मशहूर चीनी यात्री ह्वेनसांग हिंदुस्तान में (६२६ ई० में) आया था। हर्षवर्द्धन कवि और नाटककार भी था और इसके दरबार में बहुत-से कलाकार और कवि रहते थे और इसकी राजधानी सांस्कृतिक गतिविधियों का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गई थी।

२ : दक्खिनी हिंदुस्तान

मौर्य-साम्राज्य के सिमटकर खत्म हो जाने के एक हजार से अधिक वर्ष बाद तक, दक्खिनी हिंदुस्तान में, बड़े-बड़े राज्य पनपे। आंध्रों ने शकों को हराया था। बाद में ये कुशानों के समकालीन रहे। इसके बाद पच्छिम में चालुक्य साम्राज्य स्थापित हुआ और इसके पीछे राष्ट्रकूट आए। धुर दक्खिन में पल्लवों का राज्य था, और यहीं से अधिकतर वे हिंदुस्तानी बाहर गए जिन्होंने उपनिवेश स्थापित किए थे। इसके बाद चोल साम्राज्य बना और यह सारे प्रायद्वीप

पर छा गया और इसने लंका और वरना तक पर विजय प्राप्त की।
अंतिम बड़ा चाल राजा, राजेन्द्र था, जिसकी १०४४ ई० में मृत्यु हुई।

दक्खिनी हिंदुस्तान अपने सूक्ष्म कला-कौशल और समुद्री व्यापार के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। इसकी समुद्री शक्तियों में गिनती थी और यहां के जहाज दूर देशों तक सामान पहुंचाया करते थे। उत्तरी हिंदुस्तान में जो बार-बार हमले होते रहते थे, उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दक्खिन पर नहीं पड़ता था। यह अवश्य था कि उत्तर से बहुत-से लोग जिनमें कारीगर, थवई और शिल्पी भी थे, दक्खिन में जाकर बस जाया करते थे। इस तरह दक्खिन पुरानी कला-परंपरा का केन्द्र बन गया।

३ : आज़ादी के लिए हिंदुस्तान की उमंग

पूरव ने तूफान के आगे सिर झुका लिया—

धैर्य और गहरी लापरवाही के साथ;

उसने फौजों को सिर के ऊपर से गुजर जाने दिया,

और यह फिर विचार में डूब गया।

ऐसा कवि ने कहा, और उसकी ये पंक्तियाँ अक्सर उद्धृत की जाती हैं। यह सही है कि पूरव, या कम से कम उसका वह हिस्सा जिसे हिंदुस्तान कहते हैं, विचार में डूबना पसंद करता रहा है, और बहुधा उन बातों पर विचार करने की उसे रुचि रही है, जिन्हें कुछ ऐसे लोग, जो अपने को व्यावहारिक कहेंगे, बेतुकी और बेमतलब समझेंगे। उसने सदा विचारों और विचारकों का आदर किया है और तलवार चलाने वालों और पैसೆ वालों को इनसे ऊंचा समझने से बराबर इन्कार किया है।

लेकिन यह बात सही नहीं है कि हिंदुस्तान ने कभी भी धैर्य के साथ तूफान के आगे सिर झुका लिया है या विदेशी फौजों के सिर पर से गुजरने के विषय में लापरवाह रहा है। उसने उनका हमेशा सामना किया है—कभी सफलता के साथ और कभी नाकाम होकर—और यह जब नाकाम भी रहा है, तो उसने अपनी नाकामी को याद रखा है, और दूसरी कोशिश के लिए अपने को तैयार करता रहा है। उसने दो ढंग ग्रहण किए हैं। एक तो यह कि वह लड़ा है और उसने आक्रमण-कारियों को मार भगाया है; दूसरा यह कि जो भगाए नहीं जा सके उनको उसने अपने में समाविष्ट कर लेने की कोशिश की है। उसने

सिकंदर की फौज का बड़ी कामयाबी से सामना किया और उसकी मृत्यु के ठीक बाद उत्तर से उन फौजियों को जिन्हें यूनानियों ने यहां नियुक्त कर रखा था, मार भगाया है। बाद में उसने हिंदी-यूनानियों और हिंदी-सिंधियों को अपने में समाविष्ट करके अंत में फिर राष्ट्रीय एकता स्थापित कर ली है। वह कई पीढ़ियों तक हूणों से लड़ता रहा है, और उन्हें अंत में मार भगाया है, जो बच रहे उन्हें उसने फिर अपने में समाविष्ट कर लिया है। जब अरब आए तो वे सिंध नदी के पास रुक गए। तुर्क लोग और अफगानी बहुत धीरे-धीरे आगे फैले। दिल्ली के तख्त पर अपने को दृढ़ता से स्थापित करने में उन्हें सदियों लग गईं। यह एक अटूट और लंबा संघर्ष रहा है, और जहां एक तरफ यह संघर्ष चलता रहा था, दूसरी तरफ समाविष्ट करने और उन्हें हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी, जिसका नतीजा यह होता था कि आक्रमणकारी वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसे कि और लोग थे। अकबर भिन्न तत्वों के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का प्रतिनिधि बन गया और इस देश वालों को एक समान राष्ट्रीयता के अंदर लाने की कोशिश में लगा। चूंकि वह हिंदुस्तान का बना रहा, इसलिए हिंदुस्तान ने भी उसे अपनाया, यद्यपि वह बाहर से आया हुआ था। यही वजह थी कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नींव डाली। जब तक उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को बरता और राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति बनाए रहे, तब तक सल्तनत कायम रही। जब वे इससे अलग हट गए और राष्ट्रीयता के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे, तब वे कमजोर पड़ गए और सारी सल्तनत की घज्जियां उड़ गईं। नये आंदोलन उठे जिनमें संकीर्णता थी, लेकिन जो उभरती हुई राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करते थे, और यद्यपि यह इतने दृढ़ नहीं थे कि पायदार हुकूमत स्थापित कर सकें, फिर भी वह मुगलों की सल्तनत को नष्ट करने भर को अवश्य थे। उन्होंने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और जीवट की दुनिया पच्छिम में उठ रही थी, जिसका दृष्टिकोण नया था और जिसके पास नई हिकमतें थीं, और यह कि एक नई शक्ति—यानी ब्रिटिश—उस नई दुनिया की, जिससे कि वह इतने बेखबर थे, नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते, लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर में स्थापित किया था कि बलवा हो गया, और यह स्वतंत्रता की लड़ाई बन गया और इसने अंग्रेजी हुकूमत को करीब-करीब समाप्त कर दिया। स्वतंत्रता की

उमंग हमेशा से रही है, और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाने से बराबर इन्कार किया गया है ।

४ : प्रगति बनाम सुरक्षा

हम युगों के साथ-साथ बराबर बदलते रहे हैं, और किसी काल में यह नहीं हुआ है कि हम अपने पुराने जमाने जैसे बने रहे हों । फिर भी इस बात को मैं दृष्टि से अलग नहीं कर सकता कि हिंदुस्तानी और चीनी संस्कृतियों ने कायम रहने की और अपने को अवसर के अनुकूल ढाल लेने की अद्भुत शक्ति दिखाई है, और अनेक परिवर्तनों और संकटों के रहते हुए भी, बहुत लंबे काल तक, अपनी बुनियादी विशेषता बनाए रखने में कामयाब हुए हैं । वे ऐसा न कर पाते अगर वे जीवन और प्रकृति से एक सामंजस्य न पैदा कर सके होते । वह जो कुछ भी वस्तु हो, जिसने इन्हें अपने पुराने लंगर से लगाए रखा, वह चाहे अच्छी ही हो, चाहे बुरी, चाहे मिली-जुली, अगर यह शक्तिशाली न रही होती तो इतने काल तक बनी नहीं रह सकती थी ।

प्रगति और सुरक्षा के विचारों में शायद हमेशा कुछ आपस की अनबन रही है । दोनों एकसाथ मौजूद नहीं हो पाते । इनमें से पहला परिवर्तन चाहता है, और दूसरा एक न बदलने वाली पनाह की जगह चाहता है, और यह कि चीजें जैसी की तैसी बनी रहें । उन्नति का खयाल नये जमाने का है और पच्छिम में भी अपेक्षाकृत नया है । पुराने और बीच के जमाने की संस्कृतियां अतीत की सुनहली कल्पना में डूबी रहती थीं । हिंदुस्तान में भी बीते हुए जमाने की बड़ी सुनहली कल्पना की गई है । यहां जो सभ्यता तैयार हुई, उसकी भी बुनियाद सुरक्षा और पायदारी के विचारों पर बनी थी, और इन दृष्टिकोण से यह उन सभी सभ्यताओं से, जो कि पच्छिम में उठी, कहीं अधिक सफल रही । ध्यान देने की यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि जहां हिंदुस्तानी दर्शन हृदयों का व्यक्तिवादी दर्शन रहा है और करीब-करीब पूरे तौर से व्यक्ति के विकास से उसका संबंध रहा है, वहां हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन सामुदायिक था, और केवल समूहों पर ध्यान देता था । व्यक्ति को पूरी आजादी थी इस बात की कि जो चाहे सोचे, चिंतने और जिस चीज में चाहे विश्वास करे, लेकिन उसे समाज और संप्रदाय के रीति-रिवाजों की कड़ी पाबंदी करना पड़ती थी ।

बावजूद इस पावंदी के, गिरोहों के भीतर भी, सब कुछ लेकर, बहुत लचीलापन था; और कोई ऐसा कानून या समाज का नियम न था जो रीति-रिवाज से बदला न जा सके। यही लचीलापन और अपने को अवसर के अनुकूल ढालने की शक्ति ऐसी चीजें थीं जिन्होंने विदेशियों को अपने में समाविष्ट करने में मदद दी।

जब तक पायदारी और सुरक्षा खास ध्येय रहे, तब तक तो यह व्यवस्था खूब काम देती रही; और अगरचे आर्थिक परिवर्तनों ने इसकी जड़ें हिलाई, फिर भी अपने को उनके अनुकूल बनाकर यह बनी रही। इसे असली चुनौती मिली, सामाजिक तरक्की की उस नई धारणा से, जो किसी तरह पुराने, टिके हुए, विचारों से मेल नहीं खाती थी। यही कल्पना पुरानी स्थापित व्यवस्थाओं को पूरव में उखाड़ रही है, उसी तरह, जिस तरह कि इन्होंने पच्छिम में व्यवसायों को उखाड़ा है। पच्छिम में जहां अब भी प्रगति का बोलवाला है, सुरक्षा की मांग पेश हो गई है। हिंदुस्तान में सुरक्षा की कमी ने ही लोगों को मजबूर किया है कि वे पुरानी लीक छोड़कर बाहर आएँ, और ऐसी प्रगति के अर्थों में सोचें कि जो अधिक सुरक्षा की हालत पैदा करे।

हिंदुस्तान में जो भी तत्त्व आया और यहां समाविष्ट हो गया, उसने हिंदुस्तान को अपना कुछ दिया भी और उससे उसका कुछ लिया भी; इसने अपनी और हिंदुस्तान, इन दोनों की शक्ति में वृद्धि की। लेकिन जहां वह अलग-अलग रहा और हिंदुस्तान के जीवन में और यहां की संपन्न और विविध संस्कृति में हिस्सा न ले सका, वहां उसका कोई स्थायी प्रभाव न हुआ और अंत में वह मिट गया है, और मिटते-मिटते अपने को या फिर हिंदुस्तान को कुछ हानि पहुंचा गया।

५ : हिंदुस्तान और ईरान

उन बहुत-से लोगों में, जो हिंदुस्तान के जीवन और संस्कृति के संपर्क में आए हैं और इनपर प्रभाव डाला है, सबसे पुराने ईरानी रहे हैं। भारतीय आर्य और ईरानी अलग होकर अपना-अपना रास्ता लेने से पहले एक ही जाति के थे। इनके पुराने धर्म और भाषा की भी एक-सी पृष्ठभूमि रही है। वैदिक धर्म और जरयुस्त के धर्म में बहुत-सी एक-सी बातें थीं, और वैदिक संस्कृति और अवेस्ता की भाषा दोनों एक-दूसरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। बाद की संस्कृत और

फारसी के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनों के बहुत-से मूल-शब्द एक ही हैं, जिस तरह की सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूल शब्द समान हैं। दोनों भाषाओं पर और इनसे बढ़कर उनकी कला और संस्कृति पर, उनके अलग-अलग वातावरणों का प्रभाव पड़ा।

हिंदुस्तान की तरह ईरान की भी सांस्कृतिक नींव इतनी दृढ़ थी कि वह अपने आक्रमणकारियों पर भी प्रभाव डाल सके और प्रायः उन्हें अपने में समाविष्ट कर ले। अरब लोग, जिन्होंने सातवीं सदी ईसवी में ईरान विजय किया, इस प्रभाव में आ गए, और अपने सीढ़े-सादे रेगिस्तानी रहन-सहन को छोड़कर उन्होंने ईरान की रंगी-बिरंगी तहजीब ग्रहण कर ली। जिस तरह फ्रांसीसी भाषा यूरोप में है, उसी तरह फारसी एशिया के सुदूर भागों के सम्य लोगों की भाषा बन गई। ईरानी कला और संस्कृति पच्छिम में कुस्तुनतुनिया से लेकर ठेठ गोवी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह प्रभाव बराबर रहा, और अफगानों और मुगलों के काल में हिंदुस्तान में फारसी देश की दरबारी भाषा रही। यह बात अंग्रेजी दौर के ठीक आरंभ तक बनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी भाषाओं में फारसी शब्द भरे पड़े हैं। संस्कृत से निकली भाषाओं के लिए, विशेषकर हिंदुस्तानी के लिए, जो स्वयं एक मिली-जुली भाषा है, यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं पर भी फारसी का प्रभाव पड़ा है। हिंदुस्तान में बीते हुए जमाने के फारसी के कुछ बड़े शानदार शायर हुए हैं, और आज भी, हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ही में, फारसी के अच्छे आलम मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि सिंध की घाटी की सम्यता के संपर्क उस जमाने की ईरान और मेसोपोटामिया की सम्यताओं से थे। कुछ नक्शानिगरों और मुहरों में स्पष्ट रूप से समानता मिलती है। इस बात के भी कुछ प्रमाण हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के बीच, पूर्व-अशीमियन-काल में भी आपस के संपर्क थे। हिंदुस्तान का अवेस्ता में चर्चा आया है, और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ बयान भी है। ऋग्वेद में फारस के हवाले हैं। फारसी लोग 'पार्ष्व' कहलाते थे और बाद में ये ही 'पारसीक' कहलाए, जिससे आधुनिक 'फारसी' शब्द निकला है। पारथियनों को 'पार्यव' कहा गया है। ईसा पूर्व छठी सदी में दारा के अवीन जो सत्तनत थी, वह ठीक पच्छिमोत्तर तक फैली हुई थी और सिंध और शायद पच्छिमी हिंदुस्तान का एक भाग इसमें आ गया था। इस समय को, हिंदुस्तान के

का जमाना कहा गया है और इसका असर काफी फैला रहा होगा ।
सूर्य की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया ।

ईसा पूर्व सातवीं सदी से भी पहले से लेकर युगों बाद तक व्यापार के द्वारा हिंदुस्तान और ईरान के संबंध के प्रमाण मिलते हैं; विशेषकर यह खयाल किया जाता है कि हिंदुस्तान और बाबुल के बीच होने वाला प्राचीन व्यापार का रास्ता फारस की खाड़ी से होकर था । छठी सदी के बाद साइरस और दारा के हमलों के द्वारा सीधे संपर्क स्थापित हो गए । सिकंदर की विजय के बाद कई सदियों तक ईरान यूनानियों के शासन में रहा । इस काल में भी संपर्क बने रहे और कहा जाता है कि अशोक की इमारतों पर पार्सिपोलस की निर्माण-शैली का प्रभाव पड़ा । यूनानी बौद्धकला जो पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान और अफगानिस्तान में विकसित हुई, उसमें भी ईरान की छूट रही है । हिंदुस्तान में गुप्तों के समय में ईसा से बाद की चौथी-पांचवीं सदियों में, जो कला और संस्कृति की कृतियों के लिए मशहूर हैं, ईरान से संबंध बने रहे ।

काबुल, कन्धार और सीस्तान के सरहद्दी इलाके, जो प्रायः हिंदुस्तान के शासन के अंदर रहे हैं, हिंदुस्तानियों और ईरानियों की आपस में मिलने की जगहें थीं । बाद के पार्थियन जमाने में इन्हें 'सफेद हिंदुस्तान' का नाम दिया गया । इन हिस्सों की चर्चा करते हुए, फ्रांसीसी विद्वान जेम्स दारमैस्टेलर कहता है—“हिंदू संस्कृति इन इलाकों में फैली हुई थी जो वस्तुतः ईसा से पहले और बाद की दो सदियों में 'सफेद हिंदुस्तान' के नाम से जाने जाते थे, और मुसलमानों की विजय के समय तक ईरानी से अधिक हिंदुस्तानी बने रहे ।”

उत्तर हिंदुस्तान में आने वाले व्यापारी और यात्री खुशकी के रास्ते आते थे । दक्खिनी हिंदुस्तान समुद्र के ऊपर भरोसा करता था और उसकी समुद्री रास्ते से दूसरे देशों से तिजारत होती थी । एक दक्खिनी राज्य और ईरान के सासानियों के बीच आपस में राजदूत आते-जाते रहते थे ।

हिंदुस्तान पर तुर्कों, अफगानों, मुगलों की विजयों का परिणाम यह हुआ कि हिंदुस्तान के संबंध मध्य और पच्छिमी एशिया से बढ़े । पंद्रहवीं सदी में (यूरोपीय पुनर्जागृति के युग के समय) समरकंद और बुखारा में तैमूरी पुनर्जागृति फूल-फल रही थी, और इसपर ईरान का गहरा प्रभाव था । बाबर, जो स्वयं तैमूरिया वंश का शाहजादा था, इसी वातावरण से आया, और उसने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार

कर लिया। यह सोलहवीं शती के आरम्भ की बात है। यह सन् १५०० ईरान में सफावी बादशाहों की हस्तक्षेप के कारण है। यह सन् १५०० तक पुनर्जागृति हो रही थी, और यह जमाना सफावी का जमाना कहलाता है। बाबर के बेटे, हुमायूँ ने, यह सन् १५०० ईरान के यहां शरण ली थी, और उसीकी मदद से वह फिर हिन्दुस्तान लौटा था। हिन्दुस्तान के मुगल बादशाह ईरान से बड़े नदरों से देखते बनावे रखते थे और सरहद पार करके मुगलों के आन्दार दरबार में प्रतिष्ठा और धन कमाने के लिए आने वाले, ईरानी विद्वानों और कलावंतों का तांता लगा रहता था।

हिन्दुस्तान में इमारतों की एक नई शैली ने उत्पत्ति की, जिसमें हिन्दुस्तानी और ईरानी आदर्शों और प्रेरणाओं का मेलजोल था, और दिल्ली और आगरा बहुत-सी शानदार और सुंदर इमारतों से भर गए। इनमें में से सबसे सुंदर इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ्रांसीसी आलिम एम० ब्रूस ने कहा है कि "इसमें हिन्दुस्तान के जिस्म में ईरान की वह उत्तर आई है।"

हिन्दुस्तान और ईरान के लोगों में, शुरू से लेकर सारे इतिहास के जमाने में, जैसा घनिष्ठ संबंध रहा है, शायद ही दूसरे लोगों में रहा हो। दुर्भाग्य ने जो अंतिम यादगार इस लंबे, निकट और सम्मानित संबंध की है, वह नादिरशाह के हमले की है, जो दो सौ साल का अरसा गुजरा, थोड़े समय के लिए हुआ था, लेकिन जो हृदय का भयानक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज आए और उन्होंने सब दरवाजे और सब रास्ते उनके द्वारा हमारा अपना एगियाई पड़ोसियों से संबंध जुड़ता था, बंद कर दिए। समुंदर के आरपार नये रास्ते बने, जिन्होंने हमें यूरोप के अधिक निकट पहुंचाया, बिजेपकर इंग्लिस्तान के।

लेकिन एक नाजाबना बन्ना रहा है—मौजूदा जमाने के ईरान से नहीं, बल्कि प्राचीन ईरान से। वेन्द नाम वाला हुए, जब इस्लाम ईरान में पहुंचा, उस समय मुसलमानों के मानने वाले सैकड़ों या हजारों की गिनती में हिन्दुस्तान में आया। उनका यहाँ स्वागत हुआ। और वे पच्छिमी समुद्र-तट पर बसे हुए, और अपने धर्म और रीति-रिवाजों के पाखंड बने रहे। वे हिन्दुओं के बड़े छेड़छाड़ों की, न उन्होंने हमलों में; यह एक बड़े माहौल का बन्ना है जिससे लोग जो पारसी कह-आए, हिन्दुस्तान में चले आये और बड़े विवादों के, मिल बैठ गए, और इन अनेक कारणों से हिन्दु और पारसी का एक छोटे संप्रदाय की

से, अपने पुराने रीति-रिवाज को पावदा से।

६ : हिंदुस्तान और यूनान

अभी हाल तक बहुत-से यूरोपीय विचारकों का यह खयाल था कि ग्रीक मूल्यावान और आदरणीय वस्तुएं हैं, उनका आरंभ यूनान से है रोम से है। सर हेनरी मेन ने कहीं पर कहा है कि प्रकृति की शक्तियों के अतिरिक्त दुनिया में कोई भी गतिशील वस्तु नहीं जो अपने मूल में यूनानी न हो। यूनान और रोम के बारे में जानने वाले यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान हिंदुस्तान और चीन के बारे में बहुत कम जानते थे। फिर भी प्रोफेसर ई० आर० डॉड्स ने लिखा है उस "पूर्वी पृष्ठभूमि पर, जो यूनानी संस्कृति के पीछे है, और जिसमें वह अपने को (सिवाय यूनान और रोम के विषय में) पंडितों के मस्तिष्क में) कभी अलग न कर सकती थी।"

जब यह धारणा विद्वानों की थी, तब आम अनपढ़ लोग तो और भी, पूरव और पच्छिम के बीच, कोई विशेष अंतर समझते रहे। यूरोप में मशीन के कारखानों के खुलने और उसके साथ होने वाली आर्थिक उन्नति ने आम लोगों के मन पर इस भेद की छाप और भी गहरी कर दी, और किसी अनोखे तर्क से प्राचीन यूनान वर्तमान यूरोप और अमरीका का मां-बाप बन गया।

पूरव और पच्छिम, इन शब्दों के प्रयोग को मैं समझ नहीं सका हूँ, सिवाय इस अर्थ में, कि यूरोप और अमरीका ने मशीन के कारखानों में बड़ी उन्नति कर ली है और एशिया इस दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। कल-कारखानों की बहुतायत संसार के इतिहास में एक नई चीज है और इसने और चीजों की अपेक्षा संसार को अधिक बदल दिया है और बराबर बदल रही है। लेकिन यूनानी सभ्यता में और आज की यूरोपीय और अमरीकी सभ्यताओं में कोई दुनियादी संबंध नहीं है। आज का यह विचार, कि आराम की जिंदगी ही नवम् के चीज है, यूनानी और दूसरे प्राचीन साहित्यों के दुनियादी विचारों से बिल्कुल अलग है। यूनानी और हिंदुस्तानी और चीनी और ईरानी लोग सदा एक ऐसे धर्म और जीवन के दर्शन की खोज में रहे जिनका असर उनके सभी कामों पर रहा है और जिनका उद्देश्य तरह-तरह का सुन-तोल और सामंजस्य पैदा करना है। यह आदर्श उनके हर पहलू में—साहित्य में, कला में, और संस्थाओं में—

होता है और एक समन्वय और पूर्णता उत्पन्न करता है ।

अपने हाँसने और दृष्टिकोण में हिंदुस्तान यूरोपीय राष्ट्रों की अपेक्षा पुराने यूनान के अधिक निकट है, यद्यपि वे अपने को यूनानी संस्कृति के उत्तराधिकारी बताते हैं । हम इस बात को भूल जाते हैं, चूंकि हम तक कुछ ऐसे खयाल चले आ रहे हैं जो तर्कपूर्ण विचार के रास्ते में रूकावट डालते हैं । कहा जाता है कि हिंदुस्तान में धर्म और दर्शन, चिंतन और अध्यात्म पनपते हैं और वह इस दुनिया की बातों से निरपेक्ष है, और परलोक के सपनों में खोया हुआ है । हमको बताया यही जाता है, और शायद जो लोग हमसे ऐसा कहते हैं, वे चाहेंगे भी कि हिंदुस्तान विचार और चिंतन में डूबा और उलझा रहे, और वे लोग इस संसार को और उसके सभी पदार्थों को, इन विचारकों से स्वतंत्र रहकर अपने अधिकार में रख सकें और उनका उपभोग कर सकें । हाँ, हिंदुस्तान में ये सब कुछ रहे हैं, लेकिन इनसे और अधिक ग्रानें भी रही हैं । उसने वचपन के भोलेपन को जाना है, जवानी की उम्रों और मस्तिष्कों देखी हैं, और बुजुर्गों में वह ज्ञान हासिल किया है जो मुख-दुःख के अनुभव से ही आता है; और बार-बार उसने अपने वचपन, अपनी जवानी, और अपनी बुजुर्गी को ताजा किया है । युगों की अपेक्षा और उसके विस्तार ने उसे दबा रखा है । पत्नी लाने वाले रीति-रिवाजों और बुरे अमल ने उसमें घर कर लिया है, ऐसे कीड़े उसमें चिपटे हुए उनका खून चूस रहे हैं लेकिन इन सबके पीछे युगों की शक्ति और एक प्राचीन जाति की सहज वृद्धिमत्ता भी है, क्योंकि हम बहुत पुराने लोग हैं अनंत सदियों हमारे कानों में धीमे स्वर में अपनी कहानी कह रही हैं । लेकिन हमने अपनी जवानी को बार-बार ताजा किया है, यद्यपि उन बीते हुए युगों की यादें और सपने बने रहे हैं ।

भूगोल और जलवायु की दृष्टि से यूनान हिंदुस्तान से भिन्न है । वहाँ कोई ऐसी नदियाँ नहीं जो सचमुच में नदियाँ कहला सकें, कोई जंगल नहीं, कोई बड़े वृक्ष नहीं, जिनकी हिंदुस्तान में बहुतायत है । अपनी विशालता और परिवर्तनशीलता से समुद्र ने यूनानियों पर जो प्रभाव डाला है वह हिंदुस्तानियों पर नहीं पड़ा, सिवाय इसके कि उन हिंदुस्तानियों पर पड़ा हो जो समुद्र के किनारे बसते हैं । हिंदुस्तान का जीवन थल का जीवन रहा है बड़े-बड़े मैदानों, विशाल पर्वतों, प्रवाहमयी नदियों और घने जंगलों का झुलने हिस्सा रहा है । यूनान में भी कुछ पहाड़ रहे हैं और यूनानियों ने आलिपन को अपने देवताओं का उग्रा तरह पर नियंत्रण बनाया है जिस तरह कि हिंदुस्तानियों ने अपने देव-

आर्यों और ऋषियों को हिमालय की ऊंचाइयों पर जगह दी है। दोनों ने
 वृत्ताओं की गाथाएं रची हैं, और ये इतिहास के साथ इतनी मिल-जुल
 गई हैं कि घटनाओं को गढ़त से छुड़ाना मुश्किल हो गया है। पुराने
 यूनानी, कहा जाता है, न भोगी थे और न योगी, वह आनंद को घुरा
 या पाप जानकर उससे दूर नहीं भागते थे, न जानबूझकर उस तरह
 के आमोदों में पड़ते थे जिनमें इस जमाने के लोग पड़ते हैं। जिस तरह
 से हम अपनी इच्छाओं का दमन करते हैं, वैसा किए बिना वे जिंदगी में
 जोश से हिस्सा लेते थे, और जिस काम में लगते थे, खूब लगते थे,
 और इस तरह से वे हमारी अपेक्षा जीवन का अधिक आनंद लेते थे।
 हिंदुस्तान के जीवन के विषय में भी हम अपने पुराने साहित्य से कुछ
 ऐसा ही प्रभाव लेते हैं। हिंदुस्तान में तपस्या के जीवन का भी एक
 पहलू रहा है, जैसा कि बाद में यूनान में भी रहा है, लेकिन यह बहुत
 थोड़े लोगों तक सीमित था और जनता के जीवन पर इसका प्रभाव
 न था। यह पहलू जैन और बौद्ध धर्म के दिनों में कुछ और पकड़ गया
 था, लेकिन फिर भी इसने जीवन की पृष्ठभूमि को अधिक नहीं बदला।

जीवन कैसा भी था, उसे हिंदुस्तान और यूनान दोनों जगह स्वीकार
 किया गया था, और लोग उसका पूरी तरह उपभोग करते थे, फिर
 भी इस तरह का विश्वास था कि एक विशेष प्रकार का जीवन श्रेष्ठतर
 होता है। इसमें कुतूहल और कल्पना की गुंजाइश होती थी, लेकिन
 जांच की यह भावना पदार्थों के बारे में अनुभव हासिल करने की तरफ
 नहीं झुकती थी, बल्कि मानसिक चिंतन की दिशा में जाती थी। वैज्ञानिक
 तरीकों के आने से पहले वास्तव में सभी जगह यही प्रवृत्ति हुआ करती
 थी। संभवतः यह चिंतन कुछ थोड़े ऊंचे मस्तिष्क के लोगों तक सीमित
 था, फिर भी साधारण नागरिकों पर भी इसका असर पड़ता ही था,
 और वे भी दर्शन के प्रश्नों पर आपन में और बातों के साथ, अपनी
 खुली समझों में बहम करने थे। लोगों का रहन-सहन, जैसा आज भी
 हिंदुस्तान में विशेषकर देहातों में है, पंचायती ढंग का था, और लोग
 आपस में, बाजार में, या मंदिरों और मस्जिदों में, या पनघटों पर या
 जहां पंचायतघर होते, पंचायतघरों में इकट्ठा होकर दिन के समाचारों
 और साधारण आवश्यकताओं पर विचार करते थे। यहीं लोकमत
 बनता था और उसको प्रकट किया जाता था। ऐसी चर्चाओं के लिए
 काफी अवकाश रहा करता था।

फिर भी यूनानियों के बहुत-से शानदार कारनामों में से एक ऐसा
 है जो औरों से बड़-बड़कर है—यानी प्रयोगात्मक विज्ञान का प्रारंभ।

इसकी उन्नति जैसी यूनानी सम्यता के भीतर आए हुए प्रदेश सिकंदरिया में हुई, वैसी स्वयं यूनान में नहीं हो पाई, और ईसा पूर्व ३३० से १३० तक, यानी दो सदियों में, वैज्ञानिक उन्नति और यंत्रों के आविष्कार ने लंबे डग लिए। हिंदुस्तान में इसके मुकाबले की कोई चीज नहीं मिलती, और हिंदुस्तान ही क्या, कहीं और भी हम ऐसी बात सत्रहवीं सदी तक नहीं पाते हैं, जबकि फिर विज्ञान ने लंबे डग भरे हैं। यूरोप में यूनान और रोम की सम्यताओं के नष्ट होने पर ये श्रव ही थे, कि जिन्होंने विज्ञान की ली को मध्य-युगों में जगाए रखा।

सिकंदरिया की, विज्ञान और आविष्कार की, यह सरगर्मी निश्चय ही जमाने की सामाजिक उपज, और एक बढ़ते हुए समाज और जहाज-रानी की आवश्यकताओं का परिणाम थी—उसी तरह जिस तरह कि अंकगणित और बीजगणित का विकास—शून्यांक और राशिमानों का आविष्कार—हिंदुस्तान में, बढ़ते हुए व्यापार और जटिल होते हुए संगठन की दृष्टि से, सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम था। लेकिन यों आमतौर पर पुराने यूनानियों में कहां तक विज्ञान के लिए रक्षान था, यह कहा नहीं जा सकता। उनका जीवन अपनी परंपरा के अनुसार चला होगा, जिसकी बुनियाद में उनका पुराना दार्शनिक दृष्टिकोण था, जो मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य और मेल चाहता था। यह दृष्टिकोण पुराने यूनान और हिंदुस्तान में एक-सा था। हिंदुस्तान की तरह यूनान में भी साल त्यौहारों में बंटा हुआ था और मौसम-मौसम के उत्सव हुआ करते थे जो मनुष्य को प्रकृति के साथ मिलाए रहते थे। हिंदुस्तान में अब भी ये त्यौहार मनाए जाते हैं, वसंत में और फसल कटने के समय; और दीपावली, जो रोगनी का त्यौहार है, और शरद के अंत में मनाया जाता है; और होली का उत्सव जो शुरु गर्मी में मनाया जाता है, और इसके अतिरिक्त पौराणिक पुरुषों के नाम पर त्यौहार चलते हैं। अब भी इन उत्सवों में, कुटेक श्रवस्त्रों पर लोकगीत और लोकनृत्य होते हैं, जैसे रासलीला या कृष्ण का गोपियों के साथ नाच।

प्राचीन हिंदुस्तान में आर्य अलग-थलग नहीं रहती थीं, सिवाय कुछ हद तक राजवराने और कुलीन वर्ग की आर्यों के। शायद यूनान में मंद और आर्य उस जमाने में हिंदुस्तान की अपेक्षा अधिक अलग रहते थे। पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथों में प्रतिद्वंद्व और विद्वयी आर्यों की चर्चा प्रायः आती है, और अक्सर वे गुले शास्त्रियों में हिंस्र बन जाती थी। यूनान में जादी, जान पड़ता है, केवल आपस में बात

न हिंदुस्तान में यह हमेशा धार्मिक संस्कार से
 तरह के विवाहों की भी चर्चा हुई है।
 न की औरतों की, जान पड़ता है, हिंदुस्तान में खास आव-
 ती थी। जैसा कि पुराने नाटकों से पता चलता है, राज-दरबारों
 सियां अक्सर यूनानी हुआ करती थीं। यूनान से हिंदुस्तान में
 माली खास चीजों में, जो पच्छिमी हिंदुस्तान में भड़ोच के बन्दर-
 में उतरती थीं, 'गाने वाले लड़कों और खूबसूरत लड़कियों' का
 बताया जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य का रहन-सहन बताते हुए
 थनीज कहता है—“राजा का खाना आरतें पकाती थीं, और वे
 भी पेश किया करती थीं, जिसका सभी हिंदुस्तानियों में चलन
 ” कुछ शराब निश्चय ही यूनान या उसके उपनिवेशों से आती थी,
 क्योंकि एक पुराना तमिल कवि 'यवनों (अयोनियन या यूनानी) द्वारा
 अपने अच्छे जहाजों में लाई ठंडी सुगंधित शराब' का वर्णन करता है
 एक यूनानी व्यापक है कि पाटलिपुत्र के राजा (शायद अशोक के पिता
 बिंदुसार) ने ऐंटिओकस को लिखा कि “हमें मीठी शराब, सूखी अंजीर
 और एक यूनानी मिथ्यावादी तर्कशास्त्री खरीदकर भेज दो।” ऐंटिओकस
 ने जवाब दिया—“हम आपको अंजीर और शराब भेजेंगे, लेकिन यूनानी
 कानून मिथ्यावादी तर्कशास्त्री की विक्री की आज्ञा नहीं देता।”
 यूनानी साहित्य से यह साफ पता चलता है कि समर्पित संबंध
 को बुरा नहीं समझा जाता था। वास्तव में इसकी ओर एक सरस
 अनुमोदन का भाव था। शायद इसकी वजह यह थी कि युवावस्था में
 लड़के-लड़कियां अलग रखे जाते थे। इसी तरह की प्रवृत्ति ईरान में
 पाई जाती है और फारसी साहित्य में इसके हवाले भरे पड़े हैं। ऐसी
 जान पड़ता है कि माणिक की एक युवक के रूप में कल्पना करने
 साहित्यिक परंपरा का अंग बन गया था। संस्कृत-साहित्य में ऐसी को
 बात नहीं मिलती और यह जाहिर है कि हिंदुस्तान में समर्पित सं-
 न पसंद किया जाता था और न प्रचलित था।
 किसी यूनानी ग्रंथ में यह रवायत दर्ज है कि कुछ हिंदुस्त-
 नुकरात के पास आए और उन्होंने उनसे तवाल किए। पाइयाग
 पर हिंदुस्तानी दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा था, और प्रोफेसर एच
 रालिंसन का कहना है कि : “धर्म, दर्शन और गणित के प्रायः
 सिद्धांत जिनकी पाइयागोरस के अनुयायी शिक्षा दिया करते थे
 स्तान में ईसा पूर्व छठी सदी में मालूम थे।” यूनान और रोम का
 अध्ययन करने वाले उर्विक नाम के एक योरोपीय विद्वान ने, अ

की 'रिपब्लिक' नाम की किताब की व्याख्या हिंदुस्तानी विचार के आधार पर की है। ज्ञेयवादी तत्त्ववाद को यूनानी अस्तित्ववादी और हिंदुस्तानी तत्त्वों को मिलाकर एक करने की कोशिश नाना रखा है। टियाना का दार्शनिक एपोलोनियस शायद पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में तदशिला में, ईसाई संवत् के आरंभ में, आया था।

पुरानी प्रवृत्ति सभी चीजों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है, लेकिन इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है, और एशिया और खास तौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर जोर दिया गया है। प्रोफेसर टार्न कहते हैं—“मोटे ढंग से एशियावासी ने यूनान से जो भी लिया, वह आम तौर पर केवल बाहरी बातें हैं, उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं, क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा विश्वास रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है, और उसने दूर बिठाया है। बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें तो यह कहा जा सकता है कि अगर यूनानियों का कभी अस्तित्व न होता, तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता जैसा कि रहा है।”

यह एक दिलचस्प खयाल है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक धर्म सभी तरह की मूर्तिपूजा का विरोधी था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्तिपूजा के कुछ चिह्न हिंदुस्तान के पुराने धर्मों में मिलते हैं, यद्यपि मूर्तिपूजा निश्चय ही बहुत फैली नहीं थी। आरंभ का बौद्धधर्म इसका कट्टर विरोधी था, और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की विशेषकर मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का प्रभाव अफगानिस्तान में और बग़दद के आसपास काफी गहरा था और क्रमशः उस प्रभाव ने काम किया। फिर भी आरंभ में बुद्ध की कोई मूर्तियां नहीं बनीं, बल्कि बौद्धिमुच्चों की (जिनके बारे में यह समझा जाता है कि वे बुद्ध के पहले के अवतार हैं) अथवा जैसी मूर्तियां बनीं। इनके बाद स्वयं बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदूधर्म के कुछ रूपों में भी मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन मिला, यद्यपि वैदिक धर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फारसी और हिंदुस्तानी में अब तक शब्द हैं 'वृत्', जो बुद्ध से निकला है।

७ : प्राचीन हिंदुस्तानी थियेटर

यूरोप को, प्राचीन हिंदुस्तानी नाटक-साहित्य का जब से पता तभी से इस तरह के सुझाव दिए जाने लगे कि या तो इसका ही यूनानी नाटकों से हुआ, या इसपर यूनानी नाटकों का गहरा प्रभाव पड़ा। इस मत में कुछ सच जैसी दिखने वाली बात थी, क्योंकि समय तक किसी प्राचीन नाटक का पता न चला था और सिकंदर आक्रमण के बाद यूनान के अधिकार में आए राज्य हिंदुस्तान की धृष्ट पर स्थापित हो चुके थे। ये राज्य कई सदियों तक बने रहे और हां यूनानी नाटकों के खेल होते रहे होंगे। इस प्रश्न की यूरोपीय विद्वानों ने, सारी उन्नीसवीं सदी में, छानबीन की और इसपर तर्क-वितर्क हुए। अब यह बात आम तौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिंदुस्तानी थियेटर, अपने मूल में, और विचारों और विकास में, विलुप्त स्वतंत्र रहा है। इसके आरंभ का पता लगावे तो हम ऋग्वेद तक पहुंच जाएंगे जिसमें कुछ नाटकीय ढंग की बातचीत मिलती है। रामायण और महाभारत में नाटकों की चर्चा आती है। कृष्ण की लीलाओं के नाच और संगीत से इसका आरंभ होता है और उसीसे इसकी रूप-रेखा बनती है। ईसा पूर्व छठी-सातवीं सदी का मशहूर वैयाकरण पाणिनि नाटक के कुछ रूपों का उल्लेख करता है।

नाट्यकला पर एक पुस्तक—'नाट्यशास्त्र'—कहा जाता है जिस तीसरी सदी ईसवी में लिखी गई, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह इस विषय की और पहले की रचनाओं के आधार पर लिखी गई है। ऐसा किताब उसी समय तैयार हो सकती है जब नाटक की कला की पर्याप्त उन्नति हो चुकी हो, और आम लोगों के सामने खेल बराबर रच जाते रहे हों। इससे पूर्व बहुत साहित्य इसपर तैयार हो चुका होगा, और इसके पीछे कई सदियों का क्रमिक विकास जान पड़ता है। हाल में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में, एक ऐसी प्राचीन नाट्यशाला का पता चला है, जिसकी तिथि ईसा पूर्व दूसरी सदी जाती है। यह मारके की बात है कि 'नाट्यशास्त्र' में जो नाट्यशास्त्र का आम बयान मिलता है, उससे इस नाट्यशाला का नव्य खाता है।

अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी में, नियमित रूप से लिखे गए संस्कृत-नाटक, पूरी-पूरी तरह से हो चुके थे, बल्कि कुछ विद्वानों का मत है कि यह स्थिति

पांचवीं सदी में ही उत्पन्न हो गई थी। जो नाटक मिलते हैं, उनमें और पहले के नाटककारों और नाटकों के हवाले अवसर आते हैं, जिनका अभी तक पता नहीं चला था। ऐसे खोए हुए नाटककारों में एक भास था, जिसकी वाद के नाटककारों ने बड़ी प्रशंसा की है। इस सदी के आरंभ में इसके तेरह नाटकों का एक संग्रह खोज में हाथ आया। अब तक मिले संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटक हैं। अश्वघोष ईसवी संवत् के ठीक पहले या बाद हुआ था। वास्तव में वे नाटकों के कुछ टुकड़े मात्र हैं जो ताड़पत्र पर अंकित हैं, और एक आश्चर्य की बात है कि गोवी रेगिस्तान के किनारे तुरफान में पाए गए हैं। अश्वघोष एक धर्मपरायण बौद्ध था और इन्होंने 'बुद्ध-चरित' भी लिखा है, जो बुद्ध की जीवनी है और बहुत प्रसिद्ध है।

यूरोप ने प्राचीन हिंदुस्तानी नाटकों के बारे में तब जाना, जब १७८६ में सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुंतला' का अनुवाद प्रकाशित किया। इस खोज से यूरोप के विचारशील लोगों में हलचल पैदा हो गई, और इस पुस्तक के कई संस्करण निकले। सर विलियम जोन्स के अनुवाद के सहारे जर्मन, फ्रेंच, डेनिश और इटालियन में इसके अनुवाद भी हुए। गेटे पर इसका गहरा असर हुआ और उसने 'शकुंतला' की जी खोलकर तारीफ की।

कालिदास संस्कृत-साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना गया है। प्रोफेसर सिल्वान लेवी ने लिखा है—“हिंदुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र में कालिदास का नाम चमक रहा है। नाटक, महाकाव्य और विरह-गीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और मूल-मूल का सञ्चय दे रहे हैं। सरस्वती के वरद पुत्रों में यह अद्वितीय है, और इसे ही ऐसी महान रचना करने का सामान्य प्राप्त हुआ है जिससे हिंदुस्तान का आदर बढ़ा है और स्वयं मानवता ने अपने को पहचाना है। उज्जयिनी में शकुंतला के जन्म पर जो आलोक हुआ था, उसने कई नयी नदियाँ बाद पच्छिम की दुनिया को भी तब आलोकित किया कि जब विलियम जोन्स ने इसका उसे परिचय कराया। कालिदास ने अपने निम्न उज्ज्वल तारों के बीच स्थान कर लिया है, जहाँ कि हर एक नाम मानवी-भावना के एक युग का प्रतिनिधित्व करता है। इन नामों का सिलसिला इतिहास की रचना करता है, वल्कि यों कहिए कि स्वयं इतिहास बन जाता है।”

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं, और कुछ लंबे काव्य रचे हैं। उसका समय ठीक-ठीक नहीं तय हो पाया है, लेकिन अनुमान है

कि वह चौथी सदी ईसवी के अंत के लगभग, उज्जयिनी में, गुप्त वंश के चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के समय में था। परंपरा कहती है कि वह इस दरवार के नवरत्नों में से एक था, और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी प्रतिभा को लोगों ने पहचाना और उसको, अपने जीवन-काल में, पूरा आदर मिला। वह उन भाग्यवानों में से था, जिन्हें जीवन में आदर मिला, और जिन्होंने सुन्दरता और कोमलता का—जीवन की कठोरताओं और रुखेपन की अपेक्षा—अधिक अनुभव किया। उसकी रचनाओं में जीवन के प्रति प्रेम, और प्रकृति की सुंदरता के लिए एक उमंग मिलती है।

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—शूद्रक का 'मृच्छकटिक'। यह एक कोमल और एक हृद तक कृत्रिम नाटक है, फिर भी इसमें कुछ ऐसी वास्तविकता है कि उसका हमपर असर होता है और इससे हमें उस जमाने की संस्कृति और विचारों की झांकी मिलती है। ४०० ई० के लगभग, चंद्रगुप्त द्वितीय के ही जमाने में, एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया, यह विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' था। यह एक विशुद्ध राजनैतिक नाटक है, जिसमें प्रेम का या किसी पौराणिक कथा का आधार नहीं लिया गया है। इसमें चंद्रगुप्त मौर्य के जमाने का हाल है, और उसका प्रधान मंत्री चाणक्य, जिसने 'अर्थशास्त्र' लिखा था, इसका नायक है। कुछ अर्थों में यह नाटक आज के जमाने पर बहुत घटित होता है।

राजा हर्ष भी, जिसने सातवीं सदी ईसवी के आरंभ में एक नया साम्राज्य स्थापित किया, एक नाटककार था और हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। ७०० ई० के लगभग भवभूति हुआ, जो संस्कृत-साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था। उसका अनुवाद करना सहज नहीं, क्योंकि उसके नाटक की सुंदरता उसकी भाषा में है, लेकिन वह हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रिय है और केवल कालिदास को उससे बड़ा समझा जाता है। चिल्सन ने, जो आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत का प्रोफेसर था, इन दोनों के बारे में लिखा है कि "भवभूति और कालिदास के श्लोकों से ज्यादा मधुर और सुंदर और शानदार भाषा की कल्पना करना मुमकिन नहीं।"

संस्कृत-नाटक की धारा सदियों तक बहती रही, लेकिन नवीं सदी के मुरारि के बाद उसकी विशेषताओं में प्रकट रूप से कमी आई। यह कमी और क्रमिक उतार हमें जीवन के और कामों में भी दिखाई पड़ता है। यह बताया गया है कि नाटकों का यह ह्रास कुछ अंशों में

इस वजह से हो सकता है कि हिंदी-अफगान और मुगल उस्तादों ने
 इसे राजदरबार की संरक्षिता नहीं प्राप्त हुई, और इस्लाम के मान्य-
 वालों ने कला के इस रूप, अर्थात् नाटक को, यों नहीं पसंद किया कि
 इसका संबंध राष्ट्रीय धर्म से था। लेकिन इस दलील में कुछ कम
 नहीं है, यद्यपि यह संभव है कि ऊपर के राजनैतिक परिवर्तनों ने जोड़-
 बहुत दूर कर असर डाला हो। सच बात तो यह है कि संस्कृत-नाटक
 का ह्रास इन राजनैतिक परिवर्तनों से बहुत पूर्व दिखाई पड़ने लगता
 है। और ये परिवर्तन भी, कुछ सदियों तक केवल उत्तरी हिंदुस्तान में
 हुए और अगर इस नाटक में कोई दम बच रहा था तो वह बखिर्दान
 में पनप सकता था। भारतीयों, अफगानों, तुर्कों और मुगल शासकों
 का कारनामा—कुछ थोड़ी मुद्दतों को छोड़कर जब कि कट्टरपन्था
 प्रचल रहा है—यह था कि उन्होंने हिंदुस्तान की संस्कृति को निम्नित
 रूप से बढ़ावा दिया है और अक्सर उसमें नई प्रवृत्तियाँ उत्पन्न की हैं
 और अपनी बातें जोड़ी हैं। हिंदुस्तानी संगीत को, बड़े उस्ताद से,
 ज्यों का त्यों मुसलमानी दरबारों में और अमीरों के यहां उठा लिया
 गया है, और इसके कुछ सबसे बड़े उस्ताद मुसलमान हुए हैं। नाट्य
 और कविता को भी बढ़ावा मिला है और प्रसिद्ध हिंदी कवियों में
 मुसलमान भी हैं। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह ने हिंदी
 में संगीत पर एक किताब लिखी है। हिंदुस्तानी कविता और संगीत
 दोनों में ही हिंदू देवी-देवताओं के वर्णन भरे पड़े हैं, लेकिन इन्हें स्वीकार
 किया गया और पुराने रूपक और अलंकार चलते रहे। यह कहा जा
 सकता है कि मूर्तियों का बनाना छोड़कर, कला का कोई भी रूप नहीं
 है जिसे मुस्लिम शासकों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) नष्ट करने की
 कोई कोशिश की हो।

संस्कृत-नाटक का ह्रास यों हुआ कि उन दिनों में हिंदुस्तान में
 दूसरी दिशाओं में भी ह्रास हो रहा था, और राजदरबारों में नहीं
 था। अफगानों और तुर्कों के दिल्ली में गद्दी पर बैठने के बहुत दिनों
 ही यह ह्रास आरंभ हो गया था। फिर भी, संस्कृत-नाटक मुगल
 युग में और हाल तक निखे जाते रहे, यह एक अलंकार की बात है।
 सन् १८६२ में जेम्स पियर के 'सिड्दहन्त' नामक पुस्तक में
 भावानुवाद निकला। पुराने नाटकों की संस्कृत-लिपि में प्रतियाँ
 हैं। इनमें एक सूची, जो जोसेफ लिचमैन के सन् १८८५ में दिल्ली की
 सी, ३७७ नाटकों और १८६ नाट्यकारों के नाम देती है। एक और
 हाल की सूची में ३४० नाटकों के नाम दिए गए हैं।

पुराने नाटकों की (कालिदास और दूसरों के) भाषा मिली-जुली यानी उसमें संस्कृत और एक या ज्यादा प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, प्राकृतें संस्कृत की ही बोलचाल का रूप हैं। एक ही नाटक में लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग, ग्रामर से स्त्रियां, प्राकृत बोलती हैं, हालांकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। लोक या गीत, जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में हैं। इस मिली-जुली भाषा की वजह से शायद नाटक साधारण दर्शकों को अधिक प्रिय होता था।

इस ऊंचे दर्जे के साहित्यिक थियेटर को छोड़कर, हमेशा एक लोक-रंजन थियेटर जो भारतीय पौराणिक गाथाओं तथा महाकाव्यों से ली कहानियों पर आधारित था और इन कहानियों से देखने वाले परिचित हुआ करते थे, और उन्हें तो तमाशे से मतलब होता, नाटकीय तत्वों की जांच से नहीं। ये खेल लोगों की बोली में होते थे, इसलिए अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग बोलियां उपयोग में आती थीं। दूसरी तरफ संस्कृत-नाटक ऐसे थे, जिनका सारे हिंदुस्तान में चलन था, क्योंकि संस्कृत सारे हिंदुस्तान की भाषा थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ये संस्कृत नाटक खेले जाने के लिए लिखे जाते थे, क्योंकि इनमें विस्तार से अभिनय-संकेत दिए गए हैं और देखने वालों को बिठाने के नियम भी। प्राचीन यूनान के चल के विरुद्ध यहां नटियों अभिनय में भाग लेती थीं। यूनानी और संस्कृत दोनों में, प्रकृति के संबंध में एक सूक्ष्म चेतना मिलती है, एक एक भाव मिलता है कि मनुष्य प्रकृति का अंग है। इनमें संगीत का गहरा पुट है, और कविता जीवन का एक अनिवार्य अंग जान पड़ती है, जिसे भरपूर अर्थ और महत्व है। यह प्रायः स्वर से पढ़ी जाती थी। यूनानी नाटकों को पढ़ते हुए बहुत-से ऐसे रीति-रिवाजों और विचारों के हवाने आते हैं, जिनसे बकायक पुराने हिंदुस्तानी रीति-रिवाजों की याद आ जाती है। यह तब होते हुए भी यूनानी संस्कृत नाटक से, मूल में, भिन्न हैं।

यूनानी नाटक का विशेष क्षेत्र 'ट्रेजेडी' है, अर्थात् बुराई की कहानी है। आदमी क्यों दुःख उठाता है? दुनिया में बुराई क्यों है? धर्म, ईश्वर की पहली है। आदमी कितना दयनीय है, जिसकी दो जिंदगी है, और जो शक्तिशाली भाग्य के विरुद्ध अंधे और प्रयत्नों में लगा हुआ है।

मनुष्य कष्ट झेलकर ही सीखता है, वह सीखता है कि

सामना कैसे करना चाहिए, लेकिन वह यह भी सीखता है कि अंतिम रहस्य बना रह जाता है और मनुष्य अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं पाता है, न अच्छाई और बुराई की पहली को ही हल कर पाता है।

यूनानी 'ट्रेजेडी' के बराबर जोरदार, और उस ज्ञान की कोई वस्तु संस्कृत में नहीं है। वास्तव में यहां 'ट्रेजेडी' (दुःखांत) जैसी कोई चीज है ही नहीं, क्योंकि इसका निषेध रहा है। इस तरह के बुनियादी प्रश्नों पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि नाटककारों ने धार्मिक विश्वासों को, जैसे वे प्रचलित थे, मान लिया है। नाटकों की रचना के बारे में कड़े नियम बने हुए थे और उन्हें तोड़ सकना आसान न होता था। नायक सदा साहसी व्यक्ति होता है, जो कठिनाइयों का सामना करता है। चाणक्य अवज्ञा के साथ 'मद्राराक्षस' में कहता है, "भूख भाग्य के भरोसे रहते हैं, वे अपने ऊपर भरोसा न कर सहायता के लिए नक्षत्रों की ओर देखते हैं।" कुछ बनावट आ जाती है। नायक हमेशा नायक बना रहता है, दुष्ट हमेशा दुष्टता के काम करता है, बीच का ताव-भाव नहीं मिलता। फिर भी प्रबल परिस्थितियां आती हैं, हृदय पर असर पैदा करने वाले दृश्य दिखाए गए हैं और जीवन की एक पृष्ठभूमि है जो सपने की तस्वीर की तरह जान पड़ती है, अर्थात् जो वास्तविक भी है, और निराधार भी, और इन सबको कवि की कल्पना ओजपूर्ण भाषा में बुनकर रख देती है। ऐसा जान पड़ता है—चाहे वास्तव में ऐसा न रहा हो—कि हिंदुस्तान का जीवन उस समय अधिक शांतिमय, पायदार था, और मानो उसने जड़ों का पता लगा लिया था और अपने प्रश्नों का हल पा लिया था। यूनानी 'ट्रेजेडी' के भयानक तूफानों जैसी कोई चीज यहां नहीं है। लेकिन उसमें बड़ी मानवता है, एक सुंदर सामंजस्य है, और एक व्यवस्थित एकता है। सिल्वान लेवी ने लिखा है कि "नाटक अब भी हिंदुस्तानी प्रतिभा का सबसे अच्छा आविष्कार है।" और प्रोफेसर ए० बैरिडेल कीथ भी कहते हैं कि "संस्कृत नाटक को यथार्थ में हिंदुस्तानी काव्य की सबसे ऊंची उपज समझा जा सकता है, जिसमें कि हिंदुस्तानी साहित्य के सर्वोत्तम रचनाकारों की साहित्यिक कला की अंतिम कल्पना का निशान आ गया है।"

८ : संस्कृत की जीवन-शक्ति और स्थिरता

संस्कृत एक अदम्य रूप से संपन्न, हरी-भरी और फूलों से

भाषा है, फिर भी यह नियमों से बंधी हुई है, और २६०० वर्ष
 के व्याकरण का जो चीखटा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर
 रखा था, उसके भीतर चल रही है। यह फैली, खूब संपन्न हुई, हरी-
 री और अलंकृत बनी, लेकिन अपने मूल को पकड़े रही। संस्कृत-
 साहित्य के ह्रास के समय में, इसने कुछ शक्ति, और शैली की सादगी
 दी, और जटिल रूपों और उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में उलझ
 गई। शब्दों को जोड़ने वाले समास के नियम पंडितों के हाथ में पकड़-
 कर चतुराई दिखाने के साधन बन गए और ऐसे समास-पद बनाए
 जाने लगे जो कई पंक्तियों में जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १७८४ में ही कहा था—“संस्कृत भाषा
 चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अदभुत है, यूनानी भाषा की
 अपेक्षा अधिक पूर्ण, लातीनी की अपेक्षा अधिक संपन्न और दोनों की
 अपेक्षा यह अधिक परिष्कृत है।”

संस्कृत में शोध करने का सबसे अधिक श्रेय उन्नीसवीं सदी के
 जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। प्रायः सभी जर्मन विश्वविद्या-
 लयों में एक संस्कृत का विभाग रहा है और इसमें एक या दो अध्यापक
 लगे रहे हैं। हिंदुस्तान में पंडितों की कमी नहीं थी, लेकिन वे पुराने
 ढंग के थे, उनमें आलोचना-वृत्ति नहीं थी और वे अरबी और फारसी
 को छोड़कर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओं के जानकार न थे। यूरोपियों
 के प्रभाव से, हिंदुस्तान में एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ और
 बहुत-से हिंदुस्तानी यूरोप (आम तौर पर जर्मनी) गए, जिससे
 वे शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नये ढंगों
 सीख लें। इन्हें यूरोपियों की अपेक्षा एक सुविधा भी थी, लेकिन स
 साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी
 उनके कुछ बंधे-तुले और पहले से बने हुए विचार थे और इनके क
 वे निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी, वह बहुत
 सुविधा थी, अर्थात् रचना के भाव को, और जिस वातावरण में
 की गई थी, उसे, वे जल्दी समझ लेते थे और इस तरह
 पढ़ सकते थे।

व्याकरण और भाषा शास्त्र की अपेक्षा भाव स्वयं कहीं
 वस्तु है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा का कहीं
 उत्तराधिकार है, और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें
 उनका जीता-जागता रूप है। शब्द युग-युग में अपने अर्थ बदल
 हैं, और पुराने विचार नये विचारों में बदल जाते हैं, यद्यपि
 १०४

अपना पुराना भेष बनाए रखते हैं। किसी पुराने शब्द या मुहावरे का अर्थ पकड़ना कठिन हो जाता है, और उसके भाव के बारे में तो कहा ही क्या जाए। अगर हम उस पुराने अर्थ को जनक लेना चाहते हैं, और उन लोगों के मस्तिष्क में पैठना चाहते हैं जिन्होंने इन भाषा का अतीत में प्रयोग किया था तो हमें भावुक और कवित्वमय निगाह रखना जरूरी है। भाषा जितनी संपन्न और भरी-पूरी होती है, उतनी ही कठिनाई बढ़ जाती है। और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह संस्कृत ऐसे शब्दों से भरी पड़ी है, जिनमें न केवल काव्य की सुंदरता है, बल्कि जिनमें गहरे अर्थ हैं, उनके साथ जुड़े हुए बहुत-से विचार हैं, जिनको ऐसे भाषा में, जो भावों और दृष्टिकोण में विदेशी है, नहीं अदा किया जा सकता। उसके व्याकरण, उसके दर्शन में भी काव्य का पुट है, उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

हिंदुस्तान की हमारी वर्तमान भाषाएं संस्कृत से उपजी हैं और उनके शब्दकोष और वयान के ढंग संस्कृत की देन हैं। संस्कृत-काव्य और दर्शन के बहुत-से अर्थपूर्ण और विशेष शब्द, जिनके विदेशी भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सकते, अब भी हमारी आम भाषाओं के अंग हैं। और स्वयं संस्कृत में, यद्यपि वह लोगों की भाषा के रूप में बहुत दिन हुए मर चुकी है, एक अद्भुत जीवन-शक्ति है।

कितने दिनों से संस्कृत एक मरी हुई भाषा है—इस अर्थ में कि वह आम तौर पर बोली नहीं जाती—मैं नहीं जानता। कालिदास के जमाने में भी यह जनता की भाषा न थी, अर्थात् वह सारे हिंदुस्तान के पढ़े-लिखों की ही भाषा थी। और सदियों तक यह ऐसी बनी रही। बल्कि दक्खिन-पूरव एशिया के हिंदुस्तान के उपनिवेशों में और मध्य-एशिया में भी फैली। नियमित रूप से संस्कृत-अध्ययन के, और संभवतः नाटकों के भी, सातवीं सदी ईसवी में, कंबोडिया में प्रचलित होने के प्रमाण हैं। थाईलैंड (स्याम) में कुछ उत्सव-संस्कारों के अवसरों पर, संस्कृत अब भी प्रयोग में आती है। हिंदुस्तान में संस्कृत की जीवनी शक्ति बड़ी अचरज-भरी रही है। जबकि तेरहवीं सदी के आरंभ में अफगान सुल्तानों ने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर लिया, उस समय हिंदुस्तान के अधिक भागों की दरबारी भाषा फारसी हो गई और क्रमशः बहुत-से पढ़े-लिखे लोगों ने संस्कृत की जगह उसमें ग्रहण किया। आम भाषाओं ने भी उन्नति करके साहित्यिक रूप ग्रहण किए। फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत बिलकुल मर चुकी नहीं। यह संस्कृत वैसे पाये की न रह गई थी।

भाषा है, फिर भी यह नियमों से बंधी हुई है, और २६०० वर्ष
 ले व्याकरण का जो चौखटा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर
 या था, उसके भीतर चल रही है। यह फैली, खूब संपन्न हुई, हरी-
 री और अलंकृत बनी, लेकिन अपने मूल को पकड़े रही। संस्कृत-
 साहित्य के ह्रास के समय में, इसने कुछ शक्ति, और शैली की सादगी
 को दी, और जटिल रूपों और उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में उलझ
 गई। शब्दों को जोड़ने वाले समास के नियम पंडितों के हाथ में पकड़-
 कर चतुराई दिखाने के साधन बन गए और ऐसे समास-बद बनाए
 जाने लगे जो कई पंक्तियों में जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १७८४ में ही कहा था—“संस्कृत भाषा
 चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अदभुत है, यूनानी भाषा की
 अपेक्षा अधिक पूर्ण, लातीनी की अपेक्षा अधिक संपन्न और दोनों की
 अपेक्षा यह अधिक परिष्कृत है।”

संस्कृत में शोध करने का सबसे अधिक श्रेय उन्नीसवीं सदी के
 जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। प्रायः सभी जर्मन विश्वविद्या-
 लयों में एक संस्कृत का विभाग रहा है और इसमें एक या दो अध्यापक
 लगे रहे हैं। हिंदुस्तान में पढ़ितों की कमी नहीं थी, लेकिन वे पुरा-
 ण के थे, उनमें आलोचना-वृत्ति नहीं थी और वे अरबी और फारसी
 को छोड़कर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओं के जानकार न थे। यूरोप
 के प्रभाव से, हिंदुस्तान में एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ
 बहुत-से हिंदुस्तानी यूरोप (आमतौर पर जर्मनी) गए, जिससे
 वे शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नये ढंगों
 सीख लें। इन्हें यूरोपियों की अपेक्षा एक सुविधा भी थी, लेकिन
 साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी
 उनके कुछ बंधे-तुले और पहले से बने हुए विचार थे और इनके
 वे निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी, वह बहुत
 सुविधा थी, अर्थात् रचना के भाव को, और जिस वातावरण
 की गई थी, उसे, वे जल्दी समझ लेते थे और इस तरह
 पकड़ सकते थे।

व्याकरण और भाषा शास्त्र की अपेक्षा भाव स्वयं का
 वस्तु है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा का च-
 उत्तराधिकार है, और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें
 उनका जीता-जागता रूप है। शब्द युग-युग में अपने अर्थ का-
 हैं, और पुराने विचार नये विचारों में बदल जाते हैं, यद्यपि

अपना पुराना भेष बनाए रखते हैं। किसी पुराने शब्द का नुस्खे का अर्थ पकड़ना कठिन हो जाता है, और उसके भाव के बारे में तो कहा ही क्या जाए। अगर हम उस पुराने अर्थ की जानकारी लेना चाहते हैं, और उन लोगों के मस्तिष्क में पैठना चाहते हैं जिन्होंने इस भाषा का अतीत में प्रयोग किया था तो हमें भावुक और कवित्वमय लिखना पड़ेगा जरूरी है। भाषा जितनी संयत और मरोड़नी होती है, उतनी ही कठिनाई बढ़ जाती है। और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह संस्कृत ऐसे शब्दों से भरी पड़ी है, जिनमें न केवल काव्य की सुंदरता है, बल्कि जिनमें गहरे अर्थ हैं, उनके साथ जुड़े हुए बहुत-से विचार हैं। किसी ऐसे भाषा में, जो भावों और दृष्टिकोण में विभेद है, नहीं बना, लिखा जा सकता। उसके व्याकरण, उसके दर्शन में भी काव्य का सूत्र है, उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

हिंदुस्तान की हमारी वर्तमान भाषाएं संस्कृत से उतरी हैं, जिन उनके शब्दकोष और बयान के ढंग संस्कृत की ढंग हैं। संस्कृत-भाषा और दर्शन के बहुत-से अर्थपूर्ण और विवेक शब्द, जिनसे संस्कृत भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सकते, अब भी हमारी इन भाषाओं के अंग हैं। और स्वयं संस्कृत में, यद्यपि वह लोगों को पढ़ने के लिए बहुत दिन हुए मर चुकी है, एक अद्भुत जीवन-शक्ति है।

कितने दिनों से संस्कृत एक मरोड़नी भाषा है—जिसमें वह आम तौर पर बोली नहीं जाती—नहीं समझी जाती। जिनके जेबों में भी वह जगता की भाषा नहीं है, जिनके मन में वह लिखने के पढ़े-लिखों की ही भाषा है। और यद्यपि वह बहुत दिनों से मरोड़नी बल्कि दक्षिण-पूर्व एशिया के हिंदुस्तान के जिनके जेबों में भी नहीं है। निराला का ये संस्कृत-भाषा के जेबों में वतः नाटकों के भी, नाटकों की लिखनी में संस्कृत के जेबों में होने के प्रमाण है। यद्यपि (यद्यपि) ये संस्कृत-भाषा के जेबों में नहीं पर, संस्कृत अब भी प्रयोग में है। संस्कृत में बहुत-से जीवन की शक्ति हैं। अद्यतन में ये संस्कृत-भाषा के जेबों में प्रारंभ में अद्यतन संस्कृत के जेबों में हैं। ये संस्कृत-भाषा के जेबों में उन समय हिंदुस्तान के अर्थपूर्ण भाषा के जेबों में हैं। यदि और जगता बहुत-से संस्कृत-भाषा के जेबों में हैं। प्रयोग किया। ये संस्कृत-भाषा के जेबों में हैं। ये संस्कृत-भाषा के जेबों में लिए। फिर भी, ये संस्कृत-भाषा के जेबों में हैं। ये संस्कृत-भाषा के जेबों में यह संस्कृत के जेबों में हैं। ये संस्कृत-भाषा के जेबों में हैं।

सादी संस्कृत का समझना उन लोगों के लिए, जो आज की किसी भी भारतीय आर्यभाषा—हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि—को अच्छी तरह जानते हैं, सहज है। आजकल की उर्दू तक में, जो एक भारतीय आर्यभाषा है, ८० फीसदी शब्द संस्कृत के हैं। अक्सर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई विशेष शब्द संस्कृत से आया है या फारसी से, क्योंकि इन दोनों भाषाओं के मूल शब्द अक्सर एक-से हैं। कुछ अचरज की बात है कि दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं ने, जो यद्यपि मूल में बिल्कुल अलग की भाषाएं हैं, संस्कृत के इतने शब्द अपना लिए हैं कि करीब-करीब उनका आधा शब्दकोष संस्कृत से मिलता है।

बहुत-से विषयों पर, जिनमें नाटक भी हैं, संस्कृत में सारे मध्य-युग में, यहां तक कि हमारे समय तक पुस्तकें लिखी जाती रही हैं। वास्तव में ऐसी पुस्तकें अब भी निकलती रहती हैं और संस्कृत में पत्रिकाएं भी निकलती हैं। उनका दर्जा बहुत ऊंचा नहीं है और संस्कृत साहित्य में वे कोई मूल्यवान् वृद्धि नहीं करती हैं। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि संस्कृत की गिरफ्त इस सारे लंबे जमाने में बनी रही। कभी-कभी ग्राम सभाओं में अब भी संस्कृत में व्याख्यान होते हैं, यद्यपि यह स्वाभाविक है कि सुनने वाले लोग बहुत चुने हुए होते हैं।

यह एक रोचक जानकारी है कि आजकल के थाईलैंड में जब नये पारिभाषिक, वैज्ञानिक और शासन-संबंधी पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हुई, तो उनमें से बहुत-से संस्कृत के आधार पर बना लिए गए।

प्राचीन हिन्दुस्तानी ध्वनि पर बड़ा बल देते थे और इसलिए उनकी रचनाओं में, चाहे वे गद्य में हों या पद्य में, एक लय और संगीत का गुण मिलता है। शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो सके, इसमें बड़ा अवलंब होता था, और इसके लिए नियम बनाए गए थे। इसमें और भी आवश्यकता यों पड़ी कि पुराने समय में शिक्षा मौखिक होती थी और सारी पुस्तकें कंठस्थ करा दी जाती थीं, और इस तरह पीढ़े दर पीढ़ी चलती रहती थीं। शब्दों की ध्वनि को महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ कि अर्थ और ध्वनि का मेल कराने के यत्न हुए कभी-कभी बहुत सुंदर मेल पैदा हुआ और कभी-कभी भद्दे और कबूटरी संयोग भी बन पड़े।

वेदों के पाठ आज भी, उच्चारण के उन नियमों के अनुसार है जो प्राचीन काल में बनाए गए थे।

आज की हिंदुस्तानी भाषाएं, जो संस्कृत से निकली हैं और इसलिए भारतीय आर्यभाषाएं कहलाती हैं, ये हैं—हिंदी, उर्दू, बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, राजस्थानी (जो हिंदी का ही एक रूप हैं), पंजाबी, सिंधी, पश्तो और कश्मीरी। द्रविड़ भाषाएं ये हैं—तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इन पंद्रह भाषाओं में सारे हिंदुस्तान की भाषाएं आ जाती हैं, और इनमें से हिंदी (अन्ने स्पांतर उर्दू के साथ) सबसे अधिक प्रचलित है और जहां यह बोली नहीं जाती वहां भी समझ ली जाती है। इन भाषाओं को छोड़कर कुछ बोलियां और अविकसित भाषाएं हैं, जो बहुत छोटे इलाकों में या कुछ पिछड़ी हुई पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जाने वाली यह कहानी कि हिंदुस्तान में पांच सौ या इससे अधिक भाषाएं हैं, भाषा-वैज्ञानिकों, या मर्दुनशुमारी के कनिष्कर के दिमाग की गढ़ंत है, जो बोलियों के छोटे-छोटे भेदों को, और असम, बंगाल और बरमा के सरहद की पहाड़ी जातियों की हर एक बोली को गिन लेते हैं, चाहे वह बोली कुछ सौ या हजार लोगों की ही बोली हो।

हिंदुस्तान में भाषा के प्रश्न का इस विविधता से कोई संबंध नहीं। यह मामला हिंदी-उर्दू का है, यानी एक जवान का, जिसके दो साहित्यिक रूप हैं और जिसकी दो लिपियां हैं। बोली में दोनों में बहुत ही अधिक भेद हो—लिखने में, खास तौर से साहित्यिक बोल में, यह भेद बढ़ जाता है। इस भेद को कम करने की और एक आम बोल देने की हिंदुस्तानी कहते हैं, पैदा करने की कोशिशें हुई हैं, और अब भी जारी हैं।

संका की भाषा सिंहली है। यह भी संस्कृत से निकली हुई है। भारतीय आर्यभाषा है। सिंहली लोगों ने अपना नाम, यानी सिंहली ही हिंदुस्तान से नहीं लिया है, बल्कि वे जाति आर्य नाम से ही हिंदुस्तानियों से मिले हुए हैं।

अब यह बात पूरी तरह से मानी जा चुकी है कि संस्कृत का जन्म को पुरानी प्रतिष्ठित और आज की भाषाओं में जन्म है। संस्कृत तर्क में बहुत-से मूल शब्द संस्कृत से मिलते हैं। संस्कृत से जन्म की यूरोपीय भाषा लियुआनियान है।

६ : दौड़ दूँ

जिस युग में बुद्ध का जन्म हुआ, वह हिंदुस्तान के ही एक हिस्से में हुआ था।

निक मंथन और दार्शनिक चिंतन का काल था। और यह बात हिंदु-
 न्तान तक ही सीमित न थी, क्योंकि यही समय लाओ-त्से और कन्फू-
 जस का और जरयुस्त और पाइथागोरस का था। हिंदुस्तान में इसने
 नीतिकवाद को भी जन्म दिया और भगवद्गीता को भी, बौद्धमत
 को भी और जैनमत को भी, और दूसरी बहुत-सी विचारधाराओं को,
 जो बाद में हिंदुस्तानी दर्शन के अलग-अलग वर्गों में प्रकट हुईं।
 विचारों की अनेक तहें थीं—एक-दूसरे से मिली हुई और कभी एक-
 दूसरे पर चढ़ी हुई। बौद्धधर्म के साथ-साथ भिन्न-भिन्न दर्शनों का
 विकास हुआ, और स्वयं बौद्धधर्म में ऐसे भेद पैदा हुए जिनसे
 कि विचार के अलग-अलग वर्ग स्थापित हो गए। दार्शनिक चिंतन
 धीरे-धीरे घटा और उसकी जगह लोग पंडिताऊ बहस-मुवाहसे में
 पड़ गए।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को आधिभौतिक विषयों को लेकर पंडि-
 ताऊ बहस-मुवाहसे में पड़ने के विरुद्ध सतर्क कर दिया था। कहा जाता
 है कि उन्होंने कहा था—“जिस विषय की आदमी को जानकारी
 न हो, उसपर चुप रहना चाहिए।” सत्य की खोज खुद जीवन में
 होनी चाहिए, जीवन के दायरे से परे के मामलों और इसलिए मनुष्य
 की बुद्धि से बाहर की बातों के बारे में बहस में नहीं। उन्होंने जिन्दगी
 के आचार पक्ष पर जोर दिया और प्रकट में यह अनुभव किया कि
 लोग जब आधिभौतिक बारीकियों में पड़ जाते हैं तो इसे भुला दिया
 जाता है। आरंभ के बौद्धधर्म में हमें बुद्ध के इस दार्शनिक और बुद्धि-
 वादी भाव की झलक मिलती है। उसकी जिज्ञासा की बुनियाद अनु-
 भव पर है।

बुद्ध ने, विद्रोही होते हुए भी, अपने को देश के पुराने धर्म से
 अलग नहीं किया। मिमेज रीज डेविड्स कहती हैं—“गौतम का जन्म
 और पालन हिंदू की भांति हुआ था और वह हिंदू की तरह रहे और
 मरे। गौतम के अध्यात्मवाद और सिद्धांतों में बहुत बातें ऐसी न
 मिलेंगी जो प्राचीन पद्धतियों में न मिल जाएं; और उनकी नीति से
 मिलती हुई शिखाएं पहले या बाद की हिंदू पुस्तकों में मिल जाएंगी।
 गौतम की जो कुछ मौलिकता है, वह इस बात में है कि जो अच्छी
 बातें और लोग कह गए थे, उन्हें उन्होंने नये रूप में ढाला, उनका
 विस्तार किया, उन्हें प्रतिष्ठित किया, और यह कि जिन न्याय और
 बराबरी के सिद्धांतों को पहले ही मुख्य हिंदू विचारकों ने माना था,
 उनको उन्होंने तर्क के आधार पर अंतिम परिणाम तक पहुंचाया।”

पहले के बौद्धधर्म की ज्यों-ज्यों अव्यवस्था हुई, त्यों-त्यों उसके महायान रूप ने उत्पत्ति की; पुराना रूप हीनयान कहलाता था। इसी महायान-पंथ में बुद्ध को ईश्वर का पद दिया गया और साकार ईश्वर के रूप में उनकी उपासना प्रारंभ हुई। बुद्ध की मूर्ति भी पच्छिमोत्तर के यूनानी प्रदेश में दिखाई पड़ने लगी। लगभग इसी समय हिंदुस्तान में ब्राह्मण-धर्म फिर से जगा, और साय-साय संस्कृत के अध्ययन ने जोर पकड़ा। हीनयान और महायान पंथों के बीच तीखे विवाद हुए और दोनों के बीच शास्त्रार्थ और आपत्त का विरोध वाद के इतिहास में बराबर मिलता है। हीनयान वाले देश (लंका, बर्मा, स्याम) अब भी चीन और जापान में प्रचलित बौद्धधर्म को उपेक्षा से देखते हैं, और मेरा अनुमान है कि दूसरी ओर से भी भावना का जवाब मिलता है।

हीनयान ने, कुछ हद तक, सिद्धांत की पुरानी पवित्रता बनाए रखी, और उसे पाली में एक व्यवस्थित रूप दिया। लेकिन महायान सभी दिशाओं में फैला, उसने सभी तरह के विश्वासों के लिए खा-दारी बरती और हर एक देश के विशेष दृष्टिकोण के अनुसार अपने को ढाल लिया। हिंदुस्तान में यह आम धर्म के निकट आने लगा; और देशों—चीन, जापान, तिब्बत—में इसका विकास अनग-अलग ढंग से हुआ।

१० : बौद्धधर्म का हिंदूधर्म पर प्रभाव

बुद्ध ने स्थापित सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था को उखाड़ने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने उनकी दुनियादी नान्यताओं को स्वीकार किया, और अगर आक्षेप किए तो केवल उन बुराइयों पर, कि जो उनके गिर्द इकट्ठा हो गई थीं। फिर भी वह कुछ हद तक समाज में क्रांति पैदा करने के काम में लगे थे, इसलिए ब्राह्मण-वर्ग, जो उस समय के चलन को जारी रखना चाहता था, उनसे अस्वस्थ हो गया।

बौद्धधर्म ने सैकड़ों प्रकार से हिंदुस्तानी जीवन पर प्रभाव डाला। और यह अनिवार्य भी था, क्योंकि इसे याद रखना चाहिए कि एक हजार वर्ष तक यह एक जीता-जागता, सक्रियशाली और हिंदुस्तान में दूर-दूर तक फैला हुआ था। उस लंबे काल में, जबकि इसका ह्रास हो रहा था, और जबकि एक अलग धर्म के रूप में यहाँ इसका अस्तित्व न रहा, इनका बहुत अंग हिंदूधर्म और राष्ट्रीय जीवन और विचार के ढंग का अंग बन गया।

वन गए थे और लोग उनमें खिचकर जाने लगे। बिहार के सूदे का नाम ही बिहार या मठ से बना है, जिससे पता चलता है कि इस बड़े प्रदेश में कितने मठ रहे होंगे। इन मठों में शिक्षा का भी प्रबंध हुआ करता था और कुछ का संबंध विद्यालयों और कभी-कभी विश्व-विद्यालयों या विद्यापीठों से था।

बुद्ध के समय में वर्ण-व्यवस्था लचीली थी और इसमें उतनी कट्टरता नहीं आई थी जितनी कि बाद के जमाने में आ गई। जन्म से अधिक योग्यता, चरित्र और काम पर महत्व दिया जाता था। स्वयं बुद्ध ने अक्षर ब्राह्मण शब्द का योग्य, उल्लाही और संयमी आदमी के बारे में प्रयोग किया है।

११ : हिंदूधर्म ने बौद्धधर्म कैसे आत्मसात् किया

गीय का कहना है कि "हिंदुस्तान में एक ऐसी अदभुत शक्ति है कि वह जिस वस्तु को बाहर से ग्रहण करता है, उसे अपने में मिला और पचा लेता है।" अगर वह बात बाहर से और विदेशी आचारों से ली गई वस्तुओं के बारे में सही है, तो यह स्वयं उसीके मस्तिष्क और विचारों की उपज के बारे में और भी लागू हो जाती है। बौद्धधर्म न केवल पूरी तौर पर हिंदुस्तान की उपज था, बल्कि इसका दर्शन हिंदुस्तान के पुराने विचार और उपनिषदों के वेदांती दर्शन से मिलता हुआ था। उपनिषदों ने पुरोहिताई और कर्मकांड की हंसी तक उड़ाई थी और जात-पात के महत्व को कम किया था।

बौद्धधर्म, हिंदुस्तान में, एक सामाजिक और आध्यात्मिक जागृति और सुधार के समय में आरंभ हुआ। इसने लोगों में एक नई जान फूँकी, जनता की शक्ति के नये द्वार निकाले, और नेतृत्व के नये आदर प्रस्तुत किए। अशोक के साम्राज्य की सत्परस्ती में यह तेजी से फैली और हिंदुस्तान का सबसे मुख्य धर्म बन गया। यह दूसरे मुलकों में भी फैला और हिंदुस्तान के बाहर जाते, और बाहर से हिंदुस्तान आने वाले बौद्धविद्वानों का लगातार ताँता लगा रहता था। यह निवर्तिना सदियों तक जारी रहा। जब चीनी यात्री फाहियान हिंदुस्तान में पाँचवीं सदी ईसवी में, यानी बुद्ध के एक हजार साल बाद आया, तो उसने देखा कि यहाँ बौद्धधर्म फैला हुआ है। सातवीं सदी में, एक उत्तरे भी महाहर यात्री, ह्वेनसांग हिंदुस्तान में आया और उसने हान के नज़र देखे, यद्यपि कुछ देशों में इसका अब भी जोर था।

या में बौद्ध विद्वान और भिक्षु धीरे-धीरे हिंदुस्तान से
 वीच में गुप्त-सम्राटों के समय में, चौथी और पांचवीं सदियों में,
 धर्म में पुनर्जागृति पैदा हो गई थी। यह बौद्धधर्म की विरोधी
 नहीं थी, लेकिन इसने निश्चित रूप में ब्राह्मण-धर्म की शक्ति
 महत्व को बढ़ावा दिया और उसके भीतर बौद्धधर्म की परलोक-
 के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी थी। बाद के गुप्त-राजाओं ने बहुत
 तक हूणों के आक्रमणों का सामना किया, और यद्यपि उन्होंने
 हूणों को यहां से भगा दिया, फिर भी देश में कमजोरी आ गई
 हास का सिलसिला शुरू हो गया। बाद में कई ऐसे समय आए
 जबकि उन्नति दिखाई पड़ी है और मारके के लोग सामने आए हैं।
 केन ब्राह्मण-धर्म और बौद्धधर्म दोनों का हास होता रहा, और
 दोनों के अंदर बहुत गिरे आचार दिखाई पड़ने लगे। दोनों के बीच
 बढ़ कर सकना कठिन हो गया। अगर ब्राह्मण-धर्म ने बौद्धधर्म को
 अपने में समाविष्ट कर लिया, तो इस प्रक्रिया में ब्राह्मण-धर्म स्वयं
 बहुत-से अर्थों में बदल गया।
 आठवीं सदी में, शंकराचार्य ने, जो हिंदुस्तान के सबसे बड़े दार्शन-
 निकां में हो गए हैं, हिंदू सन्यासियों के मठ बनाए। यह बौद्धों के संघों
 की नकल में था। इससे पहले ब्राह्मण-धर्म में सन्यासियों के ऐसे कोई
 संगठन न थे, यद्यपि उनके छोटे-छोटे गुट मौजूद थे। पूर्वी बंगाल में
 और पच्छिमोत्तर में सिंध में बौद्धधर्म का कोई विगड़ा हुआ रूप अब
 भी चल रहा था। नहीं तो बौद्धधर्म शनैःशनैः हिंदुस्तान से, एक प्रच-
 लित धर्म के रूप में, उठ गया।

१२ : छः दर्शन

हिंदुस्तानी-दर्शन का आरंभ हम बौद्धकाल से पूर्व ही होता
 हुआ देखते हैं। ब्राह्मणों और बौद्धों के दर्शनों का विकास साथ-साथ
 और क्रमिक होता है और ये आपस में बहुधा एक-दूसरे की आलोचना
 भी करते हैं और एक-दूसरे की बातों को ग्रहण भी कर लेते हैं। इस
 सन् के आरंभ होने से पहले ब्राह्मणों के छः दर्शनों ने अपना स्वरूप
 बना लिया था। हर एक का अपना अलग दृष्टिकोण है, हर एक
 तर्क-शैली अलग है, फिर भी ये एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं
 बल्कि एक बड़ी चिंतनधारा के अंग थे।

छः दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं—(१) न्याय; (२) वैशेषिक; (३) सांख्य; (४) योग; (५) मीमांसा; और (६) वेदान्त ।

न्याय की गैली तर्क और विश्लेषण की गैली है । वास्तव में 'न्याय' के अर्थ ही तर्क या विवेक-शास्त्र के हैं । यह बहुत कुछ अस्तु की तर्कगैली से मिलता-जुलता है, लेकिन दोनों में बुनियादी भेद भी हैं । न्याय के बुनियादी सिद्धांतों को और सभी दर्शनों ने स्वीकार कर लिया था, दर्शन के अध्ययन के लिए इसे केवल एक अनिवार्य तैयारी के तौर पर न समझा जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि हराक पड़े-लिखे आदमी के लिए इसका जानना आवश्यक है । इसकी गैली अध्यय इस युग के वैज्ञानिक ढंग की दस्तुगत जांच से मिली थी । फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनात्मक और गान्धीय थी, और ऐसी थी कि उसमें धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के विषयों की जांच की तर्कपूर्ण ढंग से कोशिश की गई है । इसके पीछे कुछ धर्म अवश्य रहा है, कुछ मान्यताएं रही हैं जिनके बारे में तर्क कर सकना संभव न था । यह मान लिया गया था कि जीवन और प्रकृति में एक तार-तम्य और एकता है । व्यक्तिगत ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह वैयक्तिक आत्माओं और परमाणुगत सृष्टि में । व्यक्ति न गरीर है, और न आत्मा, बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है । वास्तविकता को आत्माओं और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है ।

वैशेषिक दर्शन बहुत-सी बातों में न्याय से मिलता-जुलता है । यह जीव और पदार्थ की मिलता पर बल देता है और इन सिद्धांत को प्रस्तुत करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है । इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर पूरे दर्शन की रचना की गई है । ईश्वर की धारणा को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया गया है । न्याय और वैशेषिक और आरंभ के बौद्ध दर्शन में बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं । कुल मिलाकर उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी है ।

सांख्य दर्शन, जिसके बारे में कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवीं सदी, ई०पू०) ने इसे बहुत-सी प्राचीन और बुद्ध से पहले की विचारधाराओं के तत्त्वों के सहारे गढ़ा था, बड़े मार्के का है । रिचर्ड गार्ड के अनुसार—“दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें गान्धी-मस्तिष्क की पूर्ण स्वतंत्रता और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता मिलाने का गैली मिलती है तो यह कपिल के सिद्धांत में ।” बौद्ध धर्म के उदय के बाद सांख्य एक बड़ा सुगठित दर्शन बन गया ।

इसमें बताया गया है, वह वस्तु-जगत के पदार्थों की जांच के आधार पर नहीं बना है, बल्कि मनुष्य के मस्तिष्क से उपजी हुई, पूर्णतया दार्शनिक और आधिर्भातक कल्पना है। वास्तव में जो चीजें अपनी पहुंच से परे हैं, उनकी इस तरह जांच मुमकिन भी नहीं। बौद्धधर्म की तरह सांख्य ने भी अपनी जांच-पड़ताल में बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणों को छोड़ा, इस तरह उसने बौद्धधर्म से उसीके मैदान में मोर्चा लिया। इस बुनियादी दृष्टिकोण की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर दिया गया। इस तरह सांख्य में न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद : इसका दृष्टिकोण नास्तिक दृष्टिकोण है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है, बल्कि एक सतत विकास हुआ है। वह पुरुष, बल्कि पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है, यद्यपि प्रकृति स्वयं भी शक्ति-रूप है। विकास निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है, क्योंकि इसका आधार दो आदि कारणों पर है। एक तो प्रकृति है, जो बराबर काम करती रहने वाली और परिवर्तनशील शक्ति है, और दूसरा पुरुष है, जो चेतन है और कभी बदलता नहीं। चेतनरूप पुरुषों या आत्माओं की अनगिनत संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है, लेकिन उसके प्रभाव में प्रकृति विकास करती है, और एक निरंतर पूर्णता को प्राप्त करने वाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य-कारण का संबंध माना गया है, लेकिन कहा यह गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे व्यावहारिक दृष्टिकोण से अवश्य कार्य और कारण अलग-अलग और एक-दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

पातंजलि का योग दर्शन विशेष रूप से शरीर और मन के संयम का एक प्रकार है जिससे मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा मिलती है। पातंजलि ने न केवल इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया, बल्कि पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण पर भी उसने भाष्य लिखा। 'योग' शब्द अब यूरोप और अमरीका में खूब चल गया है, यद्यपि इसे बहुत कम लोग ठीक-ठीक समझते हैं और इसका संबंध विचित्र क्रियाओं से जोड़ा जाता है, विशेषकर बुद्ध के समान आसन लगाकर बैठने से और अपनी नाभि या नाक की नोक की तरफ ध्यान लगाकर देखने से। पच्छिम में, कुछ लोग, शरीर के कुछ करतव्यों को सीखकर, अपने

को इस विषय का अधिकारी समझने लगते हैं और विश्वासी या अद्भुत चीजों की खोज में रहने वालों को ठगते हैं या उनपर रोज़ बनाते हैं। यह दर्शन शरीर के कुछ करतबों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका आधार यह मनोवैज्ञानिक विचार है कि मन की ठीक-ठीक शिक्षा हो तो एक ऊँचे ढंग की चेतना पैदा हो जाती है। इस ढंग का उद्देश्य यह है कि मनुष्य स्वयं वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करे, यह नहीं कि यथार्थता या विश्व के बारे में किसी पूर्व-कल्पित आधिभौतिक सिद्धांत को स्वीकार कर ले। इस तरह से, यह एक प्रयोगात्मक पद्धति है और इसे चलाने के सबसे अच्छे ढंग बयान किए गए हैं और इसलिए इसे कोई भी दर्शन ग्रहण कर सकता है—उसका दृष्टिकोण चाहे जैसा हो। उदाहरण के लिए सांख्य-दर्शन, जो नास्तिक है, इसके ढंगों को व्यवहार में ला सकता है। बौद्धधर्म ने यांगिक शिक्षा के एक नये ही रूप का विकास किया, जो इससे कुछ मिलता था और कुछ भिन्न था। इसलिए पातंजलि के योग दर्शन के सिद्धांत वाले अंश अपेक्षाकृत कम महत्त्व के हैं, जिन वस्तुओं का महत्त्व है वे हैं उसकी क्रियाएं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास इस दर्शन का अंग नहीं है, लेकिन इस बात का गुलाब दिया गया जान पड़ता है कि साकार ईश्वर में विश्वास और उसकी भक्ति मन को स्थिर करने में सहायक होती है, इसलिए इसका एक व्यावहारिक उद्देश्य है।

लेकिन ध्यान और मनन की इन अंतिम सीढ़ियों तक पहुँचने से पहले शरीर और मन के संयम की आवश्यकता है। शरीर ठीक और स्वस्थ, लचीला और सुंदर और पुष्ट होना चाहिए। अनेक आध्यात्मिक क्रियाएं बताई गई हैं, और सांस लेने के ढंग भी, जिनसे उत्तम वरु प्राप्त किया जा सके और मनुष्य साधारणतया गहरी और लंबी सांस लेने का आदी हो जाए। शरीर को चूस्त रखने का यह ठोस हिंदुस्तानी ढंग सचमुच बड़े मारके का है, मगर हम इसका दूसरे आन ढंगों में मिलान करते हैं, जिनमें उछल-कूद रहती है और जिनमें शरीर को तरह-तरह से झटके दिए जाते हैं, यहां तक कि मनुष्य थककर रह जाता है और हांफ जाता है। ये दूसरे ढंग भी हिंदुस्तान में प्रचलित रहे हैं, और कुश्ती, तैराकी, घुड़सवारी, बनेटी, तीरंदाजी, गदा-मुगदर, जि-जिलू के ढंग की चीझ, और बहुत-से और खेल और दिल-बहाद के प्रकार रहे हैं। लेकिन आसन का प्रकार शायद हिंदुस्तान के लिए अपना और उसके दर्शन के अनुकूल है। इसमें एक विशेष समतोल है, और शरीर का व्यायाम कराते हुए भी इसमें अविचलित शांति

इससे शक्ति को व्यय किए बिना मनुष्य शक्ति प्राप्त कर लेता है, और इसी वजह से आसन सभी उम्र के लोगों के लिए है, यहां तक कि इसे बूढ़े लोग भी कर सकते हैं। ये आसन बहुत हल्के हैं।

विवेकानंद ने, जो योग और वेदांत के इस जमाने के सबसे बड़े मर्मकों में हुए हैं, योग के प्रयोगात्मक पक्ष पर बार-बार जोर दिया और उसे विवेक पर आधारित किया है। "इन योगों में से कोई भी विवेक का पल्ला नहीं छोड़ता, कोई यह नहीं कहता कि तुम अपनी विवेक-बुद्धि किसी भी तरह के पुरोहितों के हाथ में सुपुर्द कर दो... इनमें से हर एक यह बताता या कि तुम अपने विवेक को मजबूती से पकड़े रहो।" यद्यपि योग और वेदांत का भाव विज्ञान के भाव के अनुकूल है, फिर भी यह सच है कि दोनों के माध्यम अलग-अलग हैं, और इसलिए उनमें गहरे भेद आ जाते हैं। योग के अनुसार चेतना बुद्धि तक सीमित नहीं है, और "विचार कम है और केवल कर्म के कारण विचार का मूल्य है।" प्रेरणा और अंतर्दृष्टि को स्वीकार किया गया है, लेकिन क्या ये भुलावे में हमें नहीं डाल सकतीं? विवेकानंद कहते हैं कि प्रेरणा को बुद्धि के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। "जैसे हम प्रेरणा कहते हैं, वह विवेक का ही विकास है, अंतर्दृष्टि तब पहुंचने वाला रास्ता विवेक का ही रास्ता है... सच्ची प्रेरणा कर्म के विरुद्ध नहीं जाती। जहां वह विरुद्ध जाती है, वहां वह सच प्रेरणा ही नहीं है।" यह भी कहते हैं—“प्रेरणा लोक-कल्याण के लिए हर एक के लाभ के लिए होनी चाहिए... नाम और ख्याति और विनिजी लाभ के लिए नहीं। इसे सदा दुनिया के भले के लिए और तरह से निःस्वार्थ होना चाहिए।”

इसके बाद दूसरा दर्शन है मीमांसा। यह कर्मकाण्ड-संबंधी है इसमें बहुदेववाद की ओर झुकाव मिलता है। इस समय के आर्य धर्म और हिंदू-विद्वान पर इस सिद्धांत और इसके नियमों का असर रहा है। ये नियम बताते हैं कि धर्म क्या है और उसके उचित आचार कैसा होना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना कि हिंदुओं का बहुदेववाद एक विचित्र ही ढंग का है, क्योंकि वे उनमें चाहे कौसी विशेष शक्तियां हों, मनुष्य से नीची योनि माने गए हैं। हिंदुओं और बौद्धों दोनों ही, का विश्वास है कि जन्म आत्मसिद्धि के रास्ते में जीव के लिए सबसे ऊंची अवस्था देव लोग भी यह स्वतंत्रता और सिद्धि तभी हासिल कर स

र आत्मा की मुक्ति के लिए, जो उनकी दृष्टि में आदमी का परम मेय है साधारण प्रवृत्तियों से बचने का भाव है। त्याग और वैराग्य र भी बराबर जोर दिया गया है।

फिर भी शंकर एक अद्भुत शक्ति के और बड़ा काम करने वाले व्यक्ति थे। वह गुफा में जाकर बैठ जाने वाले या जंगल के एक कोने में एकांतवास करते हुए अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की साधना करने वाले, और दूसरों को क्या होता है, इससे लापरवाह मनुष्य नहीं थे। उनका जन्म दक्षिण हिंदुस्तान के मलाबार प्रदेश में हुआ था, और उन्होंने सारे हिंदुस्तान में निरंतर यात्रा की थी और अनगिनत लोगों से वह मिले थे; उनसे तर्क और वाद-विवाद किया था, उन्हें अपने मत का किया था और उन्हें अपने उत्साह और जीवनी शक्ति का एक अंश दिया था। स्पष्ट है कि वह ऐसे व्यक्ति थे जो अपना एक विशेष ध्येय समझते थे, जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिंदुस्तान अपना कार्यक्षेत्र मानते थे, और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करते थे और यह समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हों, वह एक ही भाव से भरा हुआ है। हिंदुस्तान में उनके समय में विचार की जो अलग-अलग धाराएँ बह रही थीं, उनमें एक समन्वय पैदा करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया, और इस बात का प्रयत्न किया कि विविधता के बीच से एकता पैदा करें। बत्तीस वर्ष के छोटे-से जीवन में उन्होंने जो काम कर दिखाया, वह ऐसा था कि कई लंबे जीवन में दूसरा न कर पाता, और उन्होंने अपने शक्तिशाली मस्तिष्क और संपन्न व्यक्तित्व की ऐसी छाप हिंदुस्तान पर डाली कि वह आज तक बनी हुई है। उसमें दार्शनिक और विद्वान का, जड़वादी और रहस्यवादी का, कवि और संत का, और इन सबके अलावा एक व्यावहारिक सुधारक और योग्य संगठनकर्ता का एक अजीब मेल था। ब्राह्मण-संघर्ष के अंतर्गत उन्होंने पहली बार दस पंथ बनाए और इनमें से चार अब खूब चल रहे हैं। उन्होंने चार बड़े मठ स्थापित किए, जो हिंदु के लगभग चार छोरों पर हैं। इनमें से एक मैसूर में शृंगेरी में एक पूर्वी समुद्र-तट पर पुरी में, तीसरा काठियावाड़ में पच्छिमी समुद्र पर द्वारका में, और चौथा बीच हिमालय में बद्रीनाथ में। बत्तीस की उम्र में, दक्षिण के गर्म प्रदेश का वह ब्राह्मण, केदारनाथ में हिमालय के बर्फ से ढंके प्रदेश में, परलोक सिधारा।

मेरा जान पड़ता है कि शंकर इस राष्ट्रीय एकता और चेत

ने ने अपने नाम बड़े मठों को हि

के उत्तर, दक्खिन, पूरव और पच्छिम के कोनों में स्थापित करके, यह स्पष्ट है कि वह संस्कृति के विचार से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को बढ़ावा देना चाहते थे। ये चारों जगहें कुछ अंशों में पहले भी तीर्थ-स्थल रही हैं, और अब तो और भी अधिक हो गई हैं।

प्राचीन हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के स्थानों का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे ! प्रायः सदा ये स्थान रमणीक स्थल हुआ करते थे और उनके आसपास प्रकृति की छवि देखने को मिलती थी। काश्मीर में अमरनाथ की वर्षोली गुफा है, दक्खिन हिंदुस्तान के बिल्कुल छोर पर रामेश्वरम् के पास कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है, और हरिद्वार है, जो हिमालय के तले पर है और जहां से गंगा टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी घाटियों को पार करके मैदानी प्रदेश में आती है। और प्रयाग है, जहां गंगा और यमुना का संगम होता है, और मथुरा और वृन्दावन हैं, जो जमुना-तट पर हैं, जिनके गिर्द कृष्ण की कयाणें जुड़ी हुई हैं, और बुद्धगया है, जहां बताया जाता है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था और दक्खिन हिंदुस्तान में अनेक जगहें हैं। बहुत-से पुराने मंदिरों में, विशेषकर दक्खिन में प्रसिद्ध मूर्तियां बनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से बहुत-से तीर्थों की यात्रा करने ने पुरानी हिंदुस्तानी कला की झांकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शंकर ने हिंदुस्तान में व्यापक धर्म के रूप में बौद्धमत का अंत करने में मदद दी और उसके बाद ब्राह्मण-धर्म ने उसे भाई की तरह गले लगाकर अपने में समाविष्ट कर लिया। लेकिन शंकर के समय से पहले भी हिंदुस्तान में बौद्धधर्म मिट रहा था। शंकर के विरोधी ब्राह्मण उन्हें छिपा हुआ बौद्ध बताते थे। यह बात सही है कि बौद्धधर्म का उनपर गहरा असर पड़ा था।

१३ : हिंदुस्तान और चीन

यह बौद्धधर्म था जिसके प्रभाव से हिंदुस्तान और चीन एक-दूसरे के निकट आए और जिसके द्वारा उन्होंने बहुत-से संपर्क स्थापित कर लिए। अशोक के पहले दोनों के बीच संपर्क थे या नहीं, इसकी हमें जानकारी नहीं है, जायद नमुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था, क्योंकि चीन से रेशमी नाल वहां आता था। लेकिन खुशकी के रास्ते भी संपर्क रहे होंगे और बहुत पहले काल में लोग आते रहे होंगे, क्योंकि हिंदुस्तान के पूर्वी छोर के प्रदेश में मंगोली मूल-शक्ल के लोग आते

तीर पर मिलते हैं। नेपाल में यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। असम (पुराने कामरूप) में और बंगाल में यह अक्सर देखी जाती है। लेकिन जहां तक इतिहास की बात है, अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला, और ज्यों-ज्यों चीन में बौद्धधर्म फैला, त्यो-त्यो वहां से यात्रियों और विद्वानों का लगातार आना आरंभ हुआ और हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हजार बरस तक आते-जाते रहे। वे गोदी रेगिस्तान पार करके, मध्य एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तै कर रहे हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लंबी, कठिन और भयानक यात्रा करते थे। एक दूसरा रास्ता भी था, जो कुछ अधिक सुरक्षित न था, पर छोटा जरूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंदचीन, जावा, सुमात्रा, मलय और निकोबार टापुओं से होकर जाने वाला था। इससे भी लोग प्रायः जाते थे और कभी-कभी यात्री खुशकी के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्धधर्म और हिंदुस्तानी संस्कृति सारे मध्य एशिया में और इंदोनेशिया के हिस्सों में फैल गई थी, और बहुत-से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश में जगह-जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियों का समुद्र और खुशकी के इन मार्गों में सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें ठहरने की जगहें मिल जाती थीं। कभी-कभी चीन से आने वाले विद्वान इंदोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उपनिवेश में कुछ महीनों तक ठहरकर संस्कृत सीखते और फिर यहां आते थे।

पहले हिंदुस्तानी विद्वान जिनके चीन जाने का वर्णन मिलता है, काश्यप मातंग थे। यह सन् ६७ ई० में, सम्राट् मिंग-ती के राज्य-काल में शायद उन्हींके बुलावे पर चीन गए थे। लो नदी के तट पर लो-यंग नाम की जगह पर यह वस गए थे। उनके साथ धर्म-रक्षाव गए थे और बाद के सालों में जो प्रसिद्ध विद्वान गए, उनमें बुद्धिभद्र, जिनमद्र, कुमारजीव, परमार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमें ह एक अपने साथ शिष्यों या चेलों को ले गया था। यह कहा जाता है कि एक समय (छठी सदी ईसवी) तीन हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु और दस हजार हिंदुस्तानी परिवार केवल लो-यंग के सूबे में थे।

ये हिंदुस्तानी विद्वान जो चीन गए, न केवल अपने साथ संस्कृत के हाथ के लिखे ग्रंथ ले गए, जिनका उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया, बल्कि उन्होंने चीनी भाषा में मौलिक पुस्तकें भी रचीं। उन्होंने चीनी साहित्य की वृद्धि में खासा हिस्सा लिया और चीनी में कवित भी लिखीं। कुमारजीव, जो ४०१ ईसवी में चीन गया था, ब

लिखने वाला था और उसकी लिखी ४७ पुस्तकें तो इस समय मिलती हैं। उसकी चीनी लिखने की शैली बहुत अच्छी कही जाती है। उसने नागार्जुन की जीवनी का चीनी में अनुवाद किया। जिनगुप्त छठी नदी ईसवी के दूसरे हिस्से में चीन गया। उसने संस्कृत के ३७ ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। उसके ज्ञान का इतना आदर था कि तांग-वंश के एक सम्राट ने उससे दीक्षा ली और उसका शिष्य बन गया।

चीन और हिंदुस्तान के बीच विद्वानों का आना-जाना, दोनों ही होता था, और बहुत-से चीनी विद्वान भी यहां आए। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण, जिन्होंने अपनी यात्राओं के वर्णन लिखकर छोड़े हैं, वे हैं फाह्यान, सुंग-युन, ह्वेनसांग और इत्सिंग। फाह्यान हिंदुस्तान में पांचवीं सदी में आया, वह चीन में कुमारजीव का शिष्य था। हिंदुस्तान के लिए चलने से पहले जब फाह्यान अपने गुरु से विदा होने के लिए गया, तब कुमारजीव ने उससे जो कुछ कहा, उसका मनोरंजक वर्णन किया जाता है। कुमारजीव ने उससे कहा कि धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने में ही अपना सारा समय न बिताना, बल्कि हिंदुस्तान के लोगों के रहन-सहन और आचार को भी अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करना, जिससे चीन वाले उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। फाह्यान ने पाटलिपुत्र के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी।

चीनी यात्रियों में सबसे प्रसिद्ध ह्वेनसांग था, जो यहां सातवीं सदी में आया था, जबकि चीन में महान तांग-वंश का राज्य चल रहा था और उत्तरी हिंदुस्तान में एक साम्राज्य का शासक हर्षवर्धन था। ह्वेनसांग खुफ़ी के रास्ते, गोवी रेगिस्तान को पार करके, तुर्फ़ान और कूचा, ताशकंद और समरकंद, बल्ख, खुतन और यारकंद होता हुआ हिमालय को लांघकर हिंदुस्तान में आया था। वह अपनी बहुत-सी जीपट की यात्राओं का वर्णन करता है, और उन संतों का, जिनसे उसे झेलना पड़ा, नाथ ही वह मध्य एशिया के बौद्ध शासकों और मठों और उन तुर्कों का, जो कट्टर बौद्ध थे, जान लिखता है। हिंदुस्तान में आकर वह सारे देश में घूमा, सभी जगह उसका आदर हुआ, धारमम। दुर्ग, और उसने यहां की जगहों और लोगों के बारे में प्रामाणिक ज्ञान लिया, और कुछ मनोरंजक और अजीब गूनी-गुनाई बतलाया भी किया। उसने नारदा विष्वन्विद्यालय में, जो पारंगत विद्वानों का और जो अपने ब्रह्मज्ञान के लिए प्रसिद्ध था, का दर्शन किया। उसने नारदा विष्वन्विद्यालय में, जो पारंगत विद्वानों का और जो अपने ब्रह्मज्ञान के लिए प्रसिद्ध था, का दर्शन किया। उसने नारदा विष्वन्विद्यालय में, जो पारंगत विद्वानों का और जो अपने ब्रह्मज्ञान के लिए प्रसिद्ध था, का दर्शन किया।

यहां न्याय के आचार्य की उपाधि ली और बाद में विश्वविद्यालय उपप्रधान बन गया ।

ह्वेनसांग की किताब, 'सि-यू-की', यानी पच्छिमी राज्य (तात्पर्य दुस्तान से है) पढ़ने में बड़ी रोचक है । ह्वेनसांग एक बहुत बड़े म्य और उन्नत देश से उस समय आया था, जबकि चीन की राजधानी त-आन्-फ कला और ज्ञान का केन्द्र थी, इसलिए उसकी टिप्पणियां और हिंदुस्तान की दशा के वर्णन बड़े मूल्यवान हैं । वह यहां की शिद्या-यवस्था का हाल लिखता है, जिसके अंतर्गत बहुत छोटपन में विद्यार्थ भेजकर क्रमशः विद्यार्थी विश्वविद्यालय के दर्जे तक पहुंचता था और वहां पांच विषयों में शिक्षा दी जाती थीः—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल, (३) औषध, (४) तर्क, और (५) दर्शन । हिंदुस्तान के लोगों के विद्या-प्रेम से वह विशेष प्रभावित हुआ था । एक प्रकार की प्रारंभिक शिक्षा यहां व्यापक रूप में मिलती थी और सभी शिष्य और पुरोहित शिक्षक हुआ करते थे । लोगों के बारे में वह लिखता है—“साधारण लोग, यद्यपि वे स्वभाव से विनोदप्रिय हैं, फिर भी सच्चे और ईमानदार हैं । रुपये-पैसे के मामलों में उनमें मक्कारी नहीं है, और न्याय करने के विषय में उनमें बहुत सोच-विचार मिलता है..... अपने व्यवहार में वे कपटी या धोखेबाज नहीं हैं, और अपने वादों और शपथ के पाबंद हैं । उनके शासन के नियमों में अद्भुत ईमान-दारी है, और उनके व्यवहार में बड़ी मिठास और भलमनसाहत है । जहां तक विद्रोहियों या अपराधियों का मामला है, वे बहुत कम देखने में आते हैं, और कभी-कभी ही उपद्रव करते हैं ।” आगे चलकर वह लिखता है—“चूंकि शासन-व्यवस्था की नींव उदार सिद्धांतों पर बड़ी है, इसलिए कारागार सजा बहुत सदा है..... लोगों से बेगार नहीं ली जाती..... इस तरह लोगों पर हल्के कर लगे हुए हैं..... व्यवसाय में लगे हुए व्यापारी अपने धंधों के लिए आते-जाते रहते हैं ।”

ह्वेनसांग जिस रास्ते ने आया था, उसी रास्ते वापस गया अर्थात् मध्य एशिया से होते हुए, और वह अपने साथ बहुत-सी हा की लिखी पोथियां ले गया । उसके वृत्तांत से यह स्पष्ट पता चलता कि बौद्धधर्म का घुरास्तान, ईराक, मोसुल और ठीक सीरिया के सरह तक कितना प्रभाव था । फिर भी वह वह समय था, जबकि वहां बौ धर्म का ह्रास आरंभ हो गया था और इस्लाम, जिसका आरंभ अरब हो गया था, वहां सब जगह शीघ्र ही फैलने वाला था । ईरानी लो के बारे में ह्वेनसांग यह दिलचस्प बात कहता है—“वे विद्या

रवाह नहीं करते, बल्कि अपने को पूरी तरह कला की वस्तुओं में मगाते हैं। जो कुछ भी वहाँ तैयार होता है, उसकी पड़ोस के मुल्कों में बड़ी कद्र होती है।”

ह्वेनसांग अपने देश को वापस गया, तो वहाँ उसका सम्राट ने और आम लोगों ने स्वागत किया। वह अपनी पुस्तक लिखने और बहुत-सी पोथियाँ जो वह अपने साथ ले गया था, उनके अनुवाद के बंधे में लगा। जब बहुत साल पहले वह यात्रा के लिए निकल रहा था, तब, यह क्या कही जाती है, तांग-वंशी सम्राट ने पानी में एक मुट्ठी धूल डालकर उसे देते हुए कहा था—“अच्छा हो कि तुम यह प्याला पी लो। हमें क्या यह नहीं बताया गया है कि अपने देश की एक मुट्ठी धूल मनों विदेशी सोने से बढ़कर है?”

ह्वेनसांग की हिंदुस्तान की यात्रा, और चीन और हिंदुस्तान में जो उसे आदर प्राप्त हुआ, उसका परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों के राजनैतिक संपर्क स्थापित हुए। कन्नौज के हर्षवर्धन और तांग सम्राट के बीच राजदूतों की बदला-बदली हुई। ह्वेनसांग ने स्वयं हिंदुस्तान से अपना लगाव बनाए रखा। वह वहाँ के निर्रों के पास पत्र भेजा करता था, और यहाँ से हाथ की लिखी पोथियाँ मंगाया करता था। दो मनोरंजक पत्र, जो आरंभ में संस्कृत में लिखे गए थे, चीन में सुरक्षित हैं। इनमें से एक ६४५ ई० में हिंदुस्तानी वाद्विद्वान् स्यविर प्रज्ञादेव ने ह्वेनसांग को लिखा था। अभिवादन और आपस के निर्रों के गुजल-समाचार और अपनी साहित्यिक कृतियों की बातचीत के बाद वह लिखता है—“हम तुम्हें एक जोड़ा सफेद वस्त्र का भेज रहे हैं, जिससे यह प्रकट हो कि हम तुम्हें भूले नहीं हैं। रास्ता लंबा है। इसलिए इस बात का ध्यान न करना कि भेट कुछ है। हम चाहते हैं कि तुम इसे स्वीकार करो। जिन मूर्तों और शास्त्रों की तुम्हें जरूरत हो, उनकी सूची भेजना। हम उनकी नकल करके तुम्हारे पास भेज देंगे।” ह्वेनसांग अपने जवाब में लिखता है—“मुझे हिंदुस्तान से लांटे हुए एक राजदूत से मालूम हुआ कि नहान गुप्त शीलमंत्र अब नहीं रहे। इस समाचार से मुझे जो दुःख हुआ, उसकी हद नहीं…… उन मूर्तों और शास्त्रों में से, जो मैं, ह्वेनसांग, लाया था, मैंने योगाचार्य, मुनि-शास्त्र और दूसरे ग्रंथों का, कुल तीस ग्रंथों का, अनुवाद कर लिया है। मैं विनम्रपूर्वक तुम्हें सूचित करना चाहूंगा कि सिंधु नदी पार करते हुए मैंने पवित्र ग्रंथों का एक गढ़र खो दिया। इस पत्र के साथ अब मैं मूल पाठों की एक सूची भेज रहा हूँ। मैं प्रार्थना करता हूँ कि अदमर मिले।”

तो इन्हें मेरे पास भेजना । कुछ छोटी-मोटी चीजें भेंट के तार पर भेज रहा हूँ । कृपाकर इन्हें स्वीकार करना ।”

चीन में ह्वेनसांग की मृत्यु के शीघ्र बाद ही, एक दूसरा प्रसिद्ध चीनी यात्री, इत्सिंग, हिंदुस्तान में आया । वह ६७१ ई० में रवाना हुआ, और उसे हिंदुस्तान के बंदरगाह ताम्रलिपि तक पहुंचने में लगभग दो साल लगे । यह बंदरगाह हुगली नदी के दाहिने दहाने पर है । क्योंकि वह समुद्र के रास्ते आया, वह कई महीने तक भोग (सुमात्रा में आधुनिक पालेमबंग) में संस्कृत सीखने के लिए ठहरा । उसके वृत्तांतों से पता चलता है कि फारस (ईरान), हिंदुस्तान, मलय, सुमात्रा, और चीन के बीच नियमित रूप से जहाज आया-जाया करते थे । इत्सिंग क्वानतुंग से एक फारसी जहाज पर सवार होकर पहले सुमात्रा गया था ।

इत्सिंग ने भी नालंदा विद्यापीठ में बहुत दिनों तक विद्या सीखी और यह अपने साथ कई सौ संस्कृत ग्रंथ ले गया । उसकी विशेष रुचि बौद्ध कर्मकांड और आचार की बारीकियों में थी, और इनके बारे में उसने विस्तार से लिखा है । लेकिन यह रीति-रिवाजों, कपड़ों और खाने-पीने के बारे में भी बहुत कुछ कहता है । इत्सिंग हिंदुस्तान का हवाला ग्राम-तौर पर पच्छिम (नि-फंग) करके देता है, लेकिन वह कहता है कि यह आर्य देश के नाम से प्रसिद्ध है । “आर्य देश,—आर्य अर्थात् उत्तम और देश अर्थात् प्रदेश—जो पच्छिम का नाम है । इसका नाम ऐसा इसलिए पड़ा कि वहां उत्तम चरित्र के लोग बराबर उत्पन्न होते रहे हैं, और सभी लोग इस नाम से देश की प्रशंसा करते हैं । यह पच्छिम प्रदेश भी कहलाता है, यानी बीच का देश, क्योंकि यह सैकड़ों-हजारों देशों के बीच में है । सब लोग इस नाम से परिचित हैं । उत्तरी जातियां (हूण या मंगोल या तुर्क) ही इस उत्तम देश को ‘हिंदू’ (सिन-तु) कहती हैं, लेकिन यह नाम कदापि प्रचलित नहीं है । यह केवल देशी नाम है और इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है । हिंदुस्तान के लोग इस नाम को नहीं जानते, और हिंदुस्तान के लिए सबसे उचित नाम ‘आर्य देश’ है ।”

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान की बहुत-सी चीजों के लिए आदर का भाव रखते हुए भी इत्सिंग ने स्वयं बताया है कि वह पहला स्थान अपनी जन्मभूमि चीन को देता है—हिंदुस्तान आर्यदेश हो सकता है, लेकिन चीन देवभूमि है ।

हिंदुस्तान में बौद्धधर्म के ह्रास के साथ-साथ हिंदुस्तान और चीन के बीच विद्वानों का आना-जाना लगभग बंद हो गया, यद्यपि चीनी

यात्री हिंदुस्तान की बौद्धधर्म की पवित्र जगहों के दर्शन के लिए फिर भी कभी-कभी आते रहते थे। ग्यारहवीं सदी और उसके बाद जो राजनैतिक क्रांतियां हुईं, उन जमाने में बौद्ध भिक्षुओं के ठठके ठठ पोषियों की गठरियां बांधे हुए नेपाल चले गए, या हिमालय पार करके तिब्बत पहुंच गए। इस तरह से और पहले की पुराने हिंदुस्तानी साहित्य का बहुत-सा हिस्सा चीन और तिब्बत पहुंच गया, और आज के वर्षों में उनका फिर से पता चला है, जो या तो मूल में ही मौजूद हैं, या अधिकतर अनुवाद के रूप में। बहुत-से पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथ, चीनी या तिब्बती अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं, और वे केवल बौद्ध धर्म के बारे में नहीं हैं, बल्कि ब्राह्मण धर्म, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषयों के भी हैं। चीन के सुंग-यात्री संग्रह में ऐसे ग्रंथ मौजूद बताए जाते हैं। तिब्बत ऐसे ग्रंथों से भरा हुआ है। अक्सर हिंदुस्तानी, चीनी और तिब्बती विद्वान मिलकर काम किया करते थे। इस सहयोग की एक प्रमुख मिसाल बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का वह संस्कृत-तिब्बती-चीनी कोष है जो नवीं या दसवीं सदी ई.पू. में तैयार हुआ था, और जिसका नाम 'महाव्यूतपत्ति' है।

चीन की सबसे पुरानी छपी हुई पुस्तकों में, जो आठवीं सदी ई.पू. तक की हैं, संस्कृत के ग्रंथ भी हैं। ये लकड़ी के ठप्पों में छपे हुए हैं।

दसवीं सदी में, चीन में छापे के विशेषज्ञों का एक समूह उत्पन्न बना और उसके फलस्वरूप ठीक सुंग जमाने तक, छापे की कला ने तेजी से उन्नति की। यह एक अचरज की बात है, और इसके ठीक ठीक कारण नहीं समझ में आता कि यद्यपि चीनी ग्रंथ हिंदुस्तानी विद्वानों के बीच इतना घना संबंध था, और सैकड़ों साल तक इन पुस्तकों का बदला-बदला होता रहा, इनके कोई प्रतिलिपि हिंदुस्तान में उस समय में पुस्तकों की छपाई होने की छापने का चलन चीन से तिब्बत में किसी मुगल के द्वारा नहीं भेरा गया है कि यह वहां अब भी बना हुआ है। इनके प्रतिलिपि पहला परिचय यूरोप को मंगोल या बान-यों के द्वारा 13वीं सदी में हुआ। पहले यह जर्मनी तक सीमित रहा, बाद में फ्रांस, इंग्लैंड और और देशों में फैला।

हिंदुस्तान के भारतीय अक्षरों के प्रयोग और चीन के बीच अब तक का संबंध मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1350) की चीनी दरबार में राजदूत के रूप में

की हुकूमत से अलग होकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर
 था। चौदहवीं सदी के बीच के काल में, चीनी दरबार की ओर
 तान के सुल्तान के यहां हु-शीन और फिन-शीन नाम के दो राजदूत
 गए थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सुल्तान गयासुद्दीन ने राज्य-
 में बंगाल से चीन कई राजदूत लगातार भेजे गए। यह चीन के
 बादशाहों का जमाना था। बाद के एक एलची के साथ, जिसे
 दुद्दीन ने १४१४ ई० में भेजा था, और कीमती तोहफों के साथ एल
 दा जिराफ भी भेजा गया था। जिराफ हिंदुस्तान में कैसे पहुंचा
 एक रहस्य की बात है। शायद यह अफरीका से भेंट-स्वरूप में
 गया हो और इस ख्याल से, कि यह अजीब चीज है और इसलिए
 संद की जाएगी, इसे गिंग बादशाह के पास भेजा गया। वास्तव में
 चीन में इसका बड़ा आदर हुआ, क्योंकि कन्फूषस के अनुयायी जिराफ
 को एक पवित्र प्रतीक मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह जानवर
 जिराफ ही था, क्योंकि इसके वर्णों के साथ-साथ चीनी रेशमी कपड़े
 पर इसकी एक तस्वीर भी मिलती है। जिस दरबारी निष्कार ने
 इसकी तस्वीर बनाई है, उसने इसका लंबा हाल भी लिखा है, जिसमें
 बताया गया है कि यह जानवर बहुत शुभ है। "मंत्री लोग और आम
 जनता इसे देखने के लिए जमा हुए और उसे देखाकर बहुत ही खुश हुए।"

चीन और हिंदुस्तान के बीच जो व्यापार बौद्धकाल में चार से
 चल रहा था, वह भारतीय-अफगान और मुगल जमाने में भी जारी
 रहा और बहुत-सी चीजों का बदला-बदला होता रहा। यह माल
 उत्तरी हिमालय के दरों से होकर मध्य एशिया के कारवानी रास्ते
 से जाता था। समुद्र के रास्ते भी अच्छा-बुरा व्यापार होता था, ज
 दक्खिन-पूर्वी एशिया के टापुओं में होता हुआ, खास तौर पर दक्खिन
 हिंदुस्तान की बंदरगाहों तक पहुंचता था।

चीन और हिंदुस्तान के बीच होने वाली तीन हजार, बल्कि इस
 अधिक, वर्षों की सह-रस से दोनों देशों ने एक-दूसरे से कुछ प्र
 किया, न केवल विचार और दर्शन के क्षेत्र में, बल्कि जीवन की कल
 और विज्ञान में भी। शायद चीन पर हिंदुस्तान का जितना प्र
 पड़ा, उतना हिंदुस्तान पर चीन का नहीं पड़ा, और यह घेद की
 है, क्योंकि हिंदुस्तान चीन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान सीखकर
 लाभ उठा सकता था और अपनी मानसिक उड़ानों को कुछ व
 रख सकता था। चीन ने हिंदुस्तान से बहुत कुछ लिया, लेकिन
 हमेशा ऐसी शक्ति और आत्मविश्वास रहे हैं कि जो कुछ वा

यह अपने दंग से, और उसको अपने यहां के जीवन के ताने-बाने में कहीं ठीक-ठीक बिठा लेगा। बौद्धधर्म और उसका जटिल दर्शन भी कङ्कणस और लायो-स्जे का रंग लिए बिना न रह पाया। बौद्धधर्म के किंचित् निराशावादी दृष्टिकोण ने चीनियों के जीवन के प्रति प्रेम और उमंग को दबाया नहीं। एक पुरानी चीनी कहावत है—“अगर सरकार तुम्हें पकड़ पावेगी तो कोड़ों से तुम्हारी जान ले लेगी, अगर बाँट तुम्हें पकड़ पावेगे तो वे तुम्हें भूखों मार डालेंगे।”

१४ : दक्खिन-पूरबी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और सभ्यता

सर चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि “यूरोप के इतिहासकार हिंदुस्तान के साथ अन्याय करते हैं जब वे केवल उसके आक्रमणकारियों के वृत्तांत लिखते हैं और इस तरह का प्रभाव डालते हैं कि मानो स्वयं उसके निवासी दुर्बल, सपना देखने वाले लोग हों और शेष दुनिया से फटे हुए अपने पहाड़ों और नमुंदरों से घिरे हुए अलग-थलग रह रहे हों। इस तरह की तस्वीर में यह बात भुला दी जाती है कि हिंदुओं ने कैसी-कैसी मानसिक विजय प्राप्त की है। उनकी राजनैतिक विजय भी तुच्छ नहीं हैं, और अगर इस दृष्टि से नहीं कि कौनसे देशों पर वे हुई हैं, तो दूरी की दृष्टि से तो अवश्य ही मारके की हैं।” लेकिन इस तरह के फौजी या व्यापारी आक्रमण, हिंदुस्तानी विचार के प्रचार के मुकाबले में कम भी नहीं हैं।”

जिस समय इलियट ने यह लिखा, उन समय शायद वह उन हाल की जानकारी से परिचित नहीं था जो दक्खिन-पूरबी एशिया के बारे में अब प्राप्त हुई हैं और जिन्होंने हिंदुस्तान और एशिया के बीते हुए युग के बारे में हमारे विचारों में क्रांति पैदा कर दी है। इन खोजों की जानकारी ने उसके तर्कों को और भी दृढ़ कर दिया होता, और यह दिखा दिया होता कि विचारों के प्रचार के अलावा भी विदेशों में हिंदुस्तान का कारनामा कदापि तुच्छ नहीं रहा है। मुझे याद है, कि जब मैंने करीब पंद्रह साल पहले दक्खिन-पूरबी एशिया का कुछ विस्तार से ज्ञान पड़ा था, तब मुझे कितना आश्चर्य हुआ था और मैं कितना उत्तेजित हो उठा था। मेरी आंखों के सामने बिल्कुल नये दृश्य फिर गए थे, इतिहास के नये पन्ने दिखाई पड़े थे और हिंदुस्तान के बीते हुए समानों की नई कल्पना सामने आई थी। संघा, कर्क

श्रंगकोर, श्रीविजय और मज्जापहित यकायक मानो शून्य के भीतर से साकार होकर मेरे सामने आए थे और उनके साथ एक स्वाभाविक भावना का उद्गार था जो अतीत का वर्तमान से स्पर्श कराता था ।

उस बड़े योद्धा और विजेता और बड़े कारनामों वाले शैलेन्द्र के बारे में डा० एच० जी० क्वाट्रिश् वेल्स ने लिखा है—“उस बड़े विजेता ने, जिसके कारनामों की बराबरी पच्छिमी इतिहास के केवल बड़े से बड़े सैनिकों से की जा सकती है, और जिसका नाम अपने समय में फारस से चीन तक फैला हुआ था, दस या बीस साल के भीतर ही एक विस्तृत समुद्री साम्राज्य स्थापित कर लिया था, जो पांच सदियों तक बना रहा, और जिसने हिंदुस्तानी कला और संस्कृति के अद्भुत विकास को जावा और कंबोडिया में संभव बनाया । लेकिन अपने विश्वकोषों और इतिहासों में ... इस विस्तृत साम्राज्य या उसके महान संस्थापक का हवाला ढूंढना व्यर्थ होगा ... यह बात ही, कि इस तरह का एक साम्राज्य किसी जमाने में था, पूरबी विषयों के जानने वाले मुट्ठी-भर विद्वानों के अतिरिक्त अन्य लोग मुश्किल से जानते हैं ।” इन प्राचीन हिंदुस्तानी उपनिवेश स्थापित करने वालों के फांजी कारनामे महत्त्व के हैं, क्योंकि उनसे हिंदुस्तानी चरित्र और योग्यता के कुछ पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है जिनका ठीक-ठीक आदर नहीं किया गया है । लेकिन इससे कहीं महत्त्व की बात यह है कि उन लोगों ने अपने उपनिवेशों में एक संपन्न सम्यता स्थापित की और ऐसी बस्तियां बसाईं जो एक हजार साल से अधिक समय तक बनी रहीं ।

पिछली चौथाई सदी के बीच, दक्खिन-पूरबी एशिया के इस बड़े प्रदेश के इतिहास पर बहुत कुछ रोशनी पड़ी है और इसे बृहत्तर भारत का नाम दिया गया है । मोटे ढंग से इस इतिहास की रूप-रेखा काफी स्पष्ट है और कमी-कमी तो विस्तार की बातों की भी बहुतायत से जानकारी प्राप्त होती है । सामग्री की कोई कमी नहीं है, क्योंकि हिंदुस्तानी ग्रंथों में हमें हवाले मिलते हैं, अरब के यात्रियों के वयान हैं, और सबसे महत्त्व की तो चीन से प्राप्त ऐतिहासिक सूचनाएं हैं । बहुत-से पुराने शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भी हैं और जावा और बाली में हिंदुस्तानी आधारों पर तैयार किया गया एक संपन्न साहित्य भी है, जो प्रायः हिंदुस्तानी महाकाव्यों और पुराणों की गाथाओं को दूसरे शब्दों में केवल दुहरा देता है । यूनानी और लातीनी आधारों से भी कुछ सूचनाएं मिलती हैं, लेकिन सबसे बढ़कर पुरानी इमारतों के विशाल खंडहर हैं, जो विशेषकर श्रंगकोर और वीरोवुदर में मिलते हैं ।

ईसवी सन् की पहली सदी से आगे; हिंदुस्तानी उपनिवेश बस्ताने वालों की लहर पर लहर पूरव और दक्खिन-पूरव में फैली और यह लंका, बरमा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, कंबोडिया और इंडोचीन तक फैलीं। इनमें से कुछ तो फारमूसा, फिलिपाइन द्वीप समूह और सेलिवीज तक पहुंचीं। मैडागास्कर तक की चालू भाषा इंडोनेशियन है जिसमें संस्कृत शब्दों की मिलावट है। ऐसा होने में कई सौ साल लगे होंगे, और शायद इन सब जगहों में सीधे हिंदुस्तान से लोग न पहुंचे होंगे बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होंगे। पहली सदी ईसवी से लगभग ६०० ईसवी तक चार मुख्य लहरें उपनिवेश स्थापित करने वालों की गई हुई जान पड़ती हैं, लेकिन इनके बीच-बीच में पूरव जाने वाले लोगों का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामों की सबसे मारके की बात यह थी कि इनका संगठन राज्य द्वारा हुआ जान पड़ता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश प्रकायक एकसाथ स्थापित होते हैं, और प्रायः सदा ये एसी जगहों पर स्थापित होते हैं, जो सैनिक दृष्टि से महत्व की जगहें हैं या खास यात्रा के मार्ग हैं। इन वस्तियों को जो नाम दिए गए, वे पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश, जिसे आज कंबोडिया कहते हैं, कंबोज कहलाया, जो प्राचीन हिंदुस्तान का काबुल की घाटी में गांधार में एक नगर शहर था।

समुद्र-पार की इन अद्भुत और भयावह विजय-यात्राओं के पीछे कौनसी प्रेरणा थी? इनकी कल्पना या संगठन संभव न था, अगर इनसे पहले, पीढ़ियों और सदियों पहले, कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे तिजारती गिरोह वहां जाकर वहां से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी संस्कृत पुस्तकों में पूरव के इन देशों के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमें आए हुए नामों को आज जगहों से जोड़ सकना आसान नहीं, लेकिन कभी-कभी कोई कठिनाई भी नहीं होती। जावा स्पष्ट रूप से 'यवद्वीप' या 'जी का टापू' है और यव आज भी एक अन्न-विशेष का नाम है। पुराने ग्रंथों में आए हुए और नाम भी आम तौर पर धातु धनिज या किसी व्यापार या घेती की पैदावार से संबंध रखते हैं। इस नामकरण से ही व्यापार की ओर ध्यान जाता है। डाक्टर आर० सी० गजूमदार ने बताया है—“अगर साहित्य साधारण लोगों के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है, तो ईसवी सन् के आरंभ होने से पूर्व और बाद की सदियों में धनिज-व्यापार के लिए बहुत बड़ा उल्लाह रहा होगा।” इन सब बातों से पता चलता है कि यहां की आर्थिक व्यवस्था का नाम ही

, और दूर-दूर की मंडियों की बराबर खोज हो रही थी।
 सा से पहले की तीसरी और दूसरी सदियों में यह व्यापार
 तेरे बढ़ गया था और तब इन व्यवसायों और व्यापारियों के
 धर्म-प्रचारकों का जाना आरंभ हुआ होगा, क्योंकि यह अशोक
 के बाद का समय था। संस्कृत की पुरानी कथाओं में भयावह
 यूनानी और अरब, दोनों ही, वर्णनों से पता लगता है कि हिंदुस्तान
 र सुदूर पूरव के देशों के बीच कम से कम पहली सदी ईसवी तब
 मुद्र के रास्ते खूब व्यापार चल गया था। मलय प्रायद्वीप और इंदो
 शिया के टापू और चीन और हिंदुस्तान, फारस, अरब और मेडिटरेनियन
 के यात्रा-मार्ग में पड़ते थे। अपने भौगोलिक महत्त्व के अतिरिक्त इन
 देशों में कीमती खनिज, धातु, मसाले और लकड़ियाँ मिलती थीं।
 अरब की तरह उस काल में भी मलय अपनी टीन की खानों के लिए
 प्रसिद्ध था। शायद सबसे पहली यात्राएं हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र-तट
 के बराबर-बराबर—कलिंग (उड़ीसा), बंगाल, बरमा और फिर

नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुई थीं। बाद में दक्खिन हिंदुस्तान से
 सीधे यात्रा-मार्ग स्थापित हो गए थे।
 यह स्पष्ट है कि जहाजों के बनाने का घंघा प्राचीन हिंदुस्तान में
 अच्छी उन्नति पर था। उस काल में बने हुए जहाजों का कुछ व्योरेवा
 हाल हमें मिलता है। बहुत-से हिंदुस्तानी बंदरगाह के नाम मिलते हैं
 दूसरी और तीसरी सदी ईसवी के दक्खिन-हिंदुस्तानी (आंध्र) सिक्क
 पर दुहरे पालों वाली नौकाओं का अंकन मिलता है। अजंता की दीवा
 पर बने हुए चित्रों में लंका की विजय दिखाई गई है और हायी
 जाने वाले जहाज बने हैं। वे बड़े राज्य और साम्राज्य जो आरंभ
 हिंदुस्तानी उपनिवेशों में स्थापित हुए, वे सभी मुख्य रूप से स
 शक्तियाँ थीं, उनकी व्यापार में दिलचस्पी थी और इसलिए
 मार्ग पर उनका अधिकार था।

सन् १०८८ ई० का एक दिलचस्प तमिल शिलालेख है
 'पंद्रहवीं की निगम' का वर्णन है। स्पष्ट रूप से यह व्यापारि
 निगम (कारपोरेशन) थी, जिसके लोगों के बारे में बताया
 कि "वीर पुरुष थे, जिनका जन्म कृतयुग (सतयुग) से ही ज
 थल की राह से, दूर-दूर देशों में जाकर, छहों खंडों को भेद
 हायी, मणि-मानिक, फुलेल और औपधियों का शोक अ
 व्यापार करने के लिए हुआ था।"

हिंदुस्तानियों की व्यापार और साहसी धंधों और विस्तार की प्रेरणा उन्हें इन पूरबी देशों में ले गई, जिनका पुराने संस्कृत ग्रंथों में 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्ण-द्वीप' के व्यापक शब्द से संकेत किया गया है। इस नाम में ही एक आकर्षण था। आरंभ के उपनिवेश स्थापित करने वाले पहले बस गए, फिर और बाद में आए, और शांति के साथ बैठने की यह प्रिया जारी रही। हिंदुस्तान का उन जातियों से, जो उन्हें वहां पर मिलीं, मेल-जोल हुआ और एक नई मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ। इतना हो चुकने पर ही शायद राजनैतिक वर्ग के लोग, कुछ क्षत्रिय राजकुमार कुलीन वंशों के सैनिक, साहसी कामों और राज्य-स्थापना के विचार से आए। नामों की समानता की वजह से यह सुझाव दिया गया है कि इन लोगों में से अधिकतर हिंदुस्तान में छूव फैली हुई मालव जाति के लोग थे—इसीसे/मलव जाति हुई, जिसका सारे एंदोनेशिया पर इतना गहरा असर रहा है। मध्य हिंदुस्तान का एक हिस्सा अब भी मालवा कहलाता है। ऐसा खयाल किया जाता है कि आरंभ के उपनिवेशिक पूरबी समुद्र-तट के कलिंग देश (उड़ीसा) से गए थे, लेकिन यह दक्खिन का पल्लव हिंदू राज्य ही था जिसने कि उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश की। यह खयाल किया जाता है कि शैलेंद्र-वंश, जो दक्खिन-पूरबी एशिया में इतना प्रसिद्ध हुआ, उड़ीसा से आया हुआ था। उस काल में उड़ीसा बांदों का एक गढ़ था, यद्यपि शासन करने वाला राजवंश ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था।

इन हिंदुस्तानी उपनिवेशों का इतिहास कोई तरह सी साल का, बल्कि इससे भी अधिक का है। यह पहली या दूसरी सदी ईसवी से आरंभ होकर पंद्रहवीं सदी के अंत तक चलता है। आरंभ की सदियों का हाल बहुत साफ-साफ नहीं मालूम है, सिवाय इसके कि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। क्रमशः वे आपस में मिल जाते हैं और पांचवीं सदी के होते-होते बड़े-बड़े शहरों का निर्माण होने लगता है। आठवीं सदी तक ऐसे साम्राज्य बन चुके थे जो समुद्र-यात्रा किया करते थे और कुछ अंशों में केन्द्रीय थे, लेकिन बहुत-से देशों पर एक अस्पष्ट ढंग का आधिपत्य भी बनाए हुए थे।

उनमें सबसे बड़ा राज्य शैलेन्द्र-साम्राज्य था जिसे श्रीविजय का साम्राज्य भी कहते हैं, और जो आठवीं सदी तक सारे मलय-एशिया में जल और धूल दोनों तरह की शक्तियों के रूप में सबसे ऊपर उठ चुका था। यही हाल तक यह समझा जाता था कि उसका आरंभ गुमासा में हुआ था और वहीं इसकी राजधानी भी थी, लेकिन बाद

नेजों ने साबित कर दिया है कि इसका आरंभ मलय प्रायद्वीप
प्रा था। जिस काल में इसकी शक्ति चोटी पर पहुंच गई थी, उस
में इसके अंदर मलय, लंका, सुमात्रा, जावा का एक हिस्सा,
नयो, सेलिवीज, फिलिपाइन और फारमूसा का एक हिस्सा था
र शायद कंबोडिया और चंपा (अनाम) पर भी इसका आधिपत्य
। यह बौद्ध साम्राज्य था।

लेकिन शैलेन्द्र-वंश के इस साम्राज्य के स्थापित और दृढ़ होने में
हुत पहले ही मलय, कंबोडिया और जावा में शक्तिशाली राज्य बन
चुके थे। मलय प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से में स्याम की सरहद के करीब
जो दूर तक फैले हुए खंडहर हैं, वे आर० जे० विल्किंसन के अनुसार
ऐसे हैं जिनसे बहुत ऊँचे दर्जे के संपन्न और वैभवशाली, वलशाली
राज्यों के वहां किसी समय में होने का पता चलता है। चंपा (अनाम)
में तीसरी सदी में पांडुरंगम् नाम का नगर था, और पांचवीं सदी में
कंबोज एक बड़ा नगर हो गया था। नवीं सदी में जयवर्मन नाम के
एक प्रतापी राजा ने, छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर, कंबोडिया
का साम्राज्य स्थापित किया था जिसकी राजधानी अंगकोर थी।
कंबोडिया बीच-बीच में शैलेन्द्र-वंश के आधिपत्य में संभवतः आ जाता
रहा, लेकिन यह आधिपत्य नाम के लिए था और नवीं सदी में यह
स्वतंत्र हो बैठा। कंबोडिया का यह साम्राज्य लगभग चार सौ साल
तक बना रहा और इसमें बहुत बड़े-बड़े शासक और निर्माण कर
वाले लोग हुए, जैसे जयवर्मन, यशोवर्मन, इंद्रवर्मन और सूर्यवर्मन
इसकी राजधानी सारे एशिया में प्रसिद्ध हो गई, जो विशाल अंगकोर
के नाम से जानी जाती थी: यहां दस लाख की आबादी थी और
शहर सीजर वादशाहों के रोम शहर से बड़ा और अधिक विषाल
था। शहर के पास ही अंगकोरवट का विशाल मंदिर था। कंबोडिया
का साम्राज्य तेरहवीं सदी के अंत तक चलता रहा, और १२९६
एक चीनी राजदूत वहां गया था। वह राजधानी की समृद्धि और
शौकत का वयान करता है। लेकिन इस साम्राज्य का अचानक
हो गया, इतना अचानक कि कुछ भवन पूरे बनने से रह गए।
आक्रमण हुए और भीतरी कठिनाइयां भी सामने आईं, लेकिन
जो सबसे बड़ी आपत्ति आई वह यह थी कि मीकांग नदी रेत से
गया और शहर में आने के रास्तों में पानी आकर दल
नवीं सदी में जावा भी शैलेन्द्र-साम्राज्य से अलग हो ग

भी शैलेन्द्र-वंश इंदोनेशिया में ग्यारहवीं सदी तक सबसे बड़ी शक्ति बना रहा, और तब दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य से उनकी मुठभेड़ हुई। चोल-वंशी विजयी हुए और पचास साल से अधिक समय तक इंदोनेशिया के बहुत-से भागों पर उनका आधिपत्य रहा। चोल लोगों के हट जाने पर शैलेन्द्र-वंश ने अपनी खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त कर ली और लगभग तीन सौ साल तक एक स्वतंत्र राज्य की हस्तियत से बना रहा। लेकिन अब यह पूरबी समुद्र के देशों में सबसे बड़ी शक्ति न रह गया था और तेरहवीं सदी में इस साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना आरंभ हो गया। इसकी कमजोरी से जावा ने तान उठाया और जाव्यों (स्याम) ने भी।

चौदहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जावा ने श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया। इस जावाई राज्य के पीछे एक लंबा इतिहास है। यह ब्राह्मण धर्म वालों का राज्य था और बौद्धधर्म के प्रचार के बावजूद इसने पुराने धर्म को छोड़ा न था। इसने श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव का उस समय भी मुकाबला किया था जबकि स्वयं जावा का आधे से अधिक हिस्सा इस साम्राज्य में आ गया था। यहां ऐसे लोग बसते थे जिनका ध्यान व्यापार पर था, जो जहाजरानी करते थे और जिन्हें पत्थर की शानदार इमारतें बनवाने का शौक था। आरंभ में यह तिहुसारी का राज्य कहलाता था, लेकिन १२६२ ईस्वी में मज्जापहित नाम का नया नगर स्थापित हुआ और आगे चलकर इसीसे मज्जापहित साम्राज्य हो गया जो श्रीविजय साम्राज्य के बाद दक्खिन-पूरबी एशिया की सबसे बड़ी शक्ति थी। मज्जापहित ने कुवालाइ ग्रां के चीन से भेजे गए कुछ हूतों का अनादर किया और चीनियों ने उत्तर पर धावा करके उसे दंड दिया। जाव्यों ने जायद चीनियों से वास्तु का उपयोग सीखा और इसकी मदद से वे अंत में शैलेन्द्र-वंश वालों को हरा सके।

मज्जापहित एक बड़ा केन्द्रित और विस्तारशील साम्राज्य था। कहा जाता है कि यहां की कर-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से संगठित थी और व्यापार और उपनिवेशों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। शासन का एक व्यवसाय-विभाग था और इसी तरह उपनिवेश-विभाग, स्वारज्य-विभाग और युद्ध और अंतरंग-विभाग आदि भी थे। एक प्रधान न्यायालय भी था, जिनमें कई न्यायाधीश काम करते थे। इस साम्राज्य का जैना दृष्टा मंगठन था, उसे जानकर वास्तव में

। इसका मुख्य काम हिंदुस्तान और चीन से व्यापार करना था।
 हों के प्रसिद्ध शासकों में एक महारानी सुहिता थी।
 मज्जापहित और श्रीविजय के बीच का युद्ध बड़ा भयानक था,
 और यद्यपि मज्जापहित की पूरे तौर पर जीत हुई, इस जीत ने नये
 गढ़ों के बीज बोए। शैलेन्द्रों की ताकत, जो कुछ भी बच रही थी,
 उससे और लोगों ने, मुख्यतया अरबों और नौ-मुस्लिमों ने, मिलकर
 पुमात्ता और मलाका में मलय शक्ति स्थापित की। पूरबी समुद्रों की
 कमान, जो अब तक दक्खिन हिंदुस्तान या हिंदुस्तानी उपनिवेशों के
 हाथ में थी, वह अब अरबों के हाथ में चली गई। व्यापार के केन्द्र की
 हैसियत से, और राजनैतिक शक्ति के रूप में, अब मलाका सामने आया
 और मलय-प्रायद्वीप और टापुओं में इस्लाम फैला। यही शक्ति थी
 जिसने कि पंद्रहवीं सदी के अंत में मज्जापहित का पूरी तरह अंत कर
 दिया। लेकिन कुछ वरसों के भीतर ही, सन् १५११ में, अल्बुकर्क
 के नेतृत्व में पुर्तगाली आए और उन्होंने मलाका पर अधिकार कर लिया।
 अपनी नई और उन्नतिशील शक्ति के बल पर यूरोप सुदूर पूरब तक
 पहुंच गया।

१५ : हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव

प्राचीन साम्राज्यों और वंशों का यह हाल पुरातत्त्वज्ञों की दिल-
 चस्पी का है, लेकिन सम्यता और कला के इतिहास के लिए उनका
 दिलचस्पी और भी अधिक है। हिंदुस्तान के दृष्टिकोण से यह विशेष
 रूप से महत्व का है, क्योंकि वहां जो कुछ था, वह हिंदुस्तान का किय
 घरा था और हिंदुस्तान की जीवनी शक्ति और प्रतिभा भिन्न रूपों
 वहां प्रगट हुई थी। हम हिंदुस्तान को उत्साह से भरा हुआ और दूर-
 तक फैलता हुआ पाते हैं, और यह देखते हैं कि वह न केवल अ
 विचारों, बल्कि दूसरे आदर्शों, अपनी कला, अपने व्यापार, अपनी
 और साहित्य और अपने शासन के ढंग को सब जगह ले जाता
 न वह मंद पड़ा हुआ है, न अलग-अलग रहने वाला है या समुंदर
 पहाड़ से कटकर अकेला पड़ गया है। उसके निवासी इन ऊंचे प
 को पार करते हैं और भयावह समुद्र को लांघते हैं, और जैसा कि म
 रीनी ग्रीसे ने बताया है, "एक बृहत्तर हिंदुस्तान का निर्माण क
 जो राजनैतिक दृष्टि से उतना ही कम संगठित है जितना कि
 यूनान था, लेकिन जो नैतिक दृष्टि से वैसा ही मधुर और

प्रभाव रखने वाला है।" वास्तव में मलय-एशिया की इन रियासतों का राजनैतिक संगठन भी बड़े ऊँचे दर्जे का था, यद्यपि यह हिंदुस्तानी राजनैतिक व्यवस्था का अंग नहीं था। लेकिन मुझे य़ूरी उन विस्तृत प्रदेशों का हवाला देते हैं कि जहाँ हिंदुस्तानी सभ्यता फैल गई थी— "पूरबी ईरान के ऊँचे पठार में; सैरिडिया के नज़्मिस्तानों में; तिव्वत, मंगोलिया और मंचूरिया के सूखे बंजरों में; चीन और जापान के नुसम्य प्राचीन देशों में; भोनों और ओरों और हिंदचीन की और जातियों की आदिम भूमियों पर; मलय-पोलिनीशियनों के देशों में; इंदोनेशिया और मलय में; न केवल धर्म पर, बल्कि कला और साहित्य पर भी, या एक शब्द में कहिए तो आत्मा की सभी ऊँची वस्तुओं पर हिंदुस्तान ने अपनी ऊँची संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी है।"

हिंदुस्तानी सभ्यता ने विशेषकर दक्खिन-पूरबी एशिया के देशों में जड़ पकड़ी, और इसका प्रमाण आज वहाँ सब जगह मिलता है। चंपा, अंगकोर, श्रीविजय, मज्जापहित और और जगहों में संस्कृत की शिवा के बड़े-बड़े केन्द्र थे। मित्र-मित्र राजाओं के नाम और उन राज्यों और साम्राज्यों के नाम जो वहाँ स्थापित हुए, विलुप्त हिंदुस्तानी और संस्कृत नाम हैं। इससे यह मतलब न निकालना चाहिए कि वे पूरी तोर पर हिंदुस्तानी थे, बल्कि यह कि उनमें हिंदुस्तानीपन आ गया था। राज्य से संबंधित रस्में हिंदुस्तानी ढंग की थी और वे संस्कृत के माध्यम से पूरी की जाती थीं। राज्य के सभी कर्मचारियों के पद प्राचीन संस्कृत में आए हुए पद हैं, और ये पद अब तक न केवल पार्लैमेंट में चले आ रहे हैं, बल्कि मलय की मुस्लिम रियासतों में भी। इंदोनेशिया की इन जगहों के पुराने साहित्य में हिंदुस्तानी कथाएं और गाथाएं भरी पड़ी हैं। जावा और बाली के मगहूर नृत्य हिंदुस्तान ने ग्रहण किए हुए हैं। बाली के छोटे टापू ने तो अपनी पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता को अब तक बहुत कुछ बनाए रखा है, यहां तक कि हिंदूधर्म भी यहां चला आ रहा है। फिनिपाइन्स में लिखने की कला हिंदुस्तान से गई।

कंबोडिया की वर्णमाला दक्खिन हिंदुस्तान से ली गई है और बहुत-से संस्कृत शब्द छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ ने लिए गए हैं। दीवानी और फौजदारी के कानून हिंदुस्तान के प्राचीन न्यायिकार मनु के धर्मशास्त्र के आधार पर बने हैं और इन्हें बौद्धधर्म के प्रभाव ने होने वाले कुछ परिवर्तनों के साथ कंबोडिया के वर्तमान कानून में ले लिया गया है।

लेकिन जिन चीजों में हिंदुस्तानी प्रभाव सबसे

मूल्य को अपनी विभिन्न अक्षांशों में करने का अवसर मिला। यह मान्यताही ऐसी है जिसकी शक्ति में सभी मानवों में प्रेरणा का स्त्रोत है और अपने सम्पदा और धर्म में जो कुछ भी सुरक्षित है उसे पवित्रता और उससे प्रेम करना सीखा है।

मिथ्यात्व लंबी शिखरें हैं—ईश्वर से चीनी समुद्र तक; म उद्वेगों के बहानी प्रयोगों में जादा और दौलतों के आधुनिक तक; अंग्रेजियों से मोक्षोदर तक; हिंदुस्थान में अपने विचारों, अस्त्रों कहानियों, और अपनी संस्कृति को फैलाया है। अपने मानव-मान के चौपड़े हिस्से पर लंबी शिखरों के बीच में अस्त्रों अमिट छान बांधे हैं। उसे इस बात का अधिकार है कि अस्त्रों के कारण उसे दुनिया के इतिहास में जो पद मिलने में यह गया है उसे प्राप्त करें और मानव-मान के प्रत्येक बड़े राष्ट्रों के बीच अपना अमिट स्थान ले।

६६ : पुरानी हिंदुस्थानी कला

सर जान मार्गस कहते हैं कि "हिंदुस्थान के अंदर की हो हिंदु स्थानी कला को जानना, उसकी आत्मा ही कहानी बनने के समकक्ष है। उसे पूरी नीर पर समझने के लिए हमें बौद्धधर्म के साथ-साथ मध्य-एशिया, चीन और भारत तक जाना चाहिये; सिक्ख और बज्ज और स्थान में फैलाकर उसे रूप धारण करते हुए बुद्धों से सीधे प्रस्तुत करते हुए इसे हमें देखना चाहिये; हमें कर्माधिक और जादा में इसकी विमल और अद्वितीय कहानियों को देखना चाहिये। इन देशों में से हर एक में, हिंदुस्थानी कला का एक बड़े हो वादीय प्रतिमा से संकेत होता है, उसे नये स्थानीय वातावरण का मानना करना पड़ता है, और उनके विभिन्न प्रभाव में यह नये रूप बदलती है।"

हिंदुस्थानी कला का हिंदुस्थानी धर्म और दर्शन से बहुत संबंध है। मायद यूरोप के मध्य युग के मंदिर कलाकार और निराला हिंदु स्थानी कला और मिला में अपना अधिक भवन करते—आज के उन यूरोपीय कलाकारों की आत्मा, जिनोंने अपने प्रेरणा स्रोतों और उनके बाद के युग से प्राप्त की है क्योंकि हिंदुस्थानी कला में हमें बग़र एक वास्तविक प्रेरणा मिलती है, एक मानवीय शिव ई देता है, जिसकी मायद यूरोप के बड़े गिरजाघरों के बलून बांधों में थी। बौद्धों की कल्पना मानव-वर्ण में की गई है, बल्कि-वर्ण में नहीं—यह आत्मा से सर्वत्र रहने वाली चीज है।

यूनानी परंपरा में शिक्षा पाए हुए यूरोपीयों ने आरंभ में हिंदु की कला की यूनानी दृष्टिकोण से जांच की। गांधार और सरहदी की यूनानी बौद्ध कला में तो उन्होंने कुछ बात देखी जो उनकी अपनी हुई थी; और हिंदुस्तान की कला और कृतियों को उन्होंने तो का गिरा हुआ रूप माना गया। धीरे-धीरे एक नया दृष्टिकोण आया और यह कहा जाने लगा कि हिंदुस्तानी कला में एक मौलिकता और जीवनी शक्ति है जो यूनानी बौद्ध कला से उसे नहीं प्राप्त हुई, बल्कि यूनानी बौद्ध कला स्वयं उसका एक हल्का प्रतिविम्ब है। यह नया दृष्टिकोण अधिकतर इंग्लिस्तान को छोड़कर यूरोप के और देशों से आया। यह एक अचरज की बात है कि हिंदुस्तानी कला का (और यह बात संस्कृत साहित्य के बारे में भी ठीक ठहरती है) जैसा आदर यूरोप के दूसरे देशों में हुआ, वैसा इंग्लिस्तान में नहीं। यों बहुत-से कलाकार, विद्वान और दूसरे अंग्रेज हैं, जो हिंदुस्तानी भावनाओं और दृष्टिकोण के नज़दीक पहुंच गए हैं और जिन्होंने हमारी पुरानी तिथियों की खोज में और दुनिया के आगे उनकी व्याख्या करने में मदद दी है।

उन अंग्रेजों में जिन्होंने हिंदुस्तानी कला को पसंद किया है और उसपर मत स्थिर करने के लिए नई कसौटियों का उपयोग किया है, लॉरेस विनियन और ई० बी० हैवेल हैं। हिंदुस्तानी कला के आदर्श और उसके अंतरंग भावों के बारे में हैवेल को विशेष रूप से उत्साह है। हिंदुस्तानी कला मुट्ठी-भर विद्वानों के संवोधन के लिए नहीं रही है। इसका उद्देश्य यह रहा है कि हिंदूधर्म और दर्शन के केन्द्र विचारों को आम लोगों को समझावे। "इस शिक्षा के उद्देश्य को करने में हिंदूकला सफल रही, इसका अनुमान इस बात से हो जा है, (जो उन सबका जाना हुआ है जो हिंदुस्तानी जीवन से परिचित हैं) कि हिंदुस्तानी गांव वाले यद्यपि वे पच्छिमी लोगों के अर्थ में श्रम और अनपढ़ हैं, फिर भी अपने वर्ग के लोगों में, दुनिया के जगह के लोगों की अपेक्षा अधिक सम्य हैं।"

हिंदुस्तान में, अजंता की दीवारों पर बने हुए सुंदर निःशब्द अतिरिक्त पुरानी चित्रकारी अधिक नहीं मिलती। शायद इसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया है। हिंदुस्तान की विशेषता मूर्तिकला और स्थापत्य में है, जिस तरह कि चीन और जापान विशेषता उनकी चित्रकारी में है।

हिंदुस्तानी संगीत, जो यूरोपीय संगीत से इतना भिन्न होगा पर बहुत उन्नति कर चुका था, और इसके लिए हिंदुस्त

था, और चीन और सुदूर पूरव के देशों को छोड़कर दूसरे सारे एशिया के संगीत पर प्रभाव डाला था। इस तरह से संगीत, ईरान, अफगानिस्तान, अरब, तुर्किस्तान और कुछ हद तक और इलाकों में, जहां कि अरबी सभ्यता फैली थी, जैसे उत्तरी अफरीका, इनके बीच की एक और कड़ी बन गया। हिंदुस्तान का शास्त्रीय संगीत शायद इन सब जगहों में पसंद किया जाएगा। आरंभ के काल में हिंदुस्तानी कला हमें प्रकृतिवाद से भरी हुई मिलती है, जो कुछ अंशों में चीनी प्रभावों की वजह से हो सकता है। हिंदुस्तानी कला के इतिहास की भिन्न मंजिलों पर हमें चीनी प्रभाव दिखाई देते हैं, विशेषकर प्रकृतिवाद को उत्कर्ष देने वाले, इसी तरह हिंदुस्तानी आदर्शवाद ने चीन और जापान में जाकर विशेष कालों में वहां बरबस प्रभाव डाला।

चौथी से छठी सदियों के बीच, गुप्तों के समय में, जो हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाता है, अजंता की गुफाएं खोदी गईं और उनकी दीवारों पर चित्र बनाए गए। बाग और वादामी की गुफाएं भी इसी जमाने की हैं। अजंता की दीवार पर बनी तस्वीरें यद्यपि बड़ी सुंदर हैं, और जब से उनकी खोज हुई है, उन्होंने हमारे आजकल के कलाकारों पर गहरा असर डाला है, और वे जीवन से मुड़कर अजंता की शैली की नकल में पड़ गए हैं तथापि ये इसके अच्छे नतीजे नहीं हैं।

अजंता हमें एक दूर की, सपने जैसी दूर की, लेकिन बहुत वास्तविक दुनिया में पहुंचा देता है। ये दीवार पर बने चित्र बौद्ध भिक्षुओं के बनाए हुए हैं। बहुत दिन पहले उनके स्वामी बुद्ध ने बताया था कि स्त्रियों से दूर रहो, उनकी तरफ देखो तक नहीं, क्योंकि वे खतरनाक हैं। फिर भी हम पाते हैं कि यहां स्त्रियों की कमी नहीं है, सुंदर स्त्रियां, राजकन्याएं, गाने वाली, नाचने वाली, बैठी और खड़ी, शृंगार करती हुई या जलूस के साथ जाती हुई स्त्रियां हमें मिलती हैं। अजंता की स्त्रियां प्रसिद्ध हो गई हैं। इन कलाकार भिक्षुओं का दुनिया से इस ज़िंदगी के चलते-फिरते नाटक से कितना गहरा परिचय है! कितने प्रेम से उन्होंने ये चित्र बनाए हैं! उसी तरह से वे जिस तरह के उन्होंने बोधिसत्व की प्रज्ञांत और लोकोत्तर का चित्रण किया है।

सातवीं और आठवीं सदियों में ठोस चट्टानों की विशाल गुफाएं तैयार हुईं, जिनके बीच में मंदिर हैं। मानव ने इसकी कल्पना किस के बाद उसे किस तरह साकार किया, ३:

काल की एलिफेंटा की गुफाएं भी हैं, जहांकि त्रिमूर्ति की जोरदार और रहस्यमयी मूर्ति बनी हुई हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में मामल्लपुरम के भवन भी इसी समय के हैं।

एलिफेंटा की गुफा में नटराज शिव की एक टूटी हुई मूर्ति है, जिसमें शिव नाचने की मुद्रा में दिखाए गए हैं; हैबेल का कहना है कि अपनी टूटी हुई हालत में भी यह बड़ी प्रबल मूर्ति है और इसकी कल्पना विशाल है—“नृत्य की लयमय गति से यद्यपि चट्टान तक प्रतिध्वनित जान पड़ती है, फिर भी सिर को देखने से उसी सौम्य और शांत और निर्विकार प्रकृति का आभास होता है जिससे कि बुद्ध का मुख आलोकित रहता है।”

१७ : हिंदुस्तान का वैदेशिक व्यापार

ईसवी सन् के पहले एक हजार वर्षों में हिंदुस्तान का व्यापार बराबर खूब फैला हुआ था, और हिंदुस्तानी व्यापारी बहुत-सी विदेशी मंडियों पर अधिकार किए हुए थे। यह व्यापार पूरबी समुद्र के देशों में तो प्रचुर रूप से होता ही था और यह मेडिटरेनियन के देशों तक फैला हुआ था। मिर्च और मसाले हिंदुस्तान से या हिंदुस्तान होकर पच्छिम को जाते थे, ये बहुधा हिन्दुस्तानी या चीनी जहाजों में जाते। रोमन लेखकों ने यह शिकायत की है कि रोम से हिंदुस्तान और पूरव देशों में, आमोद-प्रमोद की चीजों के बदले बहुत-सा सोना बाहर जाता था।

यह व्यापार अधिकतर—नया हिंदुस्तान में और क्या दूसरी तरह—उन सामग्रियों के बदल-बदल का होता था जो विशेष जगहों में पाई जाती थी। हिंदुस्तान बहुत पुराने समय से कपड़ा तैयार करता रहा है—उस काल से, जबकि बहुत-से दूसरे देश इस धंधे को नहीं जानते थे—इसलिए यहां पर कपड़े का घंघा उन्नति कर गया था। हिंदुस्तानी बुना हुआ कपड़ा दूर-दूर देशों में जाया करता था। बहुत शुरुआत के जमाने से यहां रेशमी कपड़ा भी बनता रहा है, यद्यपि शायद हि चीनी रेशम जैसा अच्छा न होता था। कपड़े रंगने की कला में अवश्य विशेष उन्नति हुई जान पड़ती है और पक्के रंग तैयार करने के यहां विशिष्ट ढंग थे। इनमें से एक नील का रंग था और इसे ‘इंडिगो’ कहते हैं। यह ऐसा शब्द है जो यूनानियों ने ‘इंडिया’ से बनाया था। शायद इन रंगों के घंघे की जानकारी ने हिंदुस्तान

के विदेशों से व्यापार को बहुत आगे बढ़ाया ।

ईसवी सन् की आरंभ की सदियों में रसायन-शास्त्र हिंदुस्तान में और-और देशों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर चुका था । इसके बारे में मेरी जानकारी बहुत नहीं है, लेकिन हिंदुस्तानी रसायनशास्त्रियों और वैज्ञानिकों के प्रमुख सर पी० सी० राय ने, जिन्होंने हिंदुस्तानी वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियों को तैयार किया है, एक पुस्तक 'हिंदू रसायन-शास्त्र का इतिहास' लिखी है । उस काल में रसायन-शास्त्र कीमियागिरी और धातु-शास्त्र से बहुत संबंध रखता था । एक प्रसिद्ध हिंदुस्तानी रसायन और धातु-शास्त्री नागार्जुन हुआ है, और नामों की समानता की वजह से कुछ लोगों ने सुझाव दिया है कि यही पहली सदी ईसवी का बड़ा दार्शनिक था । लेकिन इस बात में बहुत संदेह है ।

प्राचीन हिंदुस्तानी लोहे को ताव देना जानते थे, और हिंदुस्तानी फौलाद और लोहे की दूसरे मुल्कों में कद्र होती थी, विशेषकर लड़ाई के कामों में । बहुत-सी और धातुओं की यहां लोगों को जानकारी थी और औषधि के लिए धातुओं के द्रव्य तैयार किए जाते थे । भट्टी से टपकाने और कंकड़-पत्थर फूंककर चूना बनाने का काम लोगों को अच्छी तरह मालूम था । औषध-विज्ञान ने काफी उन्नति कर ली थी । मध्ययुग तक प्रयोगों में पर्याप्त उन्नति होती रही, यद्यपि ये प्रयोग अधिकतर पुराने ग्रंथों के आधार पर हुआ करते थे । शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन होता था ।

आकाश-विद्या, जो सबसे पुराना विज्ञान है, विद्यापीठों के पाठ्यक्रम का एक नियमित अंग थी और प्रायः इसे फलित ज्योतिष से मिला-जुला दिया जाता था । एक बहुत शुद्ध पंचांग तैयार किया जा चुका था और यह अब भी चलता है । प्राचीन हिंदुस्तानियों को अपने आकाश-ज्ञान पर गर्व रहा है । उनका अरबों के ज्योतिष-ज्ञान से परिचय था, जो अधिकतर सिकंदरिया से लिया गया था ।

यह बताना कठिन है कि यंत्रों ने कहां तक उन्नति की थी, लेकिन जहाजों का बनाना एक ऐसा व्यवसाय था जो खूब चलता था । और भी तरह-तरह के 'यंत्रों' के परिचय मिलते हैं, विशेषकर लड़ाई में काम आने वाले यंत्रों के । कुछ उत्साही और विश्वासी हिंदुस्तानियों ने इससे तरह-तरह के पेचीदा यंत्रों की कल्पना कर ली है । फिर भी यह मालूम पड़ता है कि औजारों के प्रयोग में और रसायन और धातु-शास्त्र की जानकारी में हिंदुस्तान किसी भी देश की

था। इससे व्यापार के मामले में उसे लाभ पहुंचता, और
 दियों तक वह कई विदेशी मंडियों को अपने वश में रख सका।

१८ : प्राचीन हिंदुस्तान में गणित-शास्त्र

चूंकि प्राचीन हिंदुस्तानी ऊंचे दिमाग वाले और सूक्ष्म बातों पर
 विचार करने वाले लोग थे, इसलिए हमें आशा ही करनी चाहिए
 वे गणित-शास्त्र में बढ़े-चढ़े रहे होंगे। यूरोप ने आरंभ में अंकगणित
 और बीजगणित अरबों से सीखा—इसीसे उन्होंने संख्याओं की
 अरबी संख्याओं का नाम दिया—लेकिन अरबों ने स्वयं उन्हें पहले
 हिंदुस्तान से सीखा था। अंकगणित और बीजगणित की नींव बहुत
 पहले ही हिंदुस्तान में पड़ी थी। एक गिनती के चौखटे की मदद से
 गिनने के भट्टे ढंग और रोमन और इसी तरह की संख्याओं के इस्तेमाल
 ने बहुत दिनों तक उन्नति को रोक रखा था, जबकि शून्यांक मिलाकर
 दत्त हिंदुस्तानी अंकों ने मानव के मस्तिष्क को इन बंधनों से मुक्त कर
 दिया, और अंकों के स्वभाव पर बहुत प्रकाश डाला। ये अंकों के चिह्न
 और देशों में प्रयोगों में आने वाले चिह्नों से बिल्कुल भिन्न थे। आज वे
 इतने प्रचलित हैं कि हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमें आंतिकारी
 उन्नति के बीज थे। हिंदुस्तान से बगदाद होते हुए पच्छिमी दुनिया में
 पहुंचने में इन्हें सदियां लग गईं।

छेठ सौ साल हुए, नैपोलियन के समय में, लाप्लास ने लि
 था—“यह हिंदुस्तान है, जिसने हमें सभी संख्याओं को दस चि
 के द्वारा प्रकट करने का युक्तिपूर्ण ढंग बताया, जिसके हर एक चि
 का एक अपना मूल्य है और एक उसके स्थान की वजह से मिला
 मूल्य है। यह एक गहरा और महत्वपूर्ण विचार है, जो अब हमें
 सीधा-सादा जान पड़ता है कि हम उसकी विशेषताओं को भूल
 हैं। लेकिन इसकी सादगी ही से जो सरलता हमारी गणनाओं
 गई है, उसने अंकगणित को उपयोगी आविष्कारों की पहल
 में ला दिया है, और हम इस कारनामे के महत्व को तब सम
 हम यह याद रखेंगे कि प्राचीन काल के दो सबसे बड़े व्यक्तित्व
 आर्कमिडिस और अपोलोनियस की प्रतिमा से भी यह वि
 निकला था।”

हिंदुस्तान में ज्यामिति, अंकगणित और बीजगणित
 प्राचीन काल तक पहुंचा देता है। शायद आरं

वेदियों पर चित्रों के बनाने में एक तरह के ज्यामितीय बीजगणित का प्रयोग किया जाता था। हिंदू संस्कारों में ज्यामिति-चित्र अब भी आम-तौर से उपयोग में आते हैं। ज्यामिति ने हिंदुस्तान में उन्नति ज़रूर की, लेकिन इस विषय में यूनानी और सिकन्दरिया आगे बढ़ गए। अंकगणित और बीजगणित में ही हिंदुस्तान आगे बना रहा। स्थान-मूल्य की दशमलव विधि और शून्यांक के आविष्कार या आविष्कारकों का पता नहीं। शून्यांक के सबसे पहले प्रयोग का जो अब तक पता लगा है, वह लगभग २०० ई० पू० के एक शास्त्रीय ग्रंथ में है। यह संभव विचार किया जाता है कि स्थान-मूल्य का ढंग ईसाई सन् के आरंभ के लगभग आविष्कृत किया गया। शून्य, जिसके अर्थ कुछ नहीं के हैं, आरंभ में एक विदी के रूप में था। बाद में यह एक छोटे वृत्त के रूप में बदल गया। यह और अंकों की तरह एक अंक समझा जाता था। प्रो० हाल्टस्टेड ने लिखा है—“शून्य के चिह्न की रचना के महत्त्व को चाहे जितना बढ़ा के कहा जाए, अत्युक्ति न होगी। एक ऐसी चीज़ को, जो हवाई और कुछ न हो, एक स्थिति और नाम दे देना, एक चित्र और प्रतीक में बदल देना, जिसमें मदद करने की शक्ति आ जाए, हिंदू जाति की ही विशेषता है जहां कि इसका जन्म हुआ।”

इस ऐतिहासिक घटना को लेकर इस समय के एक और गणितज्ञ ने बड़ी जोरदार प्रशंसा की है। डानर्जिंग अपनी पुस्तक ‘नंबर’ में लिखता है—“पांच हजार साल के इस लंबे ज़माने में न जाने कितनी सभ्यताएं उठीं और गिरें और इनमें से हर एक अपनी साहित्य, कला, दर्शन और धर्म की विरासत छोड़ गई। लेकिन गिनती के क्षेत्र में, जो मनुष्य की पहली कला रही है, सब कुछ मिलाकर उनके क्या कारनामे रहे? गिनती का ढंग इतना भौड़ा और गैर-सचचीला था कि, उन्नति को असंभव बना देने वाला; जोड़ने के ढंग इतने सीमित, कि मामूली हिसाब के लिए भी विशेषज्ञ की मदद लेनी पड़े। आदमी इन तरीकों को हजारों साल तक प्रयोग में लाता रहा, लेकिन इनमें कोई मारके का सुधार न कर सका, इसमें एक भी मतलब का विचार न जोड़ सका... यह सही है कि अंधेरे युगों में विचार बहुत धीरे-धीरे उन्नति करते थे, फिर भी उसके मुकाबले में गिनती के इतिहास को देखा जाए, तो विशेषकर गतिहीन और अटका हुआ जान पड़ता है। इस दृष्टि से देखने से उस अनजाने हिंदू का कारनामा, जिसने हमारे सन् की पहली सदियों में किसी समय स्थान-मूल्य के निम्नतम का

कार किया, एक लोकव्यापी महत्त्व का कारनामा हो जाता है।
शून्यांक और स्थान-मूल्य वाली दशमलव विधि स्वीकार कर
से हिंदुस्तान में अंकगणित और बीजगणित की उन्नति के द्वार
से खुल गए। बटे चालू हुए और बटों वाले गुणा-भाग; तैराशिक
माला और उसे पूर्ण बनाया गया; वर्ग और वर्गमूल; उसके साथ-
य वर्गमूल का चिह्न निकला; अनजानी राशियों के लिए बीज-
गणित में वर्णमाला के अक्षरों का उपयोग हुआ; सामान्य और वर्ग-
मीकरण का विचार उठा; शून्यांक के गणित की छानबीन हुई।
गणित की ये और दूसरी प्रगतियाँ पाँचवीं से बारहवीं सदी के
बीच होने वाले अनेक प्रसिद्ध गणितज्ञों की पुस्तकों में दी गई हैं। इससे
पहले के भी ग्रंथ हैं। लेकिन बीजगणित पर जो सबसे पुरानी पुस्तक
मिलती है, वह ज्योतिषी आर्यभट्ट की है, जिसका जन्म ४७६ ई० में
हुआ था। ज्योतिष और गणित पर उसने अपनी किताब जब लिखी,
तब उसकी आयु केवल २३ साल की थी। आर्यभट्ट ने, जिसे कभी-कभी
बीजगणित का आविष्कारक बताया जाता है, अपने से पहले के लेखकों
से कम से कम कुछ अंशों में सहायता ली होगी। हिंदुस्तानी गणित-
शास्त्र में दूसरा बड़ा नाम जो आता है, वह भास्कर प्रथम का है
(५२२ ई०) और उसके बाद ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) हुआ, और वह
भी एक ज्योतिषी था। शून्यांक के नियमों का वर्णन किया और इस
बढ़ा में और भी उन्नति की। इसके बाद लगातार कई गणितज्ञ
हैं जिन्होंने अंकगणित और बीजगणित पर पुस्तकें लिखी हैं। अंतिम
बड़ा नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म १११४ ई०
हुआ था। उसने ज्योतिष, बीजगणित और अंकगणित, इन
तीन पुस्तकें लिखी हैं। उसकी गणित की पुस्तक का नाम 'लीलावती'
है। यह पुस्तक संस्कृत स्कूलों में, कुछ हद तक अपनी शैली के क
अब भी उपयोग में आती है। गणितशास्त्र पर पुस्तकें बनती
लेकिन जो काम हो चुका था, उन्हें इनमें केवल दुहराया गया
गणित-शास्त्र में, बारहवीं सदी के बाद, जब तक कि हम
काल तक नहीं आते जाते हैं, मौलिक काम बहुत थोड़ा हुआ है।
आठवीं सदी में, खलीफा अलमंसूर के राज्य-काल में
७७४), कई हिंदुस्तानी विद्वान् बगदाद गए, और जिन पुस्त
वे अपने साथ ले गए थे, उनमें ज्योतिष और गणित की पुस्त
थीं। शायद इसके पहले भी, हिंदुस्तानी गिनती के अंक वर्ण
चुके थे, लेकिन यह पहला नियमित संपर्क था और आर्यभट्ट

दूसरी पुस्तकों के अरबी अनुवाद हुए। इन्होंने अरबी दुनिया में गणित और ज्योतिष की उन्नति पर असर डाला और वहाँ हिंदुस्तानी अंक प्रचलित हुए। बगदाद उस जमाने में विद्या का एक बड़ा केन्द्र था, और यूनानी और यहूदी आगिन वहाँ जमा हुए थे, और इन लोगों के साथ-साथ यूनानी दर्शन, ज्यामिति और विज्ञान वहाँ पहुँचे थे। बगदाद का सांस्कृतिक प्रभाव मध्य एशिया से लेकर स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया में पहुँचा था और इस समस्त प्रदेश में अरबी तर्जुमों के जरिये हिंदुस्तानी गणितशास्त्र का ज्ञान फैल गया था। अरब इन अंकों को 'हिंदस' कहते थे और अंकों के लिए अरबी शब्द 'हिंदस' ही हैं, जिसके माने हैं 'हिंद से आया हुआ'।

अरबी दुनिया से यह नई गणित, शायद स्पेन के मूरों के विद्यालयों द्वारा यूरोपीय देशों में पहुँचा और यूरोपीय गणित शास्त्र की इससे बुनियाद पड़ी। यूरोप में इन नये 'हिंदसों' का विरोध हुआ। वे काफ़िरों के निशान समझे जाते थे, और उनके आम तौर पर प्रयोग में आने में कई सौ साल लग गए। सबसे पहला प्रयोग जो हुआ, वह सिसली के एक सिक्के में ११३४ में हुआ; इंगलिस्तान में इसका पहला प्रयोग १४६० में हुआ।

हिंदुस्तान के गणित की चर्चा करते हुए हाल के जमाने के एक असाधारण व्यक्ति की बख़्त याद आती है। यह श्रीनिवास रामानुजम् था। दक्खिन हिंदुस्तान के एक गरीब ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर और उचित शिक्षा न पाकर, वह मदरास पोर्ट ट्रस्ट में एक क्लर्क हो गया। लेकिन उसने सहज प्रतिभा का एक न दब सकने वाला गुण था, और वह अपने अवकाश के घंटों में अंकों और उनके समीकरण से अपना जी बहलाया करता था। सांभान्य से एक गणितज्ञ का ध्यान इसपर गया और उसने इसका कुछ काम इंग्लिस्तान में कैम्ब्रिज भेज दिया। वहाँ के लोगों पर इसका असर पड़ा और उसके लिए एक बजीफे का इंतजाम कर दिया गया। इस तरह उसने अपनी क्लर्की छोड़ी और वह कैम्ब्रिज चला गया। थोड़े ही समय में उसने वहाँ कुछ बड़ा महत्वपूर्ण और मौलिक काम प्रस्तुत किया। इंग्लिस्तान की रायल सोसायटी ने अपने नियमों को तोड़कर उसे अपना एक 'फेलो' चुन लिया, लेकिन वह दो साल बाद ३३ साल की उम्र में, शायद तपेदिक से, मर गया। मेरा खयाल है कि जूलियन हक्सले ने उसके बारे में कहीं कहा है कि वह इस सदी का सबसे बड़ा गणितज्ञ था।

१६ : विकास और हास

ईसवी सन् के पहले हजार वरसों में हिंदुस्तान ने बहुत चढ़ाव उतार देखे हैं। आक्रमणकारियों से लड़ाइयां हुईं और अंदरूनी जंगलियां सामने आई हैं। फिर भी एक जोरदार उफान लेता हुआ चारों तरफ फैलता हुआ राष्ट्रीय जीवन इस काल में रहा है। संस्कृति उन्नति करती है, एक भरी-पूरी सम्यता, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान और गणितशास्त्र के फूल खिलाती है। हिंदुस्तान की आर्थिक व्यवस्था फैलती है, हिंदुस्तान का क्षितिज विस्तृत होता है और दूसरे देश इसके प्रभाव में आते हैं। ईरान, चीन, यूनान, दुनिया, मध्य एशिया से संबंध बढ़ते हैं, और इन सबसे ऊपर यह होता है कि पूर्वी समुद्र के देशों की तरफ बढ़ने की गहरी उमंग पैदा होती है, हिंदुस्तानी उपनिवेश स्थापित होते हैं और हिंदुस्तानी संस्कृति हिंदुस्तान की सरहदों से बहुत आगे तक पहुंचती है। इन हजार वरसों के बीच के जमाने में, चौथी सदी के आरंभ से छठी सदी तक, गुप्त-साम्राज्य का बोलबाला रहता है और इस दूर-दूर तक फैली हुई बौद्धिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का यह प्रतीक और संरक्षक बनता है। यह हिंदुस्तान का मुनहला युग कहलाता है। इस जमाने के ग्रंथों में, जो संस्कृत साहित्य की निधि हैं, एक प्रशान्त गंभीरता है, आत्म-विश्वास है, और उस काल के लोगों में इस बात का गर्व है कि वे इस सम्यता के प्रखर मध्याह्न-काल में जीवित हैं, और इसके साथ-साथ अपनी ऊंची मानसिक और कलात्मक शक्तियों को अधिक से अधिक उपयोग में लाने की उनमें उमंग है।

लेकिन इससे पूर्व कि वह मुनहला काल समाप्त हो, कमजोर और हास के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। पच्छिमोत्तर से सफेद के दल के दल आने हैं और बार-बार मार भगाए जाते हैं। उनका आना जारी रहता है और धीरे-धीरे वे उत्तरी हिंदुस्तान रास्ता कर लेते हैं। आधी सदी तक वे उत्तरी हिंदुस्तान में शासन करते हैं, लेकिन इसके बाद अंतिम गुप्त-सम्राट, मध्य हिंदुस्तान का एक शासक, यशोवर्मन, के साथ मिलकर बड़ी कोजिज से उसे निकाल बाहर करता है। इन लंबे संघर्ष के कारण हिंदुस्तान नैतिक दृष्टि से तथा लड़ाई की शक्ति की दृष्टि से भी कमजोर गया, और हूणों के बहुत संख्या में मारे उत्तरी हिंदुस्तान में ने धीरे-धीरे लोगों में एक भीतरी परिवर्तन भी पैदा कर दिया।

तरह कि और विदेशों से आने वाले यहां समाविष्ट हो चुके थे, उसी तरह ये भी हो गए, लेकिन इनकी छाप बनी रही और भारतीय आर्य-जातियों के प्राचीन आदर्श दुर्बल पड़ गए। हूणों के जो पुराने वर्णन मिलते हैं, वे उनकी हृदय दर्ज की कठोरता और बर्बरता के व्यवहारों से भरे हुए हैं और इस तरह के व्यवहार युद्ध और शासन के हिंदुस्तानी आदर्शों से बिल्कुल विपरीत हैं।

सातवीं सदी में, हर्ष के समय में, राजनैतिक और सांस्कृतिक, दोनों ही तरह की पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आजकल का उज्जैन) जो गुप्तों की विशाल राजधानी थी, फिर कला और संस्कृति और एक बलशाली राज्य का केन्द्र बनती है। लेकिन इसके बाद की सदियों में, यह भी कमजोर पड़ जाती है और इसका वैभव समाप्त हो जाता है। नवीं सदी में, गुजरात का मिहिरभोज छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान में एक केन्द्रीय राज्य स्थापित करता है और कर्नाज को अपनी राजधानी बनाता है। फिर एक साहित्यिक पुनर्जागृति होती है और इसका मुख्य पुरुष राजशेखर होता है। इसके बाद फिर ग्यारहवीं सदी के आरंभ में एक दूसरा भोज, जो बड़ा पराक्रमी और आकर्षक व्यक्ति है, सामने आता है, और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज एक बड़ा अदभुत मनुष्य था और इसने कई क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की थी। यह वैयाकरण था, कोषकार था, और इसकी दिलचस्पी भैषज और ज्योतिष में भी थी। यह बड़ी इमारतों का निर्माण करने वाला था, कला और साहित्य का संरक्षक भी था। यह स्वयं कवि और लेखक था और कई रचनाएं इसके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं।

इस समय दक्खिन हिंदुस्तान राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों हैसियतों से अधिक महत्त्व का बन गया। शायद इसका यह कारण रहा हो कि दक्खिन हिंदुस्तान आक्रमणकारियों के साथ बराबर लड़ाई में लगे रहने की मुसीबत और परेशानी से बचा रहा; शायद उत्तरी हिंदुस्तान की अव्यवस्था की दशा से बचने के लिए बहुत-से लेखक और कलाकार और बड़े-बड़े वास्तु-विशारद भागकर दक्खिन में जा बसे। दक्खिन के शक्तिशाली राज्यों ने, और उनके ज्ञानदार दरबारों ने लोगों को आकर्षित किया होगा, और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए यह अवसर दिया होगा, जो उन्हें दूसरी जगह नहीं मिलता था।

लेकिन यद्यपि उत्तरी हिंदुस्तान सारे हिंदुस्तान पर प्रभावशाली नहीं था, यहां का जीवन भरा-पूरा था, और संस्कृति के

से केन्द्र अब भी यहा बलवान थे। इस समय भी बनारस को
 दार्शनिक विचारों का गढ़ था, और प्रत्येक व्यक्ति, जो किसी नये
 द्वांत की या किसी पुराने सिद्धांत की नई व्याख्या को लेकर सामने
 आता, उसे अपने विचारों को मान्य कराने के लिए यहां आना पड़ता
 था। बहुत काल तक कश्मीर भी बौद्धों और ब्राह्मणों की संस्कृति और
 ज्ञान का बड़ा केन्द्र रहा है। बड़े-बड़े विद्यापीठ रहे हैं, जिनमें विहार
 का नालंदा सबसे प्रसिद्ध था, और यहां के विद्वानों का नारे हिंदुस्तान
 में आदर था। नालंदा में शिक्षा पाने वाले पर संस्कृति की एक छाप-
 सी लग जाती थी। इस विद्यापीठ में भरती होना सहज न था, क्योंकि
 इसमें वे ही लोग भरती हो सकते थे, जिन्होंने एक विशेष योग्यता प्राप्त
 कर ली हो। इसने स्नातकों को शिक्षा देने में विशेषता प्राप्त की थी
 और यहां चीन, जापान और तिब्बत तक से विद्यार्थी आते थे, बल्कि
 कहा जाता है कि कोरिया, मंगोलिया और बुखारा से भी। धार्मिक
 और दार्शनिक विषयों के अलावा, जो बौद्धमत और ब्राह्मण मत दोनों
 ही के अनुसार पढ़ाए जाते थे, दुनिया की और व्यावहारिक विषयों
 की भी शिक्षा दी जाती थी। कला और स्याप्त्य की शिक्षा के विभाग
 थे; वैद्यक का एक विद्यालय था; कृषि का विभाग था; गोधन और
 पशुओं का विभाग था। और यहां के बौद्धिक जीवन के बारे में क
 जाता है कि बराबर जोरदार वाद-विवाद होते थे और मीमांसा चल
 रहती थी। हिंदुस्तानी संस्कृति का विदेशों में प्रचार अधिकतर ना
 के विद्वानों का काम रहा है। इसके अतिरिक्त विक्रमशिला का वि
 पीठ था, जो विहार में ही, आजकल के भागलपुर के पास थी,
 काठियावाड़ में बल्लभी था। गुप्तों के जमाने में उज्जयिनी के वि
 पीठ की प्रतिष्ठा हुई। दक्खिन में अमरावती का विद्यापीठ था
 फिर भी ज्यों-ये हजार वर्ष समाप्त होने पर आते हैं, य
 कुछ संस्कृति की तिपहरी जैसा लगता है। तबरे की आभा बहु
 समाप्त हो चुकी थी, और दुपहरी भी बीत गई थी। दक्खिन
 भी कुछ दम और जोर शेष था, और यह कुछ सदियों तक आ
 रहा। देश से बाहर हिंदुस्तान के उपनिवेशों में उत्साही
 पूरा जीवन पांच सौ वर्षों तक और बना रहा। लेकिन ऐसा
 है कि हृदय मंद हो रहा था, उत्तरी घड़कनें धीमी पड़ र
 धीरे-धीरे उसकी क्षितिजता और श्रंगों में भी फैल रही थ
 रानी में होने वाले शंकर के बाद दर्शन के मैदान में कोई
 नहीं हुआ, यद्यपि टीकाकारों की व्याख्या करने वालों

सिलसिला मिलता है। शंकर भी दक्खिन हिंदुस्तान के थे। बौद्धिक साहस और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्क और अनुर्वर वाद-विवाद ले लेते हैं। ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म दोनों का ह्रास दिखाई देता है, और पूजा के गिरे हुए रूप सामने आते हैं, विशेषकर तांत्रिक पूजा और योग के कुछ विकृत रूप।

साहित्य में भवभूति (आठवीं सदी) अंतिम बड़ा व्यक्ति है। बहुत-सी पुस्तकें इसके बाद भी लिखी जाती रहीं, लेकिन शैली जटिल और बनावटी होती गई। गणित में भास्कर द्वितीय (बारहवीं सदी) अंतिम बड़ा नाम है। सातवीं-आठवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक हिंदुस्तानी कला का ऊंचा काल रहा है, यह विचार कहां तक सही है, मैं नहीं जानता, लेकिन मेरा खयाल है कि कला के मैदान में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ही, उत्तरी हिंदुस्तान की अपेक्षा पुरानी परंपरा अधिक काल तक बनी रही।

उपनिवेशों को बसाने वाला अंतिम बड़ा गिरोह दक्खिन हिंदुस्तान से नवीं सदी में गया था, लेकिन चोल-वंशियों की समुद्री शक्ति ग्यारहवीं सदी तक बनी रही, जबकि उन्हें श्रीविजय ने हराया और परास्त किया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदुस्तान शुष्क हो रहा था और अपनी रचनात्मक शक्ति और प्रतिभा खो रहा था। हिंदुस्तान का फैला हुआ अर्थ-तंत्र समाप्त हो चुका था और सिकुड़ने लगा था। शायद यह हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन के बढ़ते हुए कट्टरपन और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति का परिणाम था और इसकी तह में यहां की वर्ण-व्यवस्था थी। जहां-जहां हिंदुस्तानी विदेशों में पहुंचे थे, जैसे दक्खिन-पूरबी एशिया में, वहां-वहां उनके मस्तिष्क में, रीति-रिवाजों में और अर्थ-तंत्र में वह कड़ापन नहीं आया था और विकास और फैलाव के उनके सामने असंवर थे। इससे चार-पांच सदी बाद तक वे इन नौ-आवादियों में पनपे और उन्होंने स्फूर्ति और रचनात्मक शक्ति दिखाई लेकिन स्वयं हिंदुस्तान में अलग-थलग रहने की भावना ने उनकी रचनात्मक शक्ति को खोखला कर दिया और उनमें लो-खयाली, गुटबंदी और संकुचित दृष्टिकोण पैदा हो गया। जीवन के तरह टुकड़े-टुकड़े में बंट और बंध गया, कि हर एक व्यक्ति को निश्चित हो गया और सदा-सदा के लिए बन गया और दूसरों से बहुत कम रह गया। क्षत्रियों का काम देण करना रह गया और इस काम में दूसरों की या तो दि

ई थी या उन्हें इसके लिए आज्ञा न थी । ब्राह्मण और क्षत्रिय वनिज-
यापार करने वालों को नीची नज़र से देखने लगे । नीची जातवालों
को शिक्षा और उन्नति के अवसरों से वंचित रखा गया, और उन्हें अपने
से ऊंची जातवालों के अधीन रहना सिखलाया गया । बावजूद इसके
कि शहरी अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों ने खासी उन्नति कर ली थी,
राज्य का संगठन बहुत कुछ सामंतवादी था । शायद मुद्रकला में भी
हिंदुस्तान पिछड़ गया था । इन हालातों में, जब तक कि सारे ढांचे को
न पलट दिया जाए और जड़ित और योग्यता के नये स्रोत न खोल दिए
जाएं, उन्नति असंभव थी । जात-पात के बंधनों से इसमें रुकावट पड़ती
थी । इसने हिंदुस्तानी समाज में चाहे जो पायदारी या विशेषताएं
अदा की हों, स्वयं इसके अंदर इसके विनाश के बीज मौजूद थे ।

नई समस्याएं

१ : अरब और मंगोल

जिस समय कि हर्ष उत्तरी हिंदुस्तान के एक वलशाली राज्य पर शासन कर रहा था, और चीनी यात्री ह्वेनसांग नालंदा विद्यापीठ में पढ़ रहा था, उस समय इस्लाम अरब में अपना रूप धारण कर रहा था। इस्लाम ने हिंदुस्तान में एक धार्मिक और राजनैतिक शक्ति के रूप में आकर बहुत-से नये मसले खड़े किए, लेकिन यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान की परिस्थिति में अंतर ले आने में उसे बहुत समय लग गया। हिंदुस्तान पहुंचने में उसे लगभग छः सदियां लग गईं, और जब वह यहां पहुंचा, उस वक्त यह स्वयं बहुत कुछ बदल चुका था। अरब वाले, जो अपने उत्साह की वाढ़ में, एक प्रबल शक्ति के साथ फैलकर, स्पेन से लेकर मंगोलिया की सरहदों तक विजयी के रूप में पहुंच गए थे और जिन्होंने इन प्रदेशों में अपनी शानदार संस्कृति पहुंचाई थी, खास हिंदुस्तान में न आए। वे पच्छिमोत्तरी किनारे तक पहुंचे और वहीं तक रह गए। अरबी-सभ्यता का क्रमशः ह्रास हुआ और मध्य पच्छिमी एशिया की तुर्की जातियां आगे आईं। यही तुर्क लोग थे और हिंदुस्तानी सरहद के अफगान थे, जो इस्लाम को हिंदुस्तान में एक राजनैतिक शक्ति की हैसियत से लाए।

यद्यपि अरब वालों ने दूर-दूर देशों पर विजय प्राप्त की थी, और वे विजय आसानी से कर सके थे, पर हिंदुस्तान में वे सबसे आगे न उस समय ही बढ़ सके न बाद में ही। क्या इसकी यह वजह हो सकती है कि हिंदुस्तान इस समय भी इतना काफी मजबूत था कि हमलावरों को रोक सके? संभवतः यह बात सही है, क्योंकि दूसरी तरह से उस बात को समझाया नहीं जा सकता कि इसके कई सदियों बाद तक क्यों दरअसल कोई दूसरा हमला न हुआ। हो सकता है कि कुछ अरब स्वयं अरबों के आपस के झगड़ों के कार

न्द्रीय शासन से सिध पृथक हो गया और एक स्वतंत्र मुसलमानी रियासत बन गया । लेकिन यद्यपि कोई आक्रमण न हुआ, फिर भी हिंदुस्तान और अरब के संबंध बढ़े, यात्री आने-जाने लगे, एलचियों का अदला-बदला हुआ और हिंदुस्तान की पुस्तकें, विशेषकर गणित और ज्योतिष की, बगदाद पहुंचीं और उनके अरबी अनुवाद हुए । बहुत-से हिंदुस्तानी वैद्य बगदाद गए । ये व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध केवल उत्तरी हिंदुस्तान से नहीं स्थापित हुए इसमें हिंदुस्तान की दक्खिनी रियासतें भी शरीक हुईं, विशेषकर राष्ट्रकूट, जो हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट से व्यापार किया करती थी ।

इस लगातार संबंध के कारण हिंदुस्तानियों का इस नये धर्म, इस्लाम, से परिचित हो जाना अनिवार्य था । इस नये धर्म को फैलाने के लिए प्रचारक भी आए और उनका स्वागत भी हुआ । मसजिदें बनाई गईं । इसपर न तो शासन ने, न जनता ने कोई आपत्ति की, और न किसी तरह के धार्मिक दंगे हुए । हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा यह थी कि सभी धर्मों और पूजा के सभी तरीकों के साथ सहिष्णुता बरती जाए । इस तरह इस्लाम हिंदुस्तान में राजनैतिक शक्ति की हैसियत से आने से सदियों पहले धर्म की हैसियत से आ चुका था ।

उमैया खलीफाओं के शासन में जो अरबी साम्राज्य स्थापित हुआ उसकी राजधानी दमिश्क थी और यह एक विशाल शहर बन गया लेकिन जल्द ही, ७५० ई० के लगभग अब्बासिया खलीफाओं ने बगदाद को राजधानी बना लिया । भीतरी झगड़े पैदा हुए और स्पेन केन्द्रीय शासन से अलग हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक फिर भी एक स्वतंत्र अरबी राज्य बना रहा । क्रमशः बगदाद की सल्तनत भी कमजोर प और कई छोटी-छोटी रियासतों में बंट गई और मध्य एशिया से सेजूक तुर्कों ने आकर बगदाद में राजनैतिक शक्ति स्थापित कर यद्यपि खलीफा अब भी बना रहा । अफगानिस्तान में सुल्तान महमूद नाम का एक तुर्क उठा खड़ा हुआ जो बड़ा अच्छा सिंहा और फौजी कप्तान था । उसने खलीफाओं की कुछ परवाह न बल्कि उन्हें ताने देता रहा । लेकिन फिर भी बगदाद इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा और दूर का स्पेन भी अपनी प्रेरणा लिए उसका मुंह देखता । उस समय यूरोप विद्या, विज्ञान, कला जीवन की सुविधाओं में पिछड़ा हुआ था । यह अरबी स्पेन या खास तौर पर कार्डोवा का विश्वविद्यालय था जिसने कि यूरोप उस सारे अंधकार-युग में ज्ञान और जिज्ञासा का दीपक जगाए

और उसके प्रकाश ने यूरोपीय अंधकार को कुछ हद तक दूर किया।

ईसाइयों के मुसलमानों के खिलाफ धर्म-युद्ध (क्रूसेड) १०९५ ई० में आरंभ हुए और लगभग डेढ़ सदी तक चलते रहे।

अंतिम धर्म युद्ध (क्रूसेड) के गौरवहीन ढंग से समाप्त होने से पहले ही बीच एशिया में कुछ तूफानी और तहलका मचा देने वाली घटनाएं घटीं। चंगेज खां ने बरबादी ढहाने वाला अपना धावा पच्छिम की ओर आरंभ कर दिया। इसका जन्म मंगोलिया में ११५५ ई० में हुआ था और १२१९ में उसने अपना यह बड़ा धावा आरंभ किया जिसने मध्य एशिया को एक दहकते हुए वीराने में बदल दिया। उस समय वह कोई अल्हड़ नौजवान न था। बुखारा, समरकंद, हेरात, और बल्ख, ये आलीशान शहर, जिनमें से हर एक की आबादी दस लाख से अधिक थी, जलाकर खाक कर दिए गए। चंगेज रूस में कीव तक गया, फिर लौट आया। चूंकि बगदाद उसके रास्ते में नहीं पड़ता था, इसलिए वह किसी तरह बच गया। १२२७ में, ७२ साल की अवस्था पाकर वह मरा। उसके उत्तराधिकारी और आगे यूरोप तक पहुंचे और १२५८ में हलाकू ने बगदाद पर अधिकार किया और विद्या और कला के एक प्रसिद्ध केन्द्र का, जहां कि पांच सौ बरसों से दुनिया के हर एक हिस्से से आकर खजाने इकट्ठे हुए थे, अंत कर दिया। इसने एशिया में अरब और ईरान की मिली-जुली विशेष सभ्यता को बड़ा धक्का पहुंचाया, यद्यपि यह सभ्यता मंगोलियों के जमाने में भी जीवित रही—विशेषकर उत्तरी अफ्रीका और स्पेन में। आलिमों के दल के दल अपने ग्रंथों को लिए हुए बगदाद से काहिरा और स्पेन पहुंचे और इन जगहों में कला और विद्या की एक नई जागृति हुई। लेकिन स्वयं स्पेन अरब वालों के हाथ से खिसक रहा था और १२३६ ई० में कार्डोवा का पतन हो चुका था। इसके बाद और ढाई सदियों तक ग्रैनाडा का राज्य अरबी संस्कृति का उज्ज्वल केन्द्र बना रहा। १४९२ ई० में ग्रैनाडा भी फर्डिनेंड और इसाबेला के हाथों में चला गया और स्पेन में अरबों हुकूमत का अंत हुआ। इसके बाद अरब वालों का मुख्य केन्द्र काहिरा बन गया, यद्यपि यह तुर्कों के अधिकार में आ गया। आटोमन तुर्कों ने १४५३ ई० में कुस्तंतुनिया को अधिकार में कर लिया और इस तरह उन शक्तियों को प्रस्तुत किया, जिन्होंने बाद में यूरोपीय नवजागरण को जन्म दिया।

एशिया और यूरोप में मंगोलों की यह विजय ~~यह विजय~~ एक नवीनता प्रस्तुत करती है। मंगोलों से, ~~मंगोलों से~~

और युद्ध की कला के बारे में, नये पाठ सीखे। इन मंगोलों के द्वारा
 अस्त्र का उपयोग भी, जो चीन की चीज थी, उन्होंने जाना।

मंगोल हिंदुस्तान में नहीं आए। वे सिंधु नदी तक आकर रुक
 गए और दूसरी जगहों पर जाकर उन्होंने विजयें प्राप्त कीं। जब उनकी
 सत्तनत समाप्त हुई, तो एशिया में कई छोटी-छोटी रियासतें स्थापित
 हुई, और फिर १३६६ ई० में, तैमूर ने, जो तुर्क था और मां की तरफ
 से चंगेज खां की आलाद होने का दावा करता था, चंगेज के कारनामों
 को दुहराने की कोशिश की। उसकी राजधानी, समरकंद, फिर एक
 सत्तनत का सदर मुकाम बनी, यद्यपि यह सत्तनत अधिक दिनों की
 नहीं थी। तैमूर की मृत्यु के बाद, उसके वारिसों की दिलचस्पी फौजी
 कारनामों में कम रही, बल्कि वे शांति का जीवन बसर करने और
 कलाओं को उन्नति देने में लगे रहे। मध्य एशिया में तैमूरियों के नाम
 पर प्रसिद्ध एक नई जागृति हुई और इस वातावरण में तैमूर के एक
 वंशज, बाबर, ने जन्म लिया और बड़ा हुआ। बाबर हिंदुस्तान में
 मुगल वंश का संस्थापक था; वह गानदार मुगलियों में पहला था।
 दिल्ली को उसने १५२६ में जीता।

चंगेज खां मुसलमान नहीं था, जैसा कि कुछ लोग इसलिए खयाल
 करते हैं कि उसका नाम इस्लाम से मिल-जुल गया है। कहा जाता है
 कि वह जामाई धर्म का मानने वाला था, जो एक आसमानी धर्म था।
 वह धर्म क्या था मैं नहीं जानता, लेकिन नाम से बरबस उस शब्द की
 ओर ध्यान जाता है जो अरब वालों ने बुद्धों के लिए दे रखा था, अर्थात्
 गामानी, जो संस्कृत 'अमण' से निकला है। उस जमाने में बौद्धधर्म
 के बिगड़े हुए रूप एशिया के भिन्न भागों में फैले हुए थे, और इन भागों
 में मंगोलिया भी था; और यह संभव है कि चंगेज खां इनके अंतर में
 गला हो। यह एक बड़ी अटपटी कल्पना है कि इतिहास का सबसे बड़ा
 सीजी विजेता शायद किसी तरह का बौद्ध था!

२ : अरबी सभ्यता : हिंदुस्तान से सम्पर्क

आठवीं और नवीं सदियों के अरब वालों में बड़े भारके की वृद्धि
 ज्ञानात्ता, विवेकपूर्ण चिंतन और वैज्ञानिक ज्ञान की भावना मिल
 है। अरब यात्री दूर मुल्कों में यह जानने और समझने के लिए जाते
 थे वहां के लोग क्या कर-धर या विचार रहे हैं और उनके दर्श
 वैज्ञान और रहस्य-सहन का क्या रखा है। बाहर से विद्वान बुला

बगदाद में लाए गए, और पुस्तकें मंगाई गईं और खलीफा अल-मंसूर (आठवीं सदी के बीच में) ने शोध और तर्जुमे के इंदारे कायम किए, जहां यूनानी, सिरियन, जेद, लातीनी और संस्कृत से तर्जुमे किए जाते थे। सीरिया, एशिया माइनर और लेवांट के पुराने मठों की पांडुलिपियों के पाने के लिए खूब छानबीन हुई। ईसाई पादरियों ने सिकंदरिया के पुराने विद्यालय को बंद कर दिया था और वहां के विद्वानों को निकाल दिया था। इनमें से बहुत-से देश-निकाले लोग ईरान और दूसरी जगहों में चले गए थे। अब उन्हें बगदाद में पनाह मिली और वे अपने साथ यूनानी दर्शन और विज्ञान और गणित ले आए—अर्थात् अफलातून और अरस्तू, बतलीमूसी और उक्नैदिस ने वहां के लोगों का परिचय कराया। वहां पर नस्तूरी और बहूदी विद्वान और हिंदुस्तानी वैद्य, दार्शनिक और गणितज्ञ मौजूद थे। यह हालत हासं रशीद और अल-मामून (आठवीं और नवीं सदियों में) के जमाने तक चलती रही और उन्नति करती रही, और बगदाद सभ्य दुनिया के विद्वानों का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। इन काल में हिंदुस्तान से इसके बहुत-से संपर्क रहे और अरब वालों ने हिंदुस्तानी गणित, ज्योतिष और औषध-विद्या से बहुत कुछ प्राप्त किया।

बगदाद में, हिंदुस्तानी विद्या और विज्ञान के पढ़ने को, शक्तिशाली वरमक घराने वालों ने, जिनमें से हासं रशीद के बज्जीर होते रहे, बड़ा प्रोत्साहन दिया। यह घराना जायद पहले बौद्धधर्म का मानने वाला था और इसके बाद इसने धर्म बदल दिया था। हासं रशीद की किसी बीमारी के अवसर पर मणक नाम का एक वैद्य हिंदुस्तान से बुलाया गया। मणक बगदाद में बस गया और एक बड़े अस्पताल का व्यवस्थापक बना दिया गया। अरबी लेखकों का कहना है कि मणक के अतिरिक्त उस समय बगदाद में छः और हिंदुस्तानी वैद्य रहा करते थे। ज्योतिष में अरबों ने हिंदुस्तानियों और सिकंदरिया वालों, दोनों से आगे उन्नति की और दो नाम उनके यहां मशहूर हैं—अल-ख्वारिज्मी, जो नवीं सदी का गणितज्ञ और नज्मी था, और उमर खय्याम, जो बारहवीं सदी में कवि और नज्मी दोनों हस्तियतों से मशहूर हुआ। औषध-शास्त्र में अरब चिकित्सक और जराह एशिया और यूरोप में प्रसिद्ध थे। इनमें से सबसे प्रसिद्ध बुखारा का इब्नसीना था, जो हकीमों का बादशाह कहलाया है। उसकी मृत्यु १०३७ ई० में हुई। अरब विचारकों और दार्शनिकों में एक बड़ा नाम अबू नवल फाराबी का है। दर्शन में हिंदुस्तान का प्रभाव अधिक नहीं हुआ जान पड़ता। दर्शन

नाम नहीं, उनके राजाओं जैसे दूसरे राजा नहीं और उनके
जैसा दूसरों का विज्ञान नहीं।" शायद यह लोगों के विचार
कुछ सही वयान है।

महमूद विजेता की हँसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत
क सरहद्दी सूबा बन गया। फिर भी जब वह वहाँ शासक बन बैठा,
उसके पहले के तरीकों को दूर करने और कुछ हद तक सूबे के लोगों
खुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब
ना दखल नहीं दिया जाता था, और फौज में और हुकूमत में ऊँचे-
चे ओहदों पर हिंदू नियत किए जाने लगे थे। महमूद के जमाने में
स प्रवृत्ति का आरंभ ही हो पाया था, बाद में इसने और तरकी की।

महमूद १०३० ई० में मरा। उसकी मृत्यु के बाद एक साँ आठ
से अधिक वर्ष तक कोई दूसरा आक्रमण न हुआ और न तुर्क शासन
पंजाब से आगे बढ़ा। इसके बाद, शहाबुद्दीन गोरी नाम के एक अफगान
ने गजनी पर अधिकार कर लिया और गजनवियों की सल्तनत का
अंत हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया, फिर दिल्ली पर, लेकिन
दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया।
शहाबुद्दीन अफगानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक
नई फौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और
११९२ में वह दिल्ली के तख्त पर बैठा।

दिल्ली की इस विजय का यह अर्थ नहीं था कि सारा हिंदुस्तान
विजित हो गया। चोल वंश दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और
दूसरे स्वतंत्र राज्य भी थे। अफगानों को दक्खिन हिंदुस्तान के अधि-
भाग में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी लग गई। ले-
दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मारके की बात थी और नई व्यव-
का यह एक प्रतीक था।

४ : हिंदी-अफ़गान : दक्खिन हिंदुस्तान विजयनगर : बाबर : समुद्री श

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेजों ने और कुछ हिंदुस्तानी
कारों ने भी तीन बड़े हिस्सों में बांटा है—प्राचीन या हिंदू,
और अंग्रेजी काल। यह बंटवारा न बुद्धियुक्त है और न सही
धोखा होता है और यह हमारे सामने एक भ्रांतिपूर्ण चित्र प्र-
स्तुत करता है। हमें ऊपर के वर्गों के कुछ महती परिवर्तनों का खयाल

है, वजाय इसके कि हिंदुस्तानियों के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की खास-खास तब्दीलियों का खयाल किया जाता। तथाकथित प्राचीन काल बड़ा विशाल है और परिवर्तनों से भरा हुआ है; उन्नति, ह्रास और फिर बराबर उन्नति का क्रम चलता है। जिसे मुस्लिम-काल या मध्ययुग कहते हैं, उसमें भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, फिर भी यह ऊपर के लोगों तक सीमित था। इसने हिंदुस्तानी जीवन के मुख्य क्रम पर अधिक प्रभाव नहीं डाला। वे आक्रमणकारी जो हिंदुस्तान में पच्छिमोत्तर से आए, अधिक प्राचीन काल में आने वाले दूसरे आक्रमणकारियों की तरह हिंदुस्तान में समाविष्ट हो गए और उसके हो रहे। उनके वंश हिंदुस्तानी वंश कहलाए और आपस के शादी-व्याह के कारण जातियों का बहुत कुछ मेल-जोल हो गया। कुछ अपवादों को छोड़कर हमें जान-बूझकर इस बात की कोशिश की गई जान पड़ती है कि आम लोगों के रीति-रिवाजों और तरीकों से छेड़-छाड़ न की जाए। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना देश समझा और हिंदुस्तान के बाहर उनके कोई दूसरे लगाव न थे। हिंदुस्तान एक स्वतंत्र मुल्क बना रहा।

अंग्रेजों के आने ने एक बड़ा अंतर ला दिया, और पुरानी प्रथा बहुत कुछ जड़ से उखड़ चली। वे पच्छिम से एक विल्कुल नई प्रेरणा लाए, जो यूरोप में पुनर्जागृति (रेनेमां), सुधार (रिफॉर्मेशन) और इंग्लिस्तान की राजनैतिक क्रांति के समय से क्रमशः उन्नति कर रही थी और औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन) के आरंभ में जिसकी रूपरेखा बन रही थी। अमरीका और फ्रांस की क्रांतियों ने इसे और आगे बढ़ाया। अंग्रेज बाहरी, विदेशी और हिंदुस्तान में वेमेल बने रहे और कुछ और होने की उन्होंने कोशिश न की। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हिंदुस्तान के इतिहास में पहली बार उसका राजनैतिक नियंत्रण बाहर से लगाया गया और उसके अर्थतंत्र का केन्द्र एक दूर देश में रहा। उन्होंने हिंदुस्तान को आधुनिक युग के एक उपनिवेश की तरह समझा और हिंदुस्तान अपने लंबे इतिहास में पहली बार एक गुलाम देश बना।

में लंबे सदियों तक अफगानिस्तान रहा है और उसे ऐसा होना ही था। उसकी भाषा पश्तोनी है और संस्कृत से निकली है। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर बहुत गहरे ऐसी हैं जहां कि हिंदुस्तानी संस्कृति की प्राचीन यादगारें खडहर, विशेषकर बौद्धकाल के, इतनी बहुतायत से हैं, जितने अफगानिस्तान में हैं। अधिक ठीक यह होगा कि अफगान लोग

अफगानिस्तान में हैं।
आरंभ में उनका व्यवहार ऐसा रहा जैसा कि विजेताओं का विद्रोही गों के साथ होता है, बानी कड़ा और बेरहमी का। लेकिन जल्द ही नरम पड़ गए। हिंदुस्तान उनका घर बन गया और दिल्ली उनके राजधानी रही। अफगानिस्तान, जहां से वे आए थे, उनके राज्य के ठोरे के बदन एक हिस्से की हैसियत रखता था। हिंदुस्तानी बनने की क्रिया तेजी से चली और उनमें से बहुतों ने इस देश की स्त्रियों से व्याह कर लिए। उनके बड़े चुल्लानों में से एक, अलाउद्दीन खिलजी, ने एक हिंदू स्त्री के साथ व्याह किया, और इसी तरह उसके बेटे ने भी।

दिल्ली की सल्तनत दक्खिन की तरफ फैली। चोल राज्य का हान हो रहा था, लेकिन उसकी जगह पर एक नई समुद्री शक्ति उठ खड़ी हुई थी। यह पांड्य राज की थी। इसकी राजधानी मदुरा में थी और इनका बंदरगाह पूरबी तट पर कयाल था। यह एक छोटा-सा राज्य था, लेकिन यहां व्यापार की एक बड़ी मंडी थी। चीन से वापस आते हुए मार्को पोलो यहां दो बार रुका था, सन् १२६८ में और फिर १२६९ में; और उसने इसे 'एक बड़ा विशाल नगर' बताया है, जहां अरब और चीन के जहाजों का जमवट रहता था। वह बहुत बारी मलमल की भी चर्चा करता है जिनके तार मकड़ी के जालों जैसे लगे थे और जो हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र-तट पर तैयार किया जाता था।

चांदहवीं सदी के शुरू में दो बड़े राज्य स्थापित हुए थे—गुल जो बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध है और विजयनगर का हिंदू राज्य दक्खिन के बहमनी राज्य का आरंभ और नामकरण दिलचस्प है। राज्य की स्थापना करने वाला एक अफगान मुसलमान था। शुरू के दिनों में गंगू ब्राह्मण नाम का एक संरक्षक था। उसकी को स्वीकार करते हुए इनने अपने खानदान का नाम बहमनी से) खानदान रखा। गुलबर्ग अब पांच रियासतों में बंट गया तो एक अहमदनगर था। अहमद निजाम गाह, जिसने १४६० में नगर कायम किया, बहमनी राजाओं के वजीर निजामुल

अधिकार कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो कि तुर्क मंगोल था, और मध्य एशिया के तैमूरिया खानदान का था। उसीसे हिंदुस्तान की मुगल सल्तनत का आरंभ होता है।

बाबर की सफलता का कारण शायद दिल्ली की सल्तनत की कमजोरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी था कि उसके पास एक नया तोप-खाना था, जैसा कि उस समय हिंदुस्तान में प्रयोग में नहीं आया था। इस समय से आगे हिंदुस्तान युद्ध के विज्ञान की तरक्की करने में पिछड़ता जाता है। यह कहना अधिक सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान में जहां का तहां बना रहा जबकि यूरोप ने इसमें बराबर उन्नति की। महान मुगल साम्राज्य (यद्यपि हिंदुस्तान में दो सौ साल तक यह शक्ति-शाली बना रहा) शायद सत्रहवीं सदी के बाद यूरोपीय फांजों के साथ बराबर के मुकाबले में ठहर न सकता था। लेकिन जब तक कि समुद्री रास्ते पर काबू न हो, कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुंच नहीं सकती थी। जो बड़ा परिवर्तन इन सदियों में होता रहा था, वह यह था कि यूरोप के लोग समुद्री शक्ति में उन्नति कर रहे थे। दक्खिन में, तेरहवीं सदी में, चोल राज्य के गिरने के बाद, हिंदुस्तान की समुद्री शक्ति तेजी से घटी। पांड्य के छोटे-से राज्य का समुद्र से संबंध होते हुए भी वह बहुत सुदृढ़ न था। हिंदुस्तान के उपनिवेशों का समुद्र पर प्रभाव फिर भी, पंद्रहवीं सदी तक बना रहा, और उस समय अरब वालों ने उनसे बाजी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियों ने।

५ : मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन्वय परदा : कबीर : नानक : अमीर खुसरो

चाहे अपनी खुशी से उन्होंने ऐसा किया हो, चाहे परिस्थिति ने उन्हें विवश किया हो, अफगान शासक और उनके साथ आने वाले लोग हिंदुस्तान में समा गए। उनके खानदान पूरी तौर पर हिंदुस्तानी हो गए और उनकी जड़ें हिंदुस्तान में फैलीं। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना घर समझा और शेष दुनिया को विदेश माना। बावजूद राजनैतिक झगड़ों के, उन्हें लोगों ने भी ऐसा ही मान लिया, और बहुत-से राजपूत राजाओं तक ने उन्हें अपना शासक समझा। लेकिन और राजपूत सरदार भी थे, जिन्होंने उनका मातहत होने से इनकार भी किया और भयानक लड़ाइयां भी हुईं। दिल्ली के प्रसिद्ध सुल्तान फीरोजशाह की मां हिंदू औरत थी; इसी तरह गयासुद्दीन तुगलक की मां भी। अफगान,

तुर्क और हिंदू उमरावों में इस तरह की शादियां आम नहीं थीं, लेकिन फिर भी होती थीं। दक्खिन में गुलबर्ग के एक मुसलमान शासक ने विजयनगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बड़ी धूमधाम के साथ व्याह किया था।

हिंदुस्तान और हिंदूधर्म पर अफगानों की विजय के दो प्रभाव पड़े और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। तत्काल जो प्रभाव पड़ा, वह यह था कि बहुत-से लोग दक्खिन में चले गए और अफगान शासक के प्रदेशों से दूर हो रहे। जो बच रहे, वे और कट्टर बन गए और अलग-थलग रहने लगे; अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके विदेशी ढंगों और प्रभावों से अपने को बचाने की चिंता में लगे। दूसरी ओर विचार और जीवन के इन विदेशी ढंगों की ओर लोगों का क्रमशः और अनायास रुझान पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं; खाना-कपड़ा बदला और बहुत तरह के अंतर रहन-सहन में पैदा हो गए। यह समन्वय संगीत में विशेषकर प्रकट था, जिसने पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढांचे को बनाए रखते हुए अनेक दिशाओं में उन्नति की। फारसी भाषा सरकारी दरबार की भाषा बन गई और बहुत-से फारसी शब्द साधारण प्रयोग में आने लगे। साथ ही साथ एक आम भाषा को भी प्रोत्साहन मिला।

हिंदुस्तान में जो बुरी बातें पैदा हुईं, उनमें से एक परदे के रिवाज की तरक्की थी। ऐसा क्योंकिर हुआ यह साफ नहीं, लेकिन आने वालों की पुराने लोगों पर होने वाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा जरूर था। हिंदुस्तान में, इससे पूर्व मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग जरूर रहते थे, जैनाकि और देशों में भी, विशेषकर यूनान में था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज ईरान में भी था, बल्कि सारे पच्छिमी एशिया में था; लेकिन कहीं भी सख्त किस्म का परदा नहीं होता था। जो अफगान उत्तरी हिंदुस्तान में दिल्ली की फतह के बाद आए, उनके यहां परदे की कड़ी पाबंदी न होती थी। तुर्की और अफगान शहजादियां और वेगमें अवसर घोड़े की सवारी, शिकार और मेल-मुलाकात के लिए निकला करती थीं। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज है, जिसकी पाबंदी अब भी होती है, कि हज के सफर में उन्हें अपने चेहरों को खुला रखना चाहिए। मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की उन्नति हिंदुस्तान में मुगलों के जमाने में हुई, जब इसे हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों में, पद और शक्ति की निशानी समझा जाने लगा। पर

कार कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो कि तुर्क मंगोल था, मध्य एशिया के तैमूरिया खानदान का था। उसीसे हिंदुस्तान मुगल सल्तनत का आरंभ होता है।

बाबर की सफलता का कारण शायद दिल्ली की सल्तनत की मजबूरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी था कि उसके पास एक नया तोप-ताना था, जैसा कि उस समय हिंदुस्तान में प्रयोग में नहीं आया था। उस समय से आगे हिंदुस्तान युद्ध के विज्ञान की तरक्की करने में पिछड़ता जाता है। यह कहना अधिक सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान में जहां का तहां बना रहा जबकि यूरोप ने इसमें बराबर उन्नति की। महान मुगल साम्राज्य (यद्यपि हिंदुस्तान में दो सौ साल तक यह शक्ति-शाली बना रहा) शायद सत्रहवीं सदी के बाद यूरोपीय फौजों के साथ बराबर के मुकाबले में ठहर न सकता था। लेकिन जब तक कि समुद्री रास्ते पर काबू न हो, कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुंच नहीं सकती थी। जो बड़ा परिवर्तन इन सदियों में होता रहा था, वह यह था कि यूरोप के लोग समुद्री शक्ति में उन्नति कर रहे थे। दक्खिन में तेरहवीं सदी में, चोल राज्य के गिरने के बाद, हिंदुस्तान की समुद्री शक्ति तेजी से घटी। पांड्य के छोटे-मे राज्य का समुद्र से संबंध होते हुए भी वह बहुत सुदृढ़ न था। हिंदुस्तान के उपनिवेशों का समुद्र पर प्रभाव फेर भी, पंद्रहवीं सदी तक बना रहा, और उस समय अरब वालों उनसे बाजी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियों ने।

५ : मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन-परदा : कबीर : नानक : अमीर खुसरौ

चाहे अपनी खुशी से उन्होंने ऐसा किया हो, चाहे परितो उन्हें विवश किया हो, अफगान शासक और उनके साथ आ लोग हिंदुस्तान में समा गए। उनके खानदान पूरी तौर पर हि हो गए और उनकी जड़ें हिंदुस्तान में फैलीं। उन्होंने हिंदुस्तान व शराबों के, उन्हें लोगों ने भी ऐसा ही मान लिया, और बहुत-राजाओं तक ने उन्हें अपना शासक समझा। लेकिन और सरदार भी थे, जिन्होंने उनका मातहत होने से इनकार भी भयानक लड़ाइयां भी हुईं। दिल्ली के प्रसिद्ध सुल्तान फौ मां हिंदू औरत थी; इसी तरह गयासुद्दीन तुगलक की मां भी

तुर्क और हिंदू उमरावों में इस तरह की शादियां आम नहीं थीं, लेकिन फिर भी होती थीं। दक्खिन में गुलबर्ग के एक मुसलमान शासक ने विजयनगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बड़ी धूमधाम के साथ व्याह किया था।

हिंदुस्तान और हिंदूधर्म पर अफगानों की विजय के दो प्रभाव पड़े और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। तत्काल जो प्रभाव पड़ा, वह यह था कि बहुत-से लोग दक्खिन में चले गए और अफगान शासक के प्रदेशों से दूर हो रहे। जो बच रहे, वे और कट्टर बन गए और अलग-थलग रहने लगे; अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके विदेशी ढंगों और प्रभावों से अपने को बचाने की चिंता में लगे। दूसरी ओर विचार और जीवन के इन विदेशी ढंगों की ओर लोगों का क्रमशः और अनायास रूझान पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं; खाना-कपड़ा बदला और बहुत तरह के अंतर रहन-सहन में पैदा हो गए। यह समन्वय संगीत में विशेषकर प्रकट था, जिसने पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढांचे को बनाए रखते हुए अनेक दिशाओं में उन्नति की। फारसी भाषा सरकारी दरबार की भाषा बन गई और बहुत-से फारसी शब्द साधारण प्रयोग में आने लगे। साथ ही साथ एक आम भाषा को भी प्रोत्साहन मिला।

हिंदुस्तान में जो बुरी बातें पैदा हुईं, उनमें से एक परदे के रिवाज की तरक्की थी। ऐसा क्योंकि हुआ यह साफ नहीं, लेकिन आने वालों की पुराने लोगों पर होने वाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा जरूर था। हिंदुस्तान में, इससे पूर्व मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग जरूर रहते थे, जैसा कि और देशों में भी, विशेषकर यूनान में था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज ईरान में भी था, बल्कि सारे पच्छिमी एशिया में था; लेकिन कहीं भी सख्त किस्म का परदा नहीं होता था। जो अफगान उत्तरी हिंदुस्तान में दिल्ली की फतह के बाद आए, उनके यहां परदे की कड़ी पाबंदी न होती थी। तुर्की और अफगान शहजादियां और वेगमें अवसर घोड़े की सवारी, शिकार और मेल-मुलाकात के लिए निकला करती थीं। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज है, जिसकी पाबंदी अब भी होती है, कि हज के सफर में उन्हें अपने चेहरों को खुला रखना चाहिए। मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की उन्नति हिंदुस्तान में मुगलों के जमाने में हुई, जब इसे हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ही में, पद और इज्जत की निशानी समझा जाने लगा। परदे की प्रथा विशेषकर ऊंचे वर्ग के

सिखधर्म के संस्थापक माने जाते हैं। इन लोगों का असर उन मतों तक सीमित नहीं था जो इनके नाम पर प्रचलित हुए, बल्कि उससे कहीं अधिक विस्तृत था। सारे हिंदूधर्म पर इन नये विचारों का प्रभाव पड़ा और हिंदुस्तान का इस्लाम भी और जगहों के इस्लाम से भिन्न बन गया। इस्लाम के प्रबल एकेश्वरवाद का हिंदूधर्म पर प्रभाव पड़ा और हिंदुओं के बहुत-से देवी-देवताओं में विश्वास का कुछ असर हिंदुस्तानी मुसलमानों पर पड़े वगैर न रहा। हिंदुस्तानी मुसलमानों में से अधिक ऐसे थे जो नौ-मुस्लिम थे, और यहां की पुरानी परंपरा में पले थे, बाहर से आने वाले मुसलमान अपेक्षाकृत थोड़े थे। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफीमत की, जिसका आरंभ कदाचित् नये अफलातूनी मत से हुआ था, उन्नति हुई।

विदेशी लोगों के हिंदुस्तान में बराबर जड़व होने का सबसे मारके का पता इस बात से लगता है, कि मुल्क की आम भाषा को उन्होंने उठा लिया, यद्यपि फारसी दरबार की भाषा बनी रही। आरंभ के मुसलमानों की लिखी हुई हिंदी की कई प्रसिद्ध किताबें हैं। इन लिखने वालों में सबसे मशहूर खुसरो था, जो एक तुर्क था, और जिसका घराना उत्तर प्रदेश में दो-तीन पीढ़ियों से बस गया था। यह चौदहवीं सदी में हुआ और इसने कई अफगान सुल्तानों के जमाने देखे थे। फारसी का तो वह चोटी का शायर था; वह संस्कृत भी जानता था। वह बहुत बड़ा संगीतज्ञ भी था और हिंदुस्तानी संगीत में उसने कई नई बातें पैदा कीं। यह भी कहा जाता है कि हिंदुस्तान का आम-पसंद वाद्य-यंत्र सितार उसीका आविष्कार है। उसने बहुत-से विषयों पर लिखा है और विशेष रूप से हिंदुस्तान की प्रशंसा की है और यह बताया है कि किन-किन बातों में हिंदुस्तान बढ़ा हुआ है। इनमें धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र, भाषा और व्याकरण (संस्कृत), संगीत, गणित, विज्ञान और आम का फल बताए गए हैं !

लेकिन हिंदुस्तान में विशेषकर उसकी प्रसिद्धि का कारण उसके आमपसंद गीत हैं, जिन्हें उसने लोगों की आम जवान हिंदी में लिखा है। उसने जीवन के विविध पहलुओं पर गीत रचे हैं—दुल्हन के आने पर, प्रेमी के वियोग पर, वर्षा ऋतु पर, जबकि जली हुई धरती से नया जीवन फूट निकलता है। ये गीत अब भी दूर-दूर तक गाए जाते हैं और हम इन्हें उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के किसी भी गांव या शहर में सुन सकते हैं। अमीर खुसरो ने बहुत-सी पहेलियां भी रची हैं जो बच्चों और बड़ों, दोनों में ही बहुत चलती हैं।

हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन: वर्ग वर्ण

हिंदुस्तान के बारे में जो लोग भी कुछ जानते हैं, उन्होंने वर्ण-
 स्था का हाल सुन रखा है। 'वर्ण' या 'जात' शब्द के प्रयोग से कुछ
 त उत्पन्न होती है, क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग
 लगाते हैं। साधारण यूरोपीय या उसीके जैसे विचारों वाला हिंदु-
 ानी यह समझता है कि यह केवल वर्गों को अलग-अलग कर देना
 और इस बात की युक्ति है कि वर्गभेद बना रहे, ऊंचे वर्ग के लोग
 सदा-सदा के लिए चोटी पर बने चले आएँ और नीचे वर्ग के लोग सदा-सदा
 के लिए नीचे ही बने रहें। इस विचार में सचाई है और आरंभ में शायद
 यह इस बात की तरकीब थी कि आर्य विजेता उन लोगों से न मिलने-
 जुलने पाएँ जिन्हें उन्होंने हराया था। आरंभ में चाहे इस व्यवस्था में
 लचीलापन रहा हो, लेकिन जिस तरह इसने उन्नति की है, उससे
 निश्चय यही परिणाम निकलता है। लेकिन सचाई का यह केवल एक
 पक्ष है। और इससे यह पता नहीं चलता कि आखिर इस व्यवस्था में
 इतनी शक्ति और मजबूती क्योंकर रही कि यह आज तक चली आ रही
 है। इसने बौद्धधर्म को प्रबल टक्कर को झेल लिया और अफगा
 और मुगल शासन और इस्लाम के प्रसार को कई सदियों ही न
 र्खीं, बल्कि अनगिनत हिंदू सुधारकों के, जिन्होंने इसके विरुद्ध अप
 आवाजें बुलंद कीं, वार सहे। यह तो केवल आजकल ऐसा हुआ है
 इसकी बुनियाद पर ही हमला हो रहा है और इसका अस्तित्व
 जोखिम में है। इसका कारण विशेषकर हिंदू समाज में उपजी हुई
 प्रबल प्रेरणा नहीं है, यद्यपि निश्चय ही ऐसी प्रेरणा मौजूद है; न
 कारण है कि पच्छिमी विचार हमारे बीच में आ गए हैं, यद्यपि
 विचारों ने अवश्य अपना प्रभाव डाला है। जो परिवर्तन हमारी
 के सामने हो रहे हैं, उनका कारण मुख्यतया यह है कि य
 आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी समाज के सारे ढाँचे को हिला
 और संभव है कि उसे पूरी तरह से उलट-पलट दें। एक तरफ
 हिंदू विचार जो वर्ग या गिरोह संगठन की बुनियादी इकाई
 तरफ पच्छिम का विचार है जो बहुत अधिक व्यक्तिवाद पर
 है—जो व्यक्ति को वर्ग से ऊपर रखता है।
 यह संघर्ष हिंदुस्तान की ही विशेषता नहीं है; यह प
 और सारी दुनिया में चल रहा है, यद्यपि वहाँ इसने दूस
 किए हैं। अब वर्ग और समाज के महत्त्व पर ज्यादा जो

लगा है और सवाल यह पैदा हो गया है कि व्यक्ति और वर्ग के पक्षों के बीच समझौता कैसे कराया जाए। इस समस्या का हल अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप ले सकता है, फिर भी रुझान इस ओर है कि बुनियादी हल प्राप्त किया जाए, जो सबपर एक प्रकार से लागू हो।

सर जार्ज वर्डउड ने कहीं पर कहा है—“जब तक हिंदू अपनी वर्ण-व्यवस्था को कायम रखते हैं, तब तक हिंदुस्तान हिंदुस्तान बना रहेगा लेकिन जिस दिन उन्होंने इसे छोड़ा, उस दिन से हिंदुस्तान न रह जाएगा।” एक विशाल और पुराने सामाजिक संगठन के टूटने पर सामाजिक जीवन पूरी तौर पर तितर-बितर हो सकता है और सारे के सारे लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ सकता है और व्यक्तियों के आचरण बड़े पैमाने पर विकृत रूप ले सकते हैं—अगर कोई दूसरा सामाजिक ढांचा, जो जनता की प्रतिभा के अनुकूल हो उसकी जगह पर नहीं आ जाता।

फिर भी, हम एक व्यवस्था को केवल तोड़कर इस आशा में नहीं बैठे रह सकते कि कुछ अच्छा ही होगा; हमें उस भविष्य की, जिसके लिए कि हम काम कर रहे हैं, कोई कल्पना—वह अस्पष्ट कल्पना ही क्यों न हो—रखनी चाहिए। हम जगह खाली छोड़कर ही नहीं बैठ सकते, नहीं तो यह खाली जगह, संभव है, इस तरह भर जाए कि हमें पछताना पड़े। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने उस पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन को जानने और समझने की कोशिश करें, जिसने लोगों पर इतना जबरदस्त प्रभाव डाला है।

इस संगठन की नींव तीन विचारों पर थी—स्वतंत्र देहाती समाज, वर्ण-व्यवस्था और संयुक्त कुटुंब। इन तीनों में ही वर्ग को बढ़ाई दी गई है; व्यक्ति की जगह दूसरे दर्जे पर है। अलग-अलग इनमें से किसी विचार में बहुत अनोखापन नहीं, और इनमें से तीनों की बराबरी की व्यवस्थाएं हमें दूसरे देशों में भी मिल जाएंगी, विशेषकर मध्ययुग में। पुराने हिंदुस्तानी गणराज्यों की तरह सभी जगह आदिम गणराज्य मिल जाएंगे। हिंदुस्तानी गांव, समाज के ढंग के पुराने रूसी ‘मीर’ होते थे। वर्ण या जात खास तौर पर धंधों के अनुसार ही हैं, और यही प्रथा यूरोप के मध्ययुग के व्यापार-धंधों की रही है। चीन का संयुक्त कुटुंब हिंदुस्तान के संयुक्त कुटुंब से मिलता-जुलता है। मैं इन सबके बारे में इतनी जानकारी नहीं रखता कि इस वहस को आगे बढ़ाऊँ और न मेरे उद्देश्य के लिए यह जरूरी ही है।

कुछ लिए-दिए यह मानना पड़ेगा कि हिंदुस्तानी संगठन अपने
का निराला था और यह समय के साथ-साथ और भी निराला
गया ।

७ : ग्राम-स्वराज्य : शुक्रनीति-सार

दसवीं सदी की एक पुरानी पुस्तक है, जिससे तुर्क और अफगान
हमलों से पहले की हिंदुस्तान की राजनीति-व्यवस्था का कुछ चित्र-
मिलता है । यह है शुकाचार्य का 'नीति-सार' । इसमें केन्द्रीय शासन
के और शहर और गांव के जीवन के संगठन का वर्णन मिलता है;
साथ ही राजा की परिपद् और बहुत-से सरकारी महकमों के भी बयान
हैं । गांव की पंचायत, या चुनी हुई, परिपद् के न्याय और व्यवस्था
दोनों के संबंध में बड़े अधिकार थे और इसके सदस्यों को राजा के
अधिकारी बहुत ही आदर की दृष्टि से देखते थे । वही पंचायत जमीन
का बंटवारा करती थी और पैदावार का एक अंश कर के रूप में उगा-
हती थी और गांव की ओर से सरकार का अंश अदा किया करती थी

कुछ पुराने शिलालेख हमें यह भी बताते हैं कि गांव-पंचायतों के
सदस्य किस तरह चुने जाते थे और उनमें क्या बातें गुण और दो-
ष की समझी जाती थी । अलग-अलग समितियां बनाई जाती थीं, जिन
लिए वार्षिक चुनाव होते थे और जिनमें स्त्रियां भाग ले सकती थीं
अच्छा आचरण न करने पर कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया
सकता था । नावैजनिक रुपये-पैसे का ठीक-ठीक हिसाब न दे स-
पर कोई भी सदस्य अयोग्य ठहराया जा सकता था और अलग वि-
जा सकता था । पक्षपात रोकने के लिए बनाए गए एक दिलचस्प नि-
का वर्णन मिलता है—नावैजनिक पदों पर इन सदस्यों के निकट
धियों की नियुक्ति नहीं हो सकती थी ।

इन गांव-पंचायतों को अपनी स्वतंत्रता का बड़ा ध्यान
था और यह नियम बना हुआ था कि जब तक राजाज्ञा न मिले
कोई भी सिवाही गांव में प्रवेश नहीं पा सकता था । अगर किसी
अधिकारी की शिकायत लोग करें, तो 'नीति-सार' का कहना
राजा को "अपने पदाधिकारियों का पक्ष न करके अपनी प्र-
पक्ष लेना चाहिए ।" यदि बहुत लोग शिकायत करें तो पदाधि-
पदच्युत कर देना चाहिए "क्योंकि पद के मद से कौन उन्मत्त
जाता ?" राजा का जनता के बहुमत के अनुसार काम करने का

वताया गया है । “लोकमत राजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है; जिस तरह कि बहुत-से तारों की बटी हुई रस्सी शेर को भी खींच लाती है ।” “पदाधिकारियों की नियुक्ति करते समय चरित्र और योग्यता का ध्यान रखना चाहिए—जात या घराने का नहीं” और “न वर्ण से और न पुरखों द्वारा ब्राह्मणत्व का भाव उत्पन्न किया जा सकता है ।”

बड़े कस्बों में बहुत-से कारीगर और व्यापारी वसते थे और उनके संघ या समितियाँ और महाजनों के संगठन हुआ करते थे । इनमें से हर एक अपने घरेलू मामलों के नियंत्रण में स्वतंत्र था ।

विदेशियों की विजय के साथ-साथ देश में लड़ाइयाँ और तबाहियाँ आईं, विद्रोह हुए और उनका दमन हुआ, और नये हाकिमों ने अपने हथियारों के जोर पर भरोसा किया । देश के रूढ़िगत कानून की वंदिशों को ये हाकिम अक्सर तोड़ सकते थे । इसके गंभीर परिणाम हुए और स्वतंत्र गांवों की आज़ादी में कमी आई और बाद में माल-गुजारी की वसूलयाबी के तरीकों में बहुत-से परिवर्तन हुए । फिर भी अफगान और मुगल हाकिमों ने इस बात का विशेष ध्यान रखा कि पुराने रीति-रिवाजों में दखल न दिया जाए और कोई बुनियादी बदल-बदल न किए जाएं, और हिंदुस्तानी जीवन का समाजी और आर्थिक ढांचा पहले जैसा बना रहा । गयासुद्दीन तुगलक ने अपने हुकामों को इस बात की खास हिदायतें दे रखी थीं कि रूढ़ि या कानून की रक्षा होनी चाहिए और रियासती मामलों को धर्म से, जो जाती पसंद की चीज़ है, अलग रखना चाहिए । लेकिन काल के चक्र और लड़ाइयों के कारण, और इस वजह से कि सरकार में केन्द्रीयता बढ़ती जा रही थी, रिवाजी कानून का बल कम होता गया । फिर भी गांवों की स्वतंत्रता बनी रही । इसका टूटना अंग्रेजी हुकूमत में जाकर आरंभ हुआ ।

८ : वर्ण-व्यवस्था : संयुक्त कुटुम्ब

हैबेल का कहना है कि “हिंदुस्तान में धर्म हठवाद की हैबेल नहीं रखता, बल्कि आत्मिक उन्नति और जीवन की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मानवी आचार का एक चालू सिद्धांत है ।” प्राचीन काल में, जबकि भारतीय आर्य-संस्कृति की व्युत्पत्ति थी उस समय धर्म को ऐसे लोगों की आवश्यकता का ध्यान पड़ा, जो वीदिक और आत्मिक विकास

तने हो सकते हैं। एक तो वनों में रहने वाले आदि-
 जादू-टोने और आत्माओं में विश्वास करने वाले और प्रतीक-
 लोग थे और सभी तरह के ग्रंथविश्वासी आदमी थे, दूसरे ऐसे
 भी थे जो आध्यात्मिक विचार की सबसे ऊंची सीढ़ियों तक पहुँच
 थे। इन दोनों छोरों के बीच विश्वास और आचार के अनेक
 थे। कुछ लोग तो ऊँचे से ऊँचे विचारों में लगे हुए थे लेकिन ऐसे
 वार अधिकतर लोगों की पहुँच से बाहर थे। ज्यों-ज्यों सामाजिक
 वन ने उन्नति की, विश्वासों में कुछ समानताएं भी पैदा हुईं, फि
 संस्कृति और व्यक्तिगत प्रकृति के भेदों के कारण बहुत-से भे
 रह गए। भारतीय आर्य दृष्टिकोण तो यह था कि किसी भी
 विश्वास को बलपूर्वक न दबाया जाए और किसी दावे को रद्द न किया
 जाए। हर एक वर्ग को स्वतंत्रता थी कि वह अपने आदर्शों की, अपनी-
 अपनी समझ और वीदिक स्तर के अनुसार, पूर्ति करने लगे। समन्वय
 के यत्न होते थे, लेकिन किसी विश्वास का विरोध नहीं किया जाता
 था, न उसे दबाया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था, सेवाओं और धंधों की बुनियाद पर बनी हुई, एक
 वर्ण-व्यवस्था थी। समान नियम लागू किए बिना, और हर एक वर्ग
 को पूरी स्वतंत्रता देते हुए, इसका उद्देश्य सभी वर्गों को एक व्यवस्था
 के अंदर ले आना था। इसके विस्तृत दायरे के भीतर एक पत्नी रखने
 एक से अधिक पत्नी रखने और ब्रह्मचर्य की—सभी प्रथाएं थीं
 जिस तरह और रीति-रिवाजों, विश्वासों और आचारों के साथ स
 ण्णता बरती जाती थी उसी तरह इन सबसे भी खादारी बरती जा
 थी। हर एक स्तर पर जीवन को बनाए रखा गया था। किसी
 अल्पसंख्यक दल को बहुसंख्यक दल की अधीनता स्वीकार करने
 आवश्यकता न थी। शर्त यही थी कि लोग इतने काफी हो जाएं
 उनका एक विशिष्ट वर्ग कहला सके और वह वर्ग की है
 से बना रह सके। दो वर्गों के बीच जाति, धर्म, रंग, संस्कृति
 मानसिक विकास के अपार भेद हो सकते थे।
 व्यक्ति का विचार एक वर्ग के सदस्य के रूप में ही किया
 था; अगर वह वर्ग के अस्तित्व में बाधक नहीं है, तो जो च
 करने के लिए स्वतंत्र था। उसे अपने वर्ग के धंधे में बाधा ड
 कोई अधिकार नहीं था। हां, अगर वह इतना शक्तिशाली
 इतने साथी इकट्ठा कर सके, कि उसका एक अलग वर्ग बन
 वह एक नया वर्ग खुशी से स्थापित कर सकता था। अगर

वर्ग में बैठ नहीं सकता, तो इसके यह अर्थ होते हैं कि जहां तक दुनिया के सामाजिक व्यवहार हैं, वह उनके योग्य नहीं। ऐसी हालत में वह संन्यासी हो सकता था, और वर्ण को, हर एक वर्ग को और कार्यक्षेत्र को छोड़ सकता था और बूमता-फिरता रहकर जो चाहे कर सकता था।

मुख्य-मुख्य वर्ग कौन थे ? अगर हम क्षण-भर के लिए उन लोगों को छोड़ दें, जिन्हें वर्ण से बाहर समझा जाता था, अर्थात् अछूतों को, तो फिर ब्राह्मण थे, जो पुरोहित, गुरु और विचारक होते थे; क्षत्रिय, जो शासक और युद्ध करने वाले लोग थे; वैश्य, सांदागरी, तिजारत, महाजनी आदि करते थे; और शुद्र थे, जो किसानों और दूसरे काम किया करते थे। इन सबमें शायद एक ही वर्ण खूब संगठित और अलग-थलग रहने वाला था, अर्थात् ब्राह्मणों का। क्षत्रिय अपने वर्ग को, विदेशों से आने वाले लोगों और देश में शक्ति और पद हासिल कर लेने वाले लोगों, दोनों के व्यक्तियों को लेकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते थे। वैश्य लोग विशेषकर व्यापार और महाजनी करते थे और कुछ और पेशों में भी थे। खेती-बाड़ी और घरेलू नौकरी-चाकरी शुद्रों के मुख्य धंधे थे। ज्यों-ज्यों नये धंधे निकलते थे या दूसरे कारणों से, नई जातों के बनने का सिलसिला बराबर जारी रहता था, और पुरानी जातों का दर्जा समाज के भीतर उन्नति करता जाता था। यह सिलसिला हमारे समय तक चला आया है। कभी-कभी नीची जात वाले जनेऊ पहनने लग जाते हैं, जो केवल ऊंची जात वालों के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातों से विशेष अंतर उत्पन्न न होता, क्योंकि जात का दायरा निश्चित था, और हर जात का धंधा या पेशा अलग होता। यह केवल मान का प्रश्न हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य में ऊंचे ओहदों तक उन्नति करके पहुंच जाते थे लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

दलित जाति के और अछूत लोग होते कौन थे ? 'दलित जाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढंग से समाज के बिल्कुल नीचे के तल की कुछ जातों पर लागू होता है। इनके और औरों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। उत्तरी हिंदुस्तान में, बहुत थोड़े-से लोग, जो भंगी या मेहतर का काम करते हैं अछूत समझे जाते हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में इनकी गिनती कहीं बड़ी है। इनका आरंभ कैसे हुआ और गिनती में ये इतने बढ़ कैसे गए, यह बताना बड़ा कठिन है। शायद वे लोग जो गंदे समझे जाने वाले पेशों में लगे थे,

से समझे जाते थे और बाद में उनके साथ ऐसे किसानों का
जुड़ गए, जिनकी अपनी जमीन न थी
हनुओं में आचार की शुद्धता का बेहद कड़ा दिचार रहा है।
एक अच्छा परिणाम रहा और बहुत-से दुरे परिणाम भी हुए।
परिणाम तो शरीर की स्वच्छता थी। नित्य का स्नान हिंदुओं
कोवन का एक मुख्य अंग रहा है, इसमें अधिकतर दलित वर्ग भी
क हैं। सनाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि
व्यक्ति जो दिन में दो बार स्नान करेगा, बिना संकोच के ऐसा
नी पी लेगा जो साफ नहीं है और जिसमें कीटाणु भरे पड़े हैं। यह
देखने में आएगा कि सनाई का खुद कोई विचार नहीं पैदा होता,
लिक इसलिए उसका खयाल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का
रूप दिया गया है। जहां यह धर्म की आज्ञा के रूप में नहीं, वहां सफाई
का दर्जा स्पष्टतया गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार-संबंधी शुद्धता का बुरा परिणाम यह हुआ कि
अलग रहने की प्रवृत्ति और छूआछूत ने उन्नति की, और गैर-विरा-
दरी वालों के साथ बैठकर खाना-पीना मना किया गया। और यह बात
इतनी बड़ी, कि दुनिया-भर में ऐसी मिसाल और कहीं नहीं मिलती।
इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ खास जात वाले इसलिए अछूत
समझे जाने लगे कि उन्हें ऐसे आवश्यक धंधों में लगना पड़ता था जो
गंदे समझे जाते हैं। आम तौर पर अपने ही जात वालों के साथ खाने का
रिवाज सभी जातों में फैला। यह रिवाज ऊंची जात वालों के यह
उठ रहा है। लेकिन नीची जात वालों में, जिनमें दलित जाति
भी हैं, यह अब भी जारी है।

जब आपस में खाने-पीने की इतनी मनाही रही, तो विभिन्न
जात वालों के बीच शादी-व्याह के बारे में तो कहना ही क्या
कुछ मिली-जुली शादियों का होना तो अनिवार्य था, लेकिन
मिलाकर, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हर एक जात ने अपनी
के अंदर शादी-व्याह बनाए रखे। नीचे के स्तर के कुछ वर्गों के
में, कभी-कभी कहा जाता है, कि यह जात से बाहर के हैं। वास्तव
कोई भी वर्ग, यहां तक कि अछूत लोग भी वर्ण-व्यवस्था के चौ
बाहर नहीं हैं। दलित वर्ग और अछूत लोगों की अपनी अलग
उनकी पंचायतें अलग हैं, जो उनकी विरादरी के लोगों की
उनके आपस के मामलों को तै करती रहती हैं। लेकिन इनमें
को गांव के आम जीवन से बाहर करके बेरहमी से सताया गया

इस तरह पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन की दो मुख्य बातें थीं—एक स्वतंत्र गांवों का होना और दूसरी वर्ण-व्यवस्था । तीसरी बात थी संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा, जिसके सभी लोग आम जायदाद के मिले-जुले हिस्सेदार होते थे, और जो बच रहते थे, वे सभी विरासत के मालिक होते थे । बाप या कोई और बड़ा कुटुम्ब का कर्ता हुआ करता था, लेकिन उसका काम प्रबंधकर्ता का होता था । प्राचीन रोम में 'पेंटर केमिलियास' की जो हैसियत होती थी वह उसकी न थी । किन्हीं हालतों में, अगर फरीक चाहें, तो जायदाद का बंटवारा हो सकता था । इस मिली-जुली जायदाद में कुटुम्ब के सभी लोगों का हिस्सा समझा जाता था—चाहे वे कमाते हों, चाहे न कमाते हों । अनिवार्य रूप से इसके यह अर्थ होते कि सभीको थोड़ा-थोड़ा निश्चित रूप से मिल जाता और कुछ को बहुत अधिक हिस्सा मिले ऐसा न होता था । यह एक प्रकार का बीमा था, जिससे वे लोग भी लाभ उठा लेते थे कि जो शरीर से अपंग होते या जिनके मस्तिष्क ठीक न होते । इस तरह, जहां एक तरफ सबके गुजर-बसर का प्रबंध हो जाता था, वहां चूंकि काम करने की पावंदी न थी, इसलिए काम भी ढीले तरीके पर होता और उसका लाभ भी थोड़ा ही हो पाता । वैयक्तिक लाभ या उत्साह पर बल न दिया जाता, बल्कि इस बात पर कि वर्ग और कुटुम्ब का क्या लाभ है । एक बड़े कुटुम्ब में पलने और रहने का बच्चे पर यह प्रभाव होता कि अपने को बड़ा समझने का विचार नरम पड़ जाता और उसमें सामाजिक सहानुभूति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती ।

लोकतंत्रीय परिपाटी से लोग अच्छी तरह परिचित ही न थे, बल्कि उसे सामाजिक जीवन में, स्थानीय शासन में, व्यापार-संघों में, धार्मिक समुदायों आदि में आम तौर पर वरतते थे । वर्ण-व्यवस्था की और जो भी बुराइयां हों, उसने हर एक वर्ग के भीतर यह लोकतंत्रीय ढंग बनाए रखा । कार्य-संचालन, चुनाव और बहस के लंबे नियम होते थे । आरंभ की बौद्ध सभाओं के बारे में लिखते हुए मार्किव्स ऑफ जेटलैंड ने कहा है—“बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिंदुस्तान में, दो हजार या इससे भी ज्यादा वर्ष पहले, बौद्धों की सभाओं में हमारी अपनी आजकल की पार्लियामेंट की कार्यशैली मिलती है । सभा के गौरव का निर्वाह करने के लिए एक विशिष्ट पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था—यह हाउस ऑफ कामंस के 'मिस्टर स्पीकर' का पूर्वरूप था । एक और पदाधिकारी इसलिए नियुक्त होता था कि जब जरूरत हो एक निश्चित 'कोरम' का प्रबंध करे—यह हमारी व्यवस्था के 'पार्ल'

मेंटरी चीफ क्लिप' के बराबर का पदाधिकारी होता था। सदस्य लोग कोई भी विषय प्रस्तुत करने के लिए प्रस्ताव ले आते थे, फिर इसपर विवाद होता था। कुछ स्थितियों में एक ही बार विवाद का होना पर्याप्त होता था, दूसरी स्थितियों में इसका तीन बार होना अनिवार्य होता; यह पार्लामेंट के इस दस्तूर की पेशबंदी थी कि किसी भी बिल को कानून के रूप में आने से पहले उसे पार्लामेंट के सामने तीन बार पेश किया जाना चाहिए। अगर विचारणीय विषय पर मतभेद होता तो उसे बहुमत से तै किया जाता और 'वैलट' या गुप्त चिट्ठी के द्वारा मत गणना होती।"

इस तरह हिंदुस्तान के पुराने सामाजिक ढांचे में कुछ गुण थे; और वास्तव में ये गुण न रहे होते तो वह इतने दिनों तक कायम न रह पाता। इसके पीछे हिंदुस्तानी संस्कृति का दार्शनिक आदर्श था— इंसानी एकता का; और इनमें धन-दौलत हासिल करने पर नहीं बल्कि भलाई, मोदय और सचाई पर जोर दिया गया था।

६ : बाबर और अकबर

अब फिर पीछे वापस चलिए। अफगान लोग हिंदुस्तान में बस गए थे और हिंदुस्तानी बन गए थे। उनके हाकिमों के सामने पहले यह प्रश्न था कि लोगों के विरोध को किस तरह कम किया जाए, फिर उनको अपने पक्ष में कैसे किया जाए। इसलिए उनकी निश्चित नीति यह रही कि अपने आरंभ के निर्दय ढंग को नरम किया जाए, और उन्होंने बाहरी विजेताओं की हैसियत से नहीं, बल्कि हिंदुस्तान में जन्मे और पले हुए लोगों की हैसियत से शासन करने का प्रयत्न किया। जो बात आरंभ में नीति के ढंग पर बरती गई, वह ज्यों-ज्यों इन पच्छिमोत्तरी लोगों पर हिंदुस्तान के वातावरण का प्रभाव पड़ा और उतने इन्हें अपने में समाविष्ट किया, त्यों-त्यों एक अनिवार्य प्रवृत्ति बनती गई। ऊपर से तो यह सिलसिला चलता ही रहा, जनता में भी अपने-आप ऐसे प्रबल सोते फूट निकले, जिनका उद्देश्य विचारों और रहन-सहन के ढंग में एक समन्वय पैदा करना था। एक मिली-जुली संस्कृति दिखाई देने लग गई और ऐसी नींव पड़ गई, कि जिसपर अकबर ने बाद में इमारत खड़ी की।

अकबर हिंदुस्तान के मुगल-वंश का तीसरा बादशाह था, फिर भी वास्तव में इसीने सल्तनत की बुनियाद पक्की की। उसके चाचा

बाबर ने १५२६ में दिल्ली के तख्त पर अधिकार किया था, लेकिन वह हिंदुस्तान के लिए परदेसी था और बराबर अपने को परदेसी समझता रहा। वह उत्तर से, एक ऐसी जगह से आया था, जहां उसने अपने मध्य एशियाई देश में तैमूरियों की नई जागृति देखी थी और जहां ईरान की कला और संस्कृति का उसपर गहरा प्रभाव पड़ा था। अपने साथी-संगियों से मिलने की, वहां की सोहबतों की, और जीवन की उन सुविधाओं की जो बगदाद और ईरान से वहां फैली थीं उसे बराबर चाह बनी रही। उन उत्तरी पर्वत-प्रदेशों के बर्फिस्तान की और फरगना के अच्छे गोश्त और फल-फूलों की उसे गहरी चाह होती थी। जो कुछ उसने यहां देखा उससे चाहे जैसी निराशा उसे हुई हो, वह कहता है कि हिंदुस्तान एक बहुत ही अच्छा देश है। हिंदुस्तान में आने के चार साल बाद बाबर मर गया और उसका बहुत-सा समय युद्ध में और आगरा की राजधानी को सजाने में बीता।

बाबर का व्यक्तित्व आकर्षक है, वह नई जागृति का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करने वाला शहजादा है, जो साहसी और बहादुर है, और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। उसके पोते अकबर में और भी आकर्षण है और गुणों में भी वह उससे कहीं बढ़कर है। योग्य सेनापति की हैसियत से वह साहसी और दिलेर है फिर भी उसमें बड़ी दया और कोमलता भी है; वह आदर्शवादी और सपनों को देखने वाला है, फिर भी वह कार्यक्षेत्र का आदमी है; लोगों का ऐसा नेता है कि अपने अनुयायियों में गहरी स्वामिभक्ति उकसा सके। योद्धा की हैसियत से उसने हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों पर विजय प्राप्त की, लेकिन उसकी निगाहें एक दूसरी ही तरह की विजय पर लगी हुई थीं, वह लोगों के दिलों और दिमागों पर फतह हासिल करना चाहता था। उसकी इन मजदूर कर देने वाली आंखों में, जैसा कि उसके दरबार के एक पुर्तगाली जेजुइट ने हमें बताया है 'वृष में दमकते हुए समुंदर' की सी झलक थी। अखंड हिंदुस्तान के पुराने स्वप्न ने उसमें नया रूप ग्रहण किया और यह एकता केवल राजनीतिक एकता न थी, बल्कि ऐसी थी कि सब लोगों को एक चेतना में डालने वाली थी। सन् १५५६ से लेकर अपने राज्य-काल के लगभग अठारह साल तक उसने बराबर यही कोशिश की। बहुत-से लोगों को जो किसी तरह दूसरे के काबू में आने वाले तरफ मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमार और इस तरह उसका बेटा जहांगीर आधा मुगल

था। जहांगीर का बेटा शाहजहाँ भी एक राजपूत माता की कोख
 दा हुआ था। इस तरह यह तुर्क-मंगोल वंश तुर्क या मंगोल होने
 बनिस्वत कही ज्यादा हिंदुस्तानी था। अकबर राजपूतों का बड़ा
 मित्र था और उनसे अपना संबंध मानता था और अपनी व्याह-
 रें भी और दूसरी नीति से उसने राजपूत राजाओं से मित्रता बना
 रखी थी; उसकी वजह से उसकी सल्तनत में बड़ी पायदारी आई
 मुगलों और राजपूतों के इस सहयोग ने, जोकि बाद के राज्यकाल
 में भी बना रहा, न केवल शासन और सेना पर प्रभाव डाला, बल्कि
 कला, संस्कृति और रहन-सहन पर भी। मुगल अमीर क्रमशः और भी
 अधिक हिंदुस्तानी होते गए और राजपूतों पर ईरानी संस्कृति का
 प्रभाव पड़ा।

अकबर ने बहुत-से लोगों को अपने पक्ष में कर लिया और बनाए
 रखा, लेकिन वह राजपूताना में मेवाड़ के राणा प्रताप के गर्व और
 अदम्य भाव का दमन करने में सफल न हुआ और राणा प्रताप ने
 एक ऐसे व्यक्ति से, जिसे वह विदेशी विजेता समझता था, संबंध
 जोड़ने से जंगल में मारे-मारे फिरना कहीं अच्छा समझा।
 अकबर ने अपने गिरे बहुत-से प्रतिभाशाली लोगों को इकट्ठा
 कर लिया था, जो उसके आदर्शों के समर्थक थे। इनमें अबुलफजल
 और फैजी नाम के दो प्रसिद्ध भाई थे और बीरबल, राजा मानसिंह
 और अब्दुल रहीम खानखाना थे। उसका दरबार नये-नये धर्मों
 लोगों के और उन लोगों के, जिनके पास नये विचार थे या नये आधि-
 कार थे, मिलने-जुलने की जगह बन गया। उसकी सब तरह
 विचारों की स्वादारी और उसका सब तरह के विश्वासों और
 का प्रोत्साहन इस हद तक पहुंचा, कि कुछ ज्यादा कट्टर मुसल-
 मानों से अप्रसन्न हो गए। उन्होंने एक ऐसे समन्वित धर्म का भी प्र-
 करने की कोशिश की, जो सबको मान्य होता। इसीके राज्य
 उत्तर हिंदुस्तान में, हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक मेल-
 ने एक लंबा डग आगे बढ़ाया। स्वयं अकबर जितना मुसलमा-
 न लोकप्रिय था, उतना ही हिंदुओं में भी था। मुगल वंश की स-
 ऐसी दृढ़ता से हो गई मानो वह हिंदुस्तान का अपना वंश हो।

१० : एक मिली-जुली संस्कृति का विकास

... ने उभारत ऐसी मजबूत छड़ी की थी, कि बाव-

ढीले उत्तराधिकारियों के, वह एक सौ साल तक और बनी रही । औरंगजेब ने घड़ी को उल्टी चलाने की कोशिश की और इस कोशिश में उसे तोड़ ही दिया । जब तक मुगल बादशाहों ने राष्ट्रीय प्रवृत्ति का साथ दिया और जब तक वे एक मिली-जुली राष्ट्रीयता को तैयार करने और देश के भिन्न तत्त्वों का समन्वय करने के यत्न में रहे, तब तक उनकी दृढ़ता बनी रही । जब औरंगजेब ने इस प्रवृत्ति का विरोध और उसे दबाना आरंभ किया और हिंदुस्तानी शासक की हैसियत से नहीं, बल्कि मुसलमान शासक की हैसियत से राज्य करना चाहा, तब मुगल सल्तनत टूटने लगी । अकबर और कुछ हद तक उसके उत्तराधिकारियों के काम पर पानी फिर गया और वह बहुत-सी शक्तियां जिन्हें अकबर की नीति ने बश में कर रखा था फिर स्वतंत्र हो गईं और उन्होंने सल्तनत को चुनौती दी । नये आंदोलन उठ खड़े हुए, जिनके दृष्टिकोण संकुचित अवश्य थे, लेकिन जो उभरती हुई राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करते थे; और यद्यपि वे इतने शक्तिशाली नहीं थे कि स्थिर शासन स्थापित कर सकें, फिर भी ऐसे अवश्य थे कि मुगल सल्तनत को तोड़-फोड़ दें ।

पच्छिमोत्तर से आने वाले आक्रमणकारियों और इस्लाम ने हिंदुस्तान को काफी जोरदार टक्कर दी थी । इसने हिंदू समाज में बड़ी हुई बुराइयों को खोलकर दिखा दिया था, अर्थात् जात-पात की सड़ांध को, अछूतपने को, और अलग-थलग रहने के रवैये को एक बेलुकी हद तक पहुंचा देने को । इस्लाम के भ्रातृभाव के इस धर्म के मानने वालों की उसूली, बराबरी के खयाल ने उन लोगों पर प्रबल प्रभाव विशेष रूप से डाला, जिन्हें हिंदू समाज के भीतर बराबरी का दर्जा देने से इनकार किया गया था । विचारों के इस संघर्ष से बहुत-से नये आंदोलन उठे, जिनका उद्देश्य एक धार्मिक समन्वय स्थापित करना था ।

उस जमाने में, धर्म बदलकर, इस्लाम स्वीकार कर लेने पर, फदाचित् कोई खास विरोध नहीं होता था—ये लोग चाहे इक्का-दुक्का हों चाहे गिरोह के गिरोह—सिवाय इसके कि जब किसी तरह बल का प्रयोग होता हो । इस धर्म-परिवर्तन को मित्र और संबंधी भले ही न पसंद करें, लेकिन हिंदू यों इसे महत्त्व न देते थे ।

कश्मीर में मुसलमान बनाने का एक लंबा सिलसिला रहा है, जिससे वहां की १५ वीं सदी आवादी आज मुस्लिम है । यद्यपि इसने अपने बहुत-से पुराने हिंदू रिवाजों को बनाए रखा है । छठी-सवीं सदी

व में, इन रियासत के हिंदू शासक ने यह पाया कि इनमें से बहुत सँख्या में लोग एकसाथ हिंदू धर्म में वापस आने के लिए राजी च्छुक हैं। उसने बनारस के पंडितों के पास अपने आदमियों भेजकर पुछवाया कि ऐसा किया जा सकता है या नहीं? पंडितों स तरह के मत-परिवर्तन के विरुद्ध व्यवस्था दी और मामला वहीं समाप्त हो गया।

हिंदुस्तान में बाहर से आने वाले मुसलमान कोई नया आचार या जनैतिक और आर्थिक ढांचा अपने साथ नहीं लाए। बावजूद इसके इस्लाम सभी धर्म के लोगों को भाई मानता है, उनमें गिरोह-दियां थीं और उनका दृष्टिकोण सामंतवादी था। कारीगर और ध्योग-धंधों के संगठन की दृष्टि से, उस समय हिंदुस्तान में जो हालत थी, उससे वे पिछड़े हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान के सामाजिक संगठन और आर्थिक जीवन पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। यह जीवन अपनी पुरानी गति से चलता रहा और सभी लोग, वे चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, इसके भीतर अपनी-अपनी जगह पर जम गए थे।

स्त्रियों के पद में ह्रास हुआ। पुराने कानूनों में भी उत्तराधिकार के मामले में, और घर में उनके दर्जे के बारे में, न्याय नहीं बरता गया था—फिर भी उन्नीसवीं सदी के इंग्लिस्तान के कानून की अपेक्षा इन पुराने कानूनों में स्त्रियों का अधिक ध्यान रखा गया था। ये उत्तराधिकार संबंधी कानून, हिंदुओं की संयुक्त कुटुंब-प्रथा का ध्यान रखकर बनाए गए थे और संयुक्त जायदाद दूसरे कुटुंब में न चली जाए, इसका प्रतिकार करते थे। विवाह के बाद स्त्री दूसरे कुटुंब की हो जाती थी। आर्थिक दृष्टि से वह अपने बाप या पति या बेटे की आश्रित समझी जाती थी, लेकिन उसकी अपनी जायदाद हो सकती थी और होती थी। बहुत तरह से उसकी आदर-प्रतिष्ठा होती थी और उसे सामाजिक और सांस्कृतिक कामों में हिस्सा लेने की पर्याप्त स्वतंत्रता थी। हिंदुस्तानी इतिहास में प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम भरे पड़े हैं। जिन्हें विचारक और दार्शनिक भी हैं और शासक और योद्धा भी। यह स्वतंत्रता बराबर कम होती रही। उत्तराधिकार के बारे में मुस्लिम कानून स्त्रियों के पक्ष में अधिक न्यायपूर्ण था, लेकिन वह हिंदू स्त्रियों पर लागू न होता था।

कुछ तो यों कि हिंदुस्तान के अधिकतर मुसलमान हिंदू धर्म मत-परिवर्तन किए हुए लोग थे, और कुछ इसलिए कि हिंदू-मुसलमान का यहां लंबे जमाने तक, विशेषकर उत्तरी हिंदुस्तान में, साथ

दोनों के बीच बहुत-सी आम बातें, आदतें, रहन-सहन के ढंग और रीतियाँ पैदा हो गई थीं, जो संगीत, चित्रकारी, इमारतों, खान-पान, कपड़े और एक-सी परंपरा में दिखाई देती हैं। वे मिल-जुलकर शांति के साथ एक-काम के लोगों की तरह रहा करते थे, एक-दूसरे के जलसे और त्योहारों में शरीक होते थे, एक बोली बोलते थे, और बहुत कुछ एक ही ढंग से रहते थे और जिन आर्थिक समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ता, वे भी एक-सी थीं। अमीर लोग और वह लोग जिनके पास जमीन थी, और उनके पिछलग्गू, दरबार का रख देखते थे। इनकी एक पेचीदा और आडंबर वाली और रंगी-चुनी आम संस्कृति अलग तैयार हो गई। ये एक-से कपड़े पहनते, एक-सा खाना खाते, एक-सी कलाओं में दिलचस्पी लेते थे।

गांव के सीमित घेरे के अंदर हिंदुओं और मुसलमानों के गहरे संबंध होते थे। वर्ण-व्यवस्था यहां कोई रुकावट नहीं डालती थी, और हिंदुओं ने मुसलमानों की भी एक जात मान ली थी। अधिकतर मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने अपना पुराना धर्म बदल लिया था, पर पुरानी परंपरा को अब भी भूले न थे। वे हिंदू विचारों, कथाओं और पुराणों की कहानियों से परिचित होते थे, ये एक तरह का काम करते, एक-सी जिदगी बिताते, एक-से कपड़े पहनते और एक ही बोली बोलते थे। ये एक-दूसरे के त्योहारों में शरीक होते और कुछ अर्ध-धार्मिक त्योहार ऐसे भी होते जो दोनों के लिए एक-से थे। इनके लोक-गीत एक ही थे। इनमें से अधिकतर किसान, दस्तकारी करने वाले या देहाती धंधे करने वाले लोग होते थे।

मुगलों के जमाने में बहुत-से हिंदुओं ने दरबार की भाषा फारसी में किताबें लिखीं। इनमें से कुछ अपने ढंग की किताबों में चोटी की रचनाएं मानी जाती हैं। साथ ही साथ मुसलिम आलिमों ने संस्कृत से पुस्तकों के फारसी में तर्जुमे किए और हिंदी में भी किताबें लिखीं। हिंदी के सबसे प्रसिद्ध कवियों में दो हैं, मलिक मुहम्मद जायसी, जिन्होंने 'पद्मावत' लिखी, और अब्दुल रहीम खानखाना, जो अकबरी दरबार के अमीरों में था और जिसपर अकबर के वेटे की देख-रेख की दायिरी थी। खानखाना अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान और उसकी हिंदी कविता ऊंचे दर्जे की है। कुछ काल तक वह अकबर के सिपहसालार भी था। फिर भी उसने मेवाड़ के राजा से प्रशंसा की है, जो बराबर अकबर से लड़ता रहा और अकबर के आगे हथियार न डाले।

अकबर को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि उत्तरा
 मध्य हिंदुस्तान के विभिन्न लोगों के बीच उसने एकता की भावना
 कर दी। एक विदेशी शासक-वर्ग का अस्तित्व इसमें रुकावट
 था, फिर धर्म और जात-पात की रुकावटें थीं। ये रुकावटें
 नहीं हुई, लेकिन उनके बावजूद एकता की भावना ने उन्नति की।
 गों का यह आकर्षण उसके व्यक्तित्व के लिए न था, बल्कि जिस
 वे का उसने निर्माण किया था, उसके लिए था। उसके बेटे और
 ते, जहांगीर और शाहजहां ने उस ढांचे को स्वीकार किया और
 सकी हदों के भीतर काम करते रहे। इनके बाद औरंगजेब आया,
 जो इनसे कहीं अधिक योग्य था, लेकिन जो दूसरे ही ढांचे का आदमी
 था। वह इस बने हुए रास्ते से हटकर चला, और इस तरह उसने अक-
 बर के काम पर पानी फेर दिया।

**११ : औरंगजेब समय की प्रगति का विरोध करता
 है : हिंदू राष्ट्रीयता की उन्नति : शिवाजी**

इस बीच इंग्लिस्तान की समुद्री शक्ति बढ़ और फल रही थी।
 यूरোपियनों में केवल पुर्तगालियों को अकबर ने देखा था। उसके बेटे
 जहांगीर के समय में अंग्रेजी जहाजी बड़े ने हिंदसागर में पुर्त-
 गालियों को हराया और जेम्स प्रथम का राजदूत सर टामस रो,
 १६१५ में जहांगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। उसे कोठियां
 स्थापित करने की आज्ञा मिल गई। सूरत में कोठी आरंभ की गई
 और १६३६ में मद्रास की नींव पड़ी। सौ साल से अधिक समय तक
 हिंदुस्तान में किसीने अंग्रेजों को कोई महत्त्व न दिया। समुद्री रास्ते
 के मालिक अब अंग्रेज बन बैठे थे और उन्होंने पुर्तगालियों को लगभग
 हटा दिया था; इस घटना का मुगल बादशाहों या उनके सलाहकारों
 के लिए कोई महत्त्व न था। औरंगजेब के समय में जब मुग-
 साम्राज्य स्पष्ट रूप से निर्बल पड़ रहा था, उस समय अंग्रेजों ने लड़-
 अपना अधिकार बढ़ाने का एक संगठित प्रयत्न किया। यह १६-
 की घटना है। औरंगजेब यद्यपि निर्बल हो रहा था और वैरियों
 घिरा था, तथापि वह अंग्रेजों को हटाने में सफल हुआ। इस स-
 से पूर्व ही फ्रांसीसी भी हिंदुस्तान में पैर जमाने की जगह पा चुके
 ठीक उस समय, जबकि हिंदुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक त-
 विगड़ रही थी, यूरोप की बढ़ती हुई शक्तियां हिंदुस्तान और

देशों में फैल रही थीं ।

यह वह समय था, जबकि एक घरेलू युद्ध के बाद, अपने बाप शाहजहाँ को कैद करके, औरंगज़ेब मुगलों के तख्त पर बैठा । अकबर ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इस परिस्थिति का अंदाज़ लगा सकता था और उन नई शक्तियों को, जो उठ रही थीं, बश में ला सकता था । शायद वह भी इस सल्तनत के विनाश को थोड़ा समय के लिए ही रोक सकता था, उसे बचा न सकता था । औरंगज़ेब अपने ज़माने को भी अच्छी तरह समझ न पाया, वह उल्टी चाल चलने वाला आदमी था और अपनी सारी योग्यता और उत्साह के बावजूद, उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की । वह धर्मांध और नीरस व्यक्ति था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था । हिंदुओं पर पुराना और घृणित 'जजिया' कर लगाकर और उनके बहुत-से मंदिरों को तुड़वाकर उसने अपनी बड़ी प्रजा को बुरी तरह नाराज़ कर दिया । उसने गर्वीले राजपूतों को भी, जो मुगल-सल्तनत के खंबे थे, अप्रसन्न कर दिया । उत्तर में सिख उठ खड़े हुए, जो हिंदू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करने वाले लोग थे, लेकिन जिन्होंने दमन से बचने के लिए एक फौजी विरादरी बना ली थी । हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट के निकट के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज़ कर दिया, जो प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे, और जिनके यहां उस समय एक प्रतिभाशाली सेनानायक पैदा हो चुका था ।

यह सही है कि ऐसे ज़माने में, जबकि एक बड़ी सल्तनत टूट रही हो और बहुत-से हिंदुस्तानी और विदेशी दुस्साहसी अपने-अपने लिए छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लेने के प्रयत्न में हों, आजकल के अर्थ में, राष्ट्रीयता का अस्तित्व मुश्किल से हो सकता था । हर एक दुस्साहसी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता था; हर एक गिरोह अपनी-अपनी चिंता में था । जो इतिहास इस समय हमारे सामने आता है, उसमें केवल इन दुस्साहसियों का वर्णन है, और वह इन दुस्साहसियों के कारनामों को जितना आगे लाता है, उतना उन महत्त्व वाली घटनाओं को नहीं, जो सतह के नीचे-नीचे घट रही थीं । फिर भी हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि यद्यपि बहुत-से दुस्साहसी इस मैदान में थे, सब लुटेरे ही न थे । विशेषकर मराठों की एक अधिक विस्तृत कल्पना थी और ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति बढ़ी, इस कल्पना के विस्तार पाया । मराठे अपनी राजनैतिक और सैनिक

दार थे और उनके भीतर आपस में लोकतंत्र की भावना थी। इन बातों से उनमें मजबूती पैदा होती थी। शिवाजी औरंगजेब से अवश्य, लेकिन उसने मुसलमानों को अपने यहां बराबर नौकरियां दीं।

आर्थिक संगठन का टूट जाना भी मुगल-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का एक कारण रहा है। किसानों के बलबे बार-बार होते रहते थे और इनमें से कुछ बड़े पैमाने पर हुए थे। अब तक शहजादे और प्रमीर और उन्हींके दर्जे के आदमी विद्रोह किया करते थे। अब एक दूसरा ही वर्ग इसका प्रयोग कर रहा था।

उस समय जब सल्तनत में फूट और विद्रोह फैल रहे थे, मराठों की नई शक्ति उत्पत्ति पर थी और अपने को पच्छिमी हिंदुस्तान में बढ़ कर रही थी। शिवाजी, जिसका जन्म १६२७ में हुआ था, पहाड़ी प्रदेशों के हट्टे-कट्टे छापामार लोगों का एक आदर्श नेता था, और उसके सवार दूर-दूर तक छपा मारने जाते थे—यहां तक कि उन्होंने सूरत शहर को, जहां अंग्रेजों की कोठियां थीं, लूटा और मुगल सल्तनत के दूर के हिस्सों पर 'चाँय' कर लगाया। शिवाजी उमरती हुई हिंदू-राष्ट्रीयता का प्रतीक था और पुराने साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करता था; वह साहसी था और उसमें नेतृत्व के बड़े गुण थे। उसने मराठों को एक सुदृढ़ और सम्मिलित सैनिक दल का रूप दिया, उन्हें एक राष्ट्रीय पृष्ठभूमि दी, और ऐसी शक्ति बना दिया, जिसने मुगल सल्तनत को बिगाड़कर छोड़ा। वह १६८० में मरा, लेकिन मराठों की शक्ति बढ़ती गई, यहां तक कि वह हिंदुस्तान की एक महान् शक्ति बन गई।

**१२ : अंग्रेज और मराठे : शक्ति प्राप्त करने
लिए मराठों और अंग्रेजों का युद्ध :
अंग्रेजों की जीत**

औरंगजेब की मृत्यु के बाद के तीनों सालों में, हिंदुस्तान पर कार पाने के लिए, कई शक्तियों के दांव-पेंच चलते रहे। मुगल नत तेजी के साथ टूटकर बिखर गई थी और शाही सूबेदार स्वतंत्र बैठे थे। दक्खिन में अपनी सैनिक स्थिति के कारण, आरंभ में मुगल के निजाम का एक विशेष महत्व जान पड़ता था; लेकिन

ही यह मालूम पड़ गया कि यह महत्त्व विल्कुल बनावटी है, जोखिम और खतरे से अपने को बचाते हुए, दूसरों की मुसीबतों से लाभ उठाने की और दोरुखेपन की यह विशेष योग्यता थी ।

अठारहवीं सदी में, हिंदुस्तान में, अधिकार के चार दावेदार थे; दो इनमें से हिंदुस्तानी थे और दो विदेशी । हिंदुस्तानी थे मराठे, और दक्खिन में हैदरअली और उसका बेटा टीपू सुल्तान, विदेशी थे अंग्रेज और फ्रांसीसी । सदी के पहले आधे हिस्से में ऐसा जान पड़ता था कि इनमें से मराठे सारे हिंदुस्तान पर शासन स्थापित कर लेंगे और मुगल सल्तनत के उत्तराधिकारी बन जाएंगे । सन् १७३७ में ही उनकी सेनाएं दिल्ली के फाटकों तक पहुंच गई थीं, और कोई शक्ति इतनी बलशाली न रह गई थी कि उनका सामना कर सके ।

ठीक उस समय (१७३६) में एक नई बला आई । पच्छिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा; उसने बड़ी मार-काट और लूट मचाई और यहां से बेशुमार खजाना और 'तख्ते ताज्ज' ले गया । उसके लिए यह धावा कोई कठिन काम न था, क्योंकि दिल्ली के शासक कमजोर और नामर्द हो चुके थे, लड़ाई के आदी न रह गए थे और मराठों से नादिरशाह का सामना न हुआ । एक अर्थ में, उसके धावे ने मराठों का काम सहज कर दिया था, जो बाद के सालों में पंजाब में भी फैल गए । दुवारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जाएगा ।

नादिरशाह के हमले के दो परिणाम हुए । एक तो यह कि दिल्ली के मुगल हाकिमों का अधिकार का रहा-सहा दावा भी खत्म हो गया; अब से वे घुघली परछाईं जैसे और नाम के हाकिम बन गए, और जिस किसीके हाथ में शक्ति हो उसकी कठपुतली होते । बहुत हद तक नादिरशाह के आने से पूर्व भी उनकी यह हालत हो चुकी थी; उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया । फिर भी परंपरा और स्थापित रिवाजों का ऐसा जोर होता है कि अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई से पहले तक भेंट और खिराज भेजते रहे; और उसके बाद भी बहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के बादशाह के मुख्तार की समझती रही और १८३५ तक उसीके नाम के सिक्के ढलते रहे ।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफगानिस्तान हिंदुस्तान से अलग हो गया । अफगानिस्तान, जो मुहत्तों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका था, अब अलग होकर नादिरशाह के

लतत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों के बाद, एक स्थानीय विद्रोह ने वजह से, नादिरशाह को उसीके अफसरों ने कत्ल कर दिया और अफगानिस्तान स्वतंत्र राज्य बन गया।

बंगाल में क्लाइव ने जालसाजी और विद्रोह को बढ़ावा देकर और बहुत कम लड़ाई लड़कर, १७५७ में, प्लासी का युद्ध जीत लिया। यह ऐसी तारीख है जिससे अक्सर हिंदुस्तान में अंग्रेजी साम्राज्य का आरंभ माना जाता है। यह एक अप्रिय आरम्भ था और उसका यह कड़वा स्वाद कुछ बराबर ही बना रहा। जल्द ही सारा बंगाल और बिहार अंग्रेजों के हाथ में आ गया और उनके शासन के आरंभ के नतीजों में यह भी था कि १७७० में दोनों सूबों में एक भयानक अकाल पड़ा, जिसने इस हरे-भरे और खूब आबाद प्रदेश की तिहाई आबादी साफ कर दी।

दक्खिन में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच जो लड़ाई हो रही थी, वह उन दोनों के बीच होने वाली लोकव्यापी युद्ध का अंग थी। इसमें अंग्रेज सफल हुए और फ्रांसीसी लगभग हिंदुस्तान से अलग कर दिए गए।

फ्रांसीसियों के समाप्त हो जाने से अब तीन शक्तियाँ शेष रह गईं—जिनमें हिंदुस्तान में अधिकार प्राप्त करने के लिए झगड़ा था—अर्थात् मराठों का गुट, दक्खिन में हैदरअली, और अंग्रेज। वायव्य इसके कि प्लासी में उनकी जीत हुई थी और वे बंगाल और बिहार में फैल गए थे, हिंदुस्तान में शायद ही कोई यह खयाल करता रहा कि ब्रिटिश यहां की सबसे बड़ी शक्ति बन जाएंगे। देखनेवाला भी मराठों को पहली जगह देता। यह लोग पच्छिमी और मध्य हिंदुस्तान में सब जगह—यहां तक कि दिल्ली तक—फैले हुए थे। इनके साहस और युद्ध करने के गुणों की प्रसिद्धि थी। हैदरअली टीपू सुल्तान प्रबल विरोधी थे, जिन्होंने अंग्रेजों को बुरी तरह हराया और ईस्ट इंडिया कम्पनी की शक्ति को प्रायः समाप्त कर दिया। लेकिन ये लोग दक्खिन तक सीमित रहे और सारे हिंदुस्तान में जंगल होता था उसपर उनका कोई सीधा असर न था। हैदरअली एक भुत आदमी था और हिंदुस्तान के इतिहास का एक उल्लेखनीय उसका एक तरह का राष्ट्रीय आदर्श था और उसमें एक कलम नेता के गुण थे। बराबर एक कष्टकर बीमारी का शिकार रहता भी उसने आत्मसंयम और मेहनत करने की अद्भुत शक्ति दिखाई और उसकी अनेक उतने समुद्री शक्ति के महत्त्व का और इस

आधार पर अंग्रेजों के बढ़ते खतरे का अनुभव कर लिया था। उसने मिल-जुलकर इन्हें देश से निकाल बाहर करने के लिए एक संगठन तैयार करने का भी प्रयत्न किया और इस सिलसिले में मराठों, निजाम और अवध के शुजाउद्दौला के पास संदेश भेजे। लेकिन इसका फल कुछ न हुआ। उसने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करना शुरू किया और मालाद्वीप टापुओं पर अधिकार कर लिया और उसे जहाज बनाने और समुद्री कारवाइयों का अड्डा बनाया। अपनी सेना के साथ कूच करते हुए वह रास्ते में एक स्थान पर मर गया। उसके बेटे टीपू ने जहाजी बेड़े को सुदृढ़ करने के काम को जारी रखा। टीपू ने नैपोलियन और क्रुस्तुंनिया के सुल्तान के पास भी संदेश भेजे।

उत्तर में, रणजीतसिंह की अधीनता में, पंजाब में, एक सिख रियासत तैयार हो रही थी, जो बाद में कश्मीर और पच्छिमोत्तर के सरहद्दी सूबे तक फली। लेकिन वह भी एक किनारे की रियासत थी और हिंदुस्तान पर अधिकार पाने के लिए जो लड़ाई हो रही थी, उसपर उसका अधिक प्रभाव न था। ज्यों-ज्यों अठारहवीं सदी समाप्त होने पर आई, यह स्पष्ट हो गया कि लड़ाई केवल दो शक्तियों में है, अर्थात् मराठों और अंग्रेजों में, और सभी राज्य और प्रदेश इन दोनों के मातहत या उनसे जुड़े हुए थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को, अंग्रेजों ने, अंत में १७९९ में हरा दिया और इससे अब मराठों और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच लड़ाई के लिए मैदान खाली हो गया। चार्ल्स मैटकाफ ने, जो हिंदुस्तान के सबसे योग्य अंग्रेजी अफसरों में से एक था, १८०६ में लिखा था—“हिंदुस्तान में दो से अधिक बड़ी शक्तियां नहीं हैं, ब्रिटिश और मराठे, और शेष रियासतों में से हर एक इन दोनों में से एक के असर में है। जितने इंच हम पीछे हटेंगे, वे इनके अधिकार में आएंगे।” लेकिन मराठा सरदारों में आपस में वैर चल रहा था और अंग्रेजों ने इनसे अलग-अलग लड़कर इन्हें हराया। इन्होंने कुछ मारके की लड़ाइयां जीती थीं, विशेषकर १८०४ में आगरे के पास इन्होंने अंग्रेजों को बुरी तरह परास्त किया। लेकिन १८१८ में मराठा शक्ति अंत में कुचल दी गई और मध्य हिंदुस्तान में उसका प्रतिनिधित्व करने वाले बड़े-बड़े सरदारों ने हार मानकर ईस्ट इंडिया कंपनी का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उस समय अंग्रेज हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े हिस्से के वे-रोक शासक बन गए, जो देश पर सीधे या अपने कठपुतले और अधीन राजों द्वारा शासन करते थे। पंजाब

यद्य भी उनके अधिकार से बाहर थे, लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेजों
त जम चुकी थी और बाद में सिखों, गोरखों और बरमियों से
जो लड़ाइयां हुई, उन्होंने नक्शा भर दिया।

3 : संगठन और टेकनीक में अंग्रेजों की श्रेष्ठता और हिंदुस्तान का पिछड़ापन

ईस्ट इंडिया कंपनी आरंभ में व्यापार के लिए स्थापित हुई थी
और उसका सैनिक प्रयोग केवल इस व्यापार की रक्षा करना था।
आय: इस तरह, कि लोगों को पता भी न चला, इसने अपना प्रदेश
धीरे-धीरे बढ़ा लिया था और जो विशेष ढंग इसने ग्रहण किया,
वह यह था कि स्थानीय सगड़ों में, विरोधी दलों में से किसी एक को
मदद देना। कंपनी की सेनाएं ज्यादा अच्छा सिखाई गई थीं और
जिसकी ओर भी वे सहायता देतीं, उसे लाभ पहुंचता और कंपनी
अपनी सहायता के लिए खासा मूल्य वसूल करती। इस तरह कंपनी
की शक्ति बढ़ी और उसकी शक्ति भी बढ़ी। लोग इन सेनाओं को इस
तरह देखने लगे कि वह किराये पर ली जा सकती हैं। जब लोगों
को इस बात का पता चला कि अंग्रेज किसीकी मदद करने वाले नहीं
थे, बल्कि अपना ही खेल खेल रहे थे, और वह या हिंदुस्तान में राज-
नतिक शक्ति स्थापित करना, उस समय तक वे देश में अपने को दृढ़ता
से स्थापित कर चुके थे।

विदेशियों के विरुद्ध एक भावना निश्चित रूप से मौजूद थी
और यह बाद के वर्षों में भी बढ़ी। लेकिन एक आम और व्यापक
राष्ट्रीय भावना से यह दूर की चीज थी। पृष्ठभूमि में सामंतवाद
और लोग स्थानीय नेताओं के प्रति निष्ठा दिखाते थे। जैसा कि च
के लड़ाके सरदारों के जमाने में हुआ था, देश की व्यापक मुसी
ने लोगों को इस बात पर विवश किया कि जो भी सैनिक नेता
मित वेतन दे सकता हो और लूट के अवसर देता हो, उसके
नाकरी कर ली जाए। ईस्ट इंडिया कंपनी की फौजों में अधिक
स्थानी सिपाही होते थे। केवल मराठों में कुछ राष्ट्रीय भा
थी—और यह भावना स्थानीय सरकारों की वफादारी भर ना
फिर भी यह राष्ट्रीय भावना तंग और सीमित थी। उन्होंने
व्यवहार से दूर राजपूतों को अपने विरुद्ध कर लिया।
इसके कि यह उनकी मैत्री प्राप्त करते, उन्हें ये वैरी बना

अधिक से अधिक असंतुष्ट जागीरदार । स्वयं मराठा सरदारों में तीखा वैमनस्य था और वावजूद इसके कि पेशवा के अधीन उनका एक गुट्टू-सा था, उनमें कभी-कभी गृह युद्ध हुआ करता था । कठिन अवसरों पर ये एक-दूसरे के काम न आते और अलग-अलग लड़कर ये हरा दिए जाते थे ।

फिर भी मराठों ने बहुत-से योग्य व्यक्ति पैदा किए जो राजनीतिज्ञ भी थे और योद्धा भी, और इनमें नाना फड़नवीस, पेशवा वाजीराव (प्रथम), ग्वालियर के महादाजी सिंधिया और इंदौर के यशवंतराव होल्कर की गिनती होनी चाहिए, और हमें उस अद्भुत नारी को भी न भूलना चाहिए अर्थात् इंदौर की रानी अहिल्याबाई को । उनके सैनिक अच्छे होते थे—अपनी जगह पर डटे रहने वाले और मृत्यु का वीरता से सामना करने वाले । लेकिन इस सारी बहादुरी के पीछे युद्ध के जमाने में और शांति के काल में भी बहुधा केवल एक जांबाजी और अताईपन होता, जो एक आश्चर्य की बात है । दुनिया के चारे में उनका अज्ञान हृदयों का था और उनकी हिंदुस्तान के भूगोल की भी जानकारी सीमित थी । जो बात और भी बुरी थी, वह यह थी कि वे इस बात का पता लगाने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते थे कि बाहर क्या हो रहा है और उनके वैरी क्या करने में लगे हुए हैं? इन हालातों में दूरदेशी वाली राजनीतिज्ञता और व्यावहारिक सक्रियता की क्या गुंजायश हो सकती थी ? उनकी गति और वेग से बहुधा वैरी आश्चर्य में आकर घबरा उठते थे, लेकिन युद्ध को ये केवल कुछ बहादुरी के धावे समझते और इससे अधिक कुछ नहीं । छापेमार लड़ाई में वे बेजोड़ थे । बाद में उन्होंने अपनी सेनाओं को अधिक नियमित ढंग से संगठित किया । परिणाम यह हुआ कि एक ओर वे जिरह बल्तर से बोझिल हुए, दूसरी तरफ उनकी वेगपूर्ण गति जाती रही और वे इन नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को आसानी से न बना पाए । वे अपने को होशियार समझते थे और थे भी; लेकिन जुलह की हालत में या युद्ध में उन्हें धोखा दे सकना कठिन न था, क्योंकि वे एक पुराने और दकियानूसी चौखटे में घिरे हुए थे और उससे बाहर निकलना न चाहते थे ।

अगर मराठे अपनी गुट्टू और नामुदायिक राष्ट्रीयता के दीवानी और फौजी संगठन में पिछड़े हुए थे, तो दूसरी शक्तियां तो और भी पिछड़ी हुई थीं । राजपूत सह लेकिन उनके ढंग सामंती थे । वे वीर होते हुए भी न

के नुमाइंदों पर अवश्य है। इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि बिना अंग्रेजों की सहायता के भी, जिसे वे देने के लिए इतने तुले हुए थे, हिंदुस्तान में, अधिकार पाने के लिए लड़ी गई लड़ाई के अंत में शांति और व्यवस्थित हुकूमत कायम हो जाती। ऐसी सूरते हिंदुस्तान में, उसके पांच हजार वर्षों के इतिहास में, और दूसरी जगहों में, पहले भी पैदा हो चुकी हैं।

१४ : रणजीतसिंह और जयसिंह

यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तान विदेशियों की विजय का शिकार इसलिए हुआ कि उसके लोगों में त्रुटियां थीं और अंग्रेज एक ऊंची और उन्नतिशील सामाजिक व्यवस्था की नुमाइंदगी करने वाले थे। दोनों तरफ के नेताओं के बीच स्पष्ट अंतर था; हिंदुस्तानी—वे चाहे जितने योग्य हों—विचार और व्यवहार के तंग दायरे में रहने वाले लोग थे, और उन्हें इस बात का पता न था कि दूसरी जगहों में क्या हो रहा है, और इसलिए वे बदलती हुई स्थितियों में, अपने को ठीक-ठीक बिठा न पाए। अगर कुछ व्यक्तियों में बातों को जानने की रुचि पैदा भी हुई, तो वे उन घेरो को तोड़ न पाते थे, जिनमें वे बंधे हुए और कैद थे। इसके मुकाबले अंग्रेज बहुत कार्यकुशल लोग थे और उनके देश और फ्रांस और अमरीका में होने वाली घटनाओं ने उन्हें जगा दिया था। दो बड़ी क्रांतियां बीत चुकी थीं। फ्रांसीसी क्रांति के सैनिकों के और नैपोलियन के धावों ने सारी युद्ध की कला बदल दी थी। अनजान से अनजान अंग्रेज, अपनी हिंदुस्तान-यात्रा के बीच में, दुनिया के कई हिस्सों को देख चुका होता था। स्वयं इंग्लिस्तान में मारके की खोजें हो चुकी थीं, जिनका परिणाम यह हुआ था कि वहां कल-कारखानों की क्रांति हो गई थी, यद्यपि शायद बहुत ही थोड़े लोग ऐसे थे, जो इसके दूर तक पहुंचने वाले प्रभाव का अंदाजा लगा सकते थे। लेकिन परिवर्तन का खमीर जोरों से काम कर रहा था और लोगों पर प्रभाव डाल रहा था। इन सबके पीछे वह प्रसारशील स्फूर्ति थी, जिसने अंग्रेजों को सुदूर देश में भेजा था।

ऐसा जान पड़ता है कि इस भयानक युग में लोग साधारणतया पस्त और कुचले हुए से थे, दुर्भाग्य के चक्र को चुपके से सहन कर लेते थे, एक चकाचींध और उदासीनता का उनपर आलम लगा हुआ था। बहुत-से व्यक्ति ऐसे अवश्य रहे होंगे, जिनमें बातें

एमनूएल ने अपने दूत जेवियर डि सिल्वा को डिला हायर की तालिकाओं के साथ जयसिंह के पास भेजा । इन तालिकाओं का अपनी तालिकाओं से मिलान करने पर वह इस परिणाम पर पहुंचा कि पुर्तगाली तालिकाएं कम शुद्ध थीं और उनमें कई अशुद्धियां थीं । इन अशुद्धियों का कारण उसने यह बताया कि जिन यंत्रों का उपयोग किया गया था, उनके 'व्यास' घटिया थे । जयसिंह हिंदुस्तानी गणित का पूरा जानकार तो था ही, उसने पुरानी यूनानी पुस्तकें भी देखी थीं और यूरोप में उसके समय में गणित में जो उन्नति हुई थी, उसे भी जानता था । उसने उक्लेदिस आदि कुछ यूनानी पुस्तकों के और सम तथा गोलीय त्रिकोणमिति, और लघुगणकों के निर्माण और व्यवहार पर यूरोपीय ग्रंथों के संस्कृत में अनुवाद कराए थे । उसने ज्योतिष की अरबी किताबों के भी तर्जुमे कराए थे ।

उसने जयपुर शहर की स्थापना की । नगर-निर्माण में दिलचस्पी रखते हुए उसने अपने समय के बहुत-से यूरोपीय शहरों के नक्शे इकट्ठे किए और फिर अपना नक्शा तैयार किया । जयपुर के अजायबघर में पुराने यूरोपीय शहरों के इन नक्शों में से कई अब भी सुरक्षित हैं । जयपुर के शहर का नक्शा इतना अच्छा और बुद्धिमानी से तैयार किया गया था कि वह अब भी नगर-निर्माण की एक मिसाल पेश करता है ।

थोड़ी ही उम्र के भीतर-भीतर और युद्धों और दरवारी षड्यंत्रों में फंसे रहते हुए भी, जयसिंह ने यह सब और बहुत कुछ और भी किया । जयसिंह की मृत्यु से ठीक चार साल पहले नादिरशाह का हमला हुआ था । किसी भी जमाने में और कहीं भी जयसिंह एक मारके का आदमी हुआ होता । राजपूताने के विशिष्ट सामंतवादी वातावरण में पैदा होकर, हिंदुस्तान के इतिहास के एक इतने अधि-यारे समय में, जबकि टूट-फूट, युद्ध और हंगामे ही दिखाई पड़ते थे, उसके वैज्ञानिक कारनामे बड़े महत्त्व के हैं । इससे यह पता चलता है कि हिंदुस्तान में वैज्ञानिक जिज्ञासा का लोप नहीं हुआ था और कोई ऐसा खमीर काम कर रहा था कि अगर उसे अवसर दिया जाता, तो बड़े मूल्यवान् परिणाम सामने लाता ।

१५ : हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : दो इंग्लिस्तान

जिस समय यह सब गहरे प्रभाव रखने वाले

रहे थे, हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी? वाठार
 का है कि ठीक अठारहवीं सदी तक "उत्पादन, कौशल और
 आर्थिक संगठन के हिंदुस्तानी ढंग संसार के किसी हिस्से में प्रचलित
 की अपेक्षा नीचे न ठहरेंगे।" हिंदुस्तान व्यापारिक माल पैदा
 ने वाला एक बहुत ही उन्नत देश था और अपने यहां से तैयार किया
 या माल यूरोप और दूसरे देशों में भेजता था। उसकी महाजनी की
 व्यवस्था बहुत अच्छी और देशभर में खूब संगठित थी, और बड़े-बड़े
 व्यापारियों की हुंडियां हिंदुस्तान में सब जगह सकारी जाती थीं
 और हिंदुस्तान ही क्या, ईरान, काबुल, हेरात, ताशकंद और मध्य
 एशिया की और जगहों में भी स्वीकार की जाती थीं, व्यापारी संगठन
 स्थापित हो गए थे और गुमास्तों, माल पहुंचाने वालों, और दलालों,
 बीच के व्यापारियों का जाल-सा बिछा हुआ था। जहाज बनाने का
 घंघा जोरों पर था और नैपोलियन के जमाने की लड़ाइयों में एक
 अंग्रेजी एडमिरल का 'प्लैंगशप' हिंदुस्तान के एक कारखाने का दना
 हुआ था। वास्तव में तिजारत और व्यापार और भारी मामलों में,
 आधुनिक क्रांति के जमाने से पहले तक, हिंदुस्तान किसी भी देश के
 बराबरी की उन्नति कर चुका था। यदि देश में शांति और स्थिर
 शासन के लंबे समय न बीते होते और यातायात के मार्ग आने-जाने
 और व्यापार के लिए सुरक्षित न होते, तो ऐसी उन्नति असंभव होती।
 विदेशी दुस्साहसिक आरंभ में हिंदुस्तानी तिजारती माल
 अच्छाइयों से खिंचकर यहां आए, क्योंकि इस माल की यूरोप में
 खपत थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का आरंभ के दिनों में
 घंघा ही हिंदुस्तानी माल का यूरोप में रोजगार करना था और
 तिजारत कंपनी के लिए बड़े लाभ की सिद्ध हुई, और कंपनी के
 दारों को लंबे मुनाफे मिलते रहे। चीजों की तैयारी के ढंग में
 ऐसे अच्छे और संगठित थे और हिंदुस्तान के कारीगर
 शिल्पियों की हुनरमंदी इस दर्जे की थी कि वह तैयारी के जमाने
 ढंग से, जो उस समय इंग्लिस्तान में प्रचलित हो रहे थे, बड़े
 से मुकाबला कर सकते थे। जिस समय इंग्लिस्तान के
 खानों का महान युग आरंभ हुआ, उस समय हिंदुस्तानी
 पटा पड़ता था और उसे भारी चुंगी लगाकर और कु
 आना तो बिल्कुल बंद करके, रोकना पड़ा। इस तरह
 अर्थ-तंत्र कल-कारखानों की क्रांति से पूर्व जितनी उन्नति
 कर चुका था।

यद्यपि हिंदुस्तानी व्यापारियों और माल तैयार करने वालों का तबका अमीर था और वे सारे देश में फैले हुए थे और उनका आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण था, पर उनके पास राजनैतिक शक्ति नहीं थी। शासन स्वेच्छाचारी और अब भी बहुत हद तक सामंतवादी था। वास्तव में, शायद वह जितना सामंतवादी इस समय था उतना हिंदुस्तान के इतिहास में और कभी भी पहले नहीं रहा था। इस वजह से कोई शक्तिशाली मध्यवर्ग नहीं था, या ऐसा वर्ग भी जो शक्ति अपने हाथ में कर लेने के लिए सचेत हो—जैसा कि पच्छिमी देशों में था। आम तौर से लोग उदासीन और गुलामी की मनोवृत्ति रखने वाले हो रहे थे। इस तरह एक खाई पैदा हो गई थी, जिसका भरना क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक था।

उस समय, अंग्रेज, राजनैतिक दृष्टि से, कहीं अधिक उन्नत थे। उनके यहां राजनैतिक क्रांति हो चुकी थी और उन्होंने अपने राजा की शक्ति से ऊपर पार्लियामेंट की शक्ति स्थापित कर ली थी। उनके मध्य वर्ग के लोग, अपनी नई शक्ति की चेतना रखते हुए, खूब फैलना चाहते थे। ये जीवनी शक्ति और स्फूर्ति, जो उन्नति करने वाले और प्रगतिशील समाज के लक्षण हैं, इंग्लिस्तान में साफ तौर पर दिखाई देते हैं। ये कई प्रकार सामने आते हैं—सबसे अधिक उन आविष्कारों और खोजों में सामने आते हैं, जिन्होंने कल-कारखानों की क्रांति का आवाहन किया।

इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया। १६०० में, जब रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को परवाना दिया, उस वक्त शेक्सपीयर जीवित था और उसका लिखना जारी था। १६११ में इंजील का अधिकृत अंग्रेजी संस्करण निकला; १६०८ में मिल्टन का जन्म हुआ। उसके बाद हेंपडन और क्रामवेल सामने आए और राजनैतिक क्रांति हुई। १६६० में इंग्लिस्तान की रायल सोसायटी स्थापित हुई, जिसने विज्ञान को उन्नति देने में बड़ा भाग लिया। ती साल बाद, १७६० में, कपड़ा बनने की तेज ढरकी का आविष्कार हुआ, उसके बाद जल्दी-जल्दी एक-एक करके, कातने की कल, भाप के इंजन और मशीन के कुरघे निकले।

इन दो इंग्लिस्तानों में से कौन-सा इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया? शेक्सपीयर और मिल्टन वाला, उदार बातों और लेखों और बीरता के कारनामों वाला, राजनैतिक क्रांति और आजादी के हक में लड़ाई करने वाला, विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति करने वाला—इंग्लिस्तान

हां आया, या वहशियाना जाब्ता फौजदारी वाला, वरंर व्यवहार करने वाला, और सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी इंग्लिस्तान आया? क्योंकि दो इंग्लिस्तान रहे हैं, जिस तरह कि हर एक देश में जातीय चरित्र के दो पहलू होते हैं। एडवर्ड टामसन ने लिखा है—“हमारी सभ्यता के सबसे ऊंचे और साधारण स्तरों के बीच इंग्लिस्तान में हमेशा एक बड़ा अंतर रहा है, मुझे बड़ा शॉक है कि इस तरह की चीज और भी किसी देश में—जिससे हम अपना मुकाबला करना चाहेंगे—है या नहीं, और यह अंतर इतनी धीमी गति से घट रहा है, कि अक्सर यह जान पड़ता है कि यह घट ही नहीं रहा है।”

दोनों इंग्लिस्तान एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए साथ-साथ चल रहे हैं और एक-दूसरे से जुदा नहीं किए जा सकते; ना ही हो सकता था कि इनमें से एक दूसरे को विल्कुल भुलाकर, हिंदुस्तान में आवे। फिर भी हर एक बड़े व्यवहार में एक ही आगे आता है और दूसरे पर हावी रहता है, और यह अनिवार्य था कि हिंदुस्तान में गलत किस्म का इंग्लिस्तान अपना खेल खेले, और इस प्रगति में गलत किस्म के हिंदुस्तान से उसका संपर्क हो और इसे बढ़ावा मिले।

संयुक्त-राज्य अमरीका की स्वतंत्रता का है। पिछली डेढ़ सदियों पर हिंदुस्तान के स्वतंत्रता खोने का है। एक हिंदुस्तानी किंचित लालच-भरी और आकांक्षा डालते हुए, एक हिंदुस्तानी किंचित लालच-भरी और आकांक्षा दृष्टि से उस बड़ी उन्नति को देखता है, जो अमरीका ने इस कदम पर कर ली है, और इसका मिलान उन बातों से करता है, जो हिंदुस्तान में हुई हैं, या नहीं हो पाई हैं। निःसंदेह यह सही है कि अमरीका में बहुत-से गुण हैं, और हममें बहुत-सी कमजोरियां हैं और अमरीका में विल्कुल नया मैदान था और लिखने के लिए उनके पास प्लेन स्लेट थी, जबकि हम पुरानी यादों और परंपराओं से जकड़े शायद फिर भी यह बात कल्पना में आने वाली नहीं है कि अमरीका ने (उसीके शब्दों में) हिंदुस्तान का यह भारी बोझ न संभाला और हमें इतने लंबे काल तक स्वतंत्रता की कठिन कला, इतने अपरिचित थे, सिखाने की कोशिश न की होती, तब तक न केवल अधिक स्वतंत्र और संपन्न होता, बल्कि विशाल में, उन सभी बातों में, जो जीवन के जीने के योग्य बन अधिक उन्नति कर चुका होता।

अंतिम दर्शन

१ : साम्राज्य की विचारधारा

एक अंग्रेज ने, जो हिंदुस्तान से और उसके इतिहास से खूब परिचित है, यह लिखा है—“कदाचित् और किसी बात की अपेक्षा, जो हमने की हो, हमारा हिंदुस्तान के इतिहास का लिखना ज्यादा खलता है !” हिंदुस्तान के ब्रिटिश-शासन के इतिहास में, हिंदुस्तान को सबसे ज्यादा बुरा क्या लगा है, यह कहना मुश्किल है; सूची लंबी है और उसमें कई तरह की बातें हैं। लेकिन यह सच है कि हिंदुस्तान के इतिहास का, और विशेषकर ब्रिटिश-युग का, अंग्रेजों द्वारा वर्णन बेहद बुरा लगता है। प्रायः सदा ही इतिहास विजेताओं द्वारा लिखा जाता है और उसमें उनका दृष्टिकोण मिलता है, या कम से कम विजेता के वर्णन को प्रधानता दी जाती है और वही सबसे ऊपर माना जाता है। बहुत संभव है, हिंदुस्तान में आर्यों के बारे में, आरंभ के जो वर्णन मिलते हैं, ऐसे ही हों अर्थात् पुराणों और परंपराओं में आर्यों की बड़ाई की गई हो और विजित जनता के प्रति अन्याय हुआ हो। कोई व्यक्ति अपने-आपको जातीय दृष्टिकोण या सांस्कृतिक बंधनों से बिल्कुल बचा नहीं सकता और जिस समय जातियों या देशों के बीच झगड़ा होता है, उस समय निष्पक्षता के प्रयत्न को भी अपनी जनता के प्रति विश्वासघात समझा जाता है।

हिंदुस्तान में अंग्रेजों की दृष्टि में जो बदमाश था, वह हिंदुस्तानियों के लिए अक्सर एक शूरवीर होता था और वे लोग, जिनको अंग्रेजों ने प्रसन्न होकर सम्मान दिए, अधिकतर हिंदुस्तानियों की दृष्टि में देशद्रोही रहे। और वह घन्वा उनके वारिसों पर लग आता है।

हिंदुस्तान पर पच्छिमी संस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और ‘आधुनिक’ चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्यकालीन विचारधारा से बंधा हुआ था और जो अपने ढंग से

वल ब्रिटिश माल से भरा जा सकता था और इस-
 जी से बेकारी और गरीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक
 त्या स्थापित हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक
 उपनिवेश बन गया, जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार
 को अपने यहां खपाता।
 कारीगर-पेशा लोगों के समाप्त हो जाने की वजह से बहुत बड़े
 पर बेकारी फैली। ये करोड़ों आदमी, जो अब तक तरह-तरह
 मान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए
 अब क्या करते? वे कहां जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला
 नहीं था और नये पेशे के लिए रास्ता रुका हुआ था। हां, वे मर
 जाते थे—असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला
 होता है। और वे लोग करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के
 ग्रेज गवर्नर-जनरल लार्ड वेंटिक ने १८३४ में कहा था, "ब्यापार के
 इतिहास में ऐसा कष्टकर उदाहरण पाना कठिन है। जुलाहों की
 हड्डियां हिंदुस्तान के मैदानों को सफेद किए हुए हैं।"
 फिर भी उनमें ने बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे, और ज
 ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अंदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी
 पैदा हुई, ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गई। इन झुंड के झुंड कारीगरों
 के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार
 थी। उन लोगों ने जमीन की ओर निगाह उठाई, क्योंकि जमीन अब
 भी मौजूद थी। लेकिन जमीन पूरी तौर पर घिरी हुई थी, वह उनको
 लाभकर तरीके से खपा नहीं सकती थी। इस तरह वे जमीन पर एक
 बोझ बन गए, और वह बोझ बढ़ता ही गया और उसके साथ ही देश
 की गरीबी बढ़ती गई और रहन-सहन का मापदंड बेहद गिर गया।
 हुनरदारों और कारीगरों के खेती पर बरबस लौटने की प्रक्रिया
 कृषि और उद्योग-धंधों का संतुलन बिगड़ता गया। धीरे-धीरे ल
 के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया, क्योंकि और कोई धंधा
 काम नहीं था जिससे पैसा पैदा किया जा सके।
 हिंदुस्तान में धीरे-धीरे देहात बढ़ता गया। हर प्रगतिशील
 में पिछली सदी में खेती से उद्योग-धंधों की तरफ और गांव से
 के लिए आवादी का रुझान हुआ है, लेकिन ब्रिटिश नीति की
 यहां उल्टी ही बात थी। इस संबंध में आंकड़े ध्यान देने ला
 उन्नीसवीं सदी के बीच में, यह बताया जाता है कि जनसंख्य
 ती सदी खेती पर निर्भर था; हाल ही में उसका अनुपात

है ७४ फी सदी ।^१

इस तरह हिंदुस्तानी जनता की भयंकर गरीबी की यह अगली बुनियादी वजह है । और यह अपेक्षाकृत हाल के ही समय की है । दुर्भाग्य कारण, जिनसे यह गरीबी बढ़ी है, वे खुद—बीमारी और निग्रह—इस गरीबी का, अपर्याप्त भोजन आदि का, परिणाम हैं । बहुत अधिक आवादी होना एक दुर्भाग्य की बात है, और जहां कहीं आवश्यक हो सकता हो, इसको कम करने के उपाय काम में लाने चाहिए, फिर यहां की आवादी के घनत्व का उद्योग-धंधों में बढ़े-चढ़े देशों की आवादी से मिलान किया जा सकता है । यह आवादी जरूरत से ज्यादा सिर्फ उसी देश के लिए है, जो खेती पर अत्यधिक निर्भर है, और एक उचित अर्थ-व्यवस्था में सारी आवादी उपयोगी काम में लग सकती है और उससे देश की संपत्ति बढ़ेगी । वास्तव में घनी आवादी तो कुछ विशेष भागों में जैसे बंगाल में और गंगा के मैदानों में ही है, और बहुत-से विस्तृत प्रदेश अब भी छिदरे बसे हुए हैं । यहां यह बात याद रखने की है कि इंग्लिस्तान हिंदुस्तान की अपेक्षा दूने से भी अधिक घना बसा हुआ है ।

उद्योग-धंधों का संकट तेजी से खेती के काम में भी फैल गया और वह वहां पर एक स्थायी संकट हो गया । (जमीन के बंटवारे की वजह से) खेत दिन ब दिन ज्यादा छोटे और इतने ज्यादा बिखरे हुए होने लगे कि अंदाज नहीं किया जा सकता । कृषि-ऋण का बोझ बढ़ने लगा और जमीन बहुधा साहूकारों के कब्जे में पहुंच जाती । भूमिहीन मजदूरों की तादाद में लाखों की बढ़ती हुई, हिंदुस्तान एक औद्योगिक पूंजीवादी शासन के अधीन था, लेकिन उसकी अर्थ-व्यवस्था उस युग की थी जिसमें पूंजीवाद आरम्भ नहीं हुआ था, फिर भी उस अर्थ-व्यवस्था में से कई एक ऐसी चीजें निकली हुई थीं, जिनसे पैसा पैदा किया जा सकता था । हिंदुस्तान आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद का बेवस एजेंट बन गया, जिसमें उसकी सारी बुराइयां तो थीं लेकिन लाभ एक भी नहीं था ।

यह बात स्पष्ट है कि औद्योगिक उन्नति के लिए हिंदुस्तान में साधन बराबर रहे हैं । यहां संगठन-सामर्थ्य है, टेक्नीकल योग्यता है, हुनरदार काम करने वाले हैं और हिंदुस्तान के लगातार शोषण के बाद भी कुछ पूंजी बच रही है । इतिहासकार मांटगुमरी मार्टिन ने कहा है—“हिंदुस्तान का औद्योगिक सामर्थ्य उतना ही है, जितना कि

१. यह अंदाज लार्ड दिन्ने से पहले (१८३६) का है ।

कृषि-सामर्थ्य। और वह व्यक्ति, जो उसे बेतिहर देश
 में लाना चाहता है, वह उसे सम्यता के पैमाने में गिराना
 है।" और हिंदुस्तान में अंग्रेजों ने ठीक यही चीज करने की
 न से बराबर कोशिश की।
 आधुनिक उद्योग-धंधों में पनपने की, हिंदुस्तान की सामर्थ्य का
 ज उस सफलता से लगाया जा सकता है जो आगे बढ़ने का अवसर
 ने पर उसने प्राप्त की है। वास्तव में यह सकलता, हिंदुस्तान
 ब्रिटिश-सरकार और ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के प्रबल विरोध के
 बजूद हुई है। उसने पहला वास्तविक अवसर १८१४-१८ के
 इंग्लैंड के काल में मिला, जब ब्रिटिश माल के आने में रुकावट हो गई
 हिंदुस्तान ने उसका लाभ उठाया तो, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से
 वह लाभ अपेक्षाकृत बहुत कम हद तक ही उठाया जा सका। तब से
 सरकार पर बराबर दबाव रहा है कि हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों की
 उन्नति के लिए सारी रुकावटों और उन निहित स्वार्थों को, जो रास्ता
 रोकते हैं, दूर करके सुविधा दी जाए। प्रकट रूप में तो सरकार ने इसे
 अपनी नीति के रूप में मंजूर कर लिया, लेकिन वैसे सरकार ने इसे
 वास्तविक उन्नति को और विशेषकर बुनियादी धंधों की उन्नति को
 रोका है। हिंदुस्तानी उद्योग को उन्नति का आरंभ में खुला विरोध
 था और बाद में उसकी जगह छिपे विरोध ने ले ली, और वह भी
 उना ही कारणों से है। जब हम हिंदुस्तान में ब्रिटिश आर्थि-
 नीति का पीछे फिरकर देखते हैं, तो यह मालूम होता है कि हिंदुस्त-
 नी जनता की वर्तमान गरीबी इस नीति का अनिवार्य परिणाम है।

३ : हिंदुस्तान राजनैतिक और आर्थिक हैसियत पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता

नया पूंजीवाद सारी दुनिया में जो बाजार तैयार कर रहा
 उससे प्रत्येक दशा में हिंदुस्तान के आर्थिक ढांचे पर प्रभाव
 ऐसे गांव, जहां बाहरी मदद की आवश्यकता न थी, और जहां
 से धंधे आपस में बंटे हुए थे, अब अपने पुराने रूप में बच न
 थे। लेकिन जो परिवर्तन हुआ, वह स्वाभाविक क्रम में नहीं
 उसने हिंदुस्तानी समाज की सारी आर्थिक नींव को अस्ता-
 दिया। एक ऐसा ढांचा, जिसके पीछे सामाजिक अनुमति आ
 थे, और जो जनता के सांस्कृतिक उत्तराधिकार का ग्रंथ था

ही अपने-आप बदल दिया गया और एक दूसरा ढांचा, जिसका संचालन बाहर से होता था, लाद दिया गया। हिंदुस्तान दुनिया के बाजार में नहीं आया, बल्कि वह ब्रिटिश ढांचे का एक उपनिवेश और खेतिहरी की हैसियत रखने वाला पुछल्ला बन गया।

गांवों के घंघों की वरवादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया, श्रम का परंपरा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग कामों वाले आदिमियों को इस बहुत बड़ी संख्या को किसी समुदाय के काम में सहज में नहीं लगाया जा सकता था। जमींदारी प्रथा के जारी करने से जमीन की मालिकी के बारे में एक बिल्कुल नई धारणा बनी और इससे इन लोगों पर एक और प्रबल चोट हुई। अब तक जो धारणा थी, उसमें जमीन पर तो इतना नहीं, बल्कि जमीन की उपज पर विशेषकर सामूहिक स्वामित्व था। शायद अंग्रेज इसको पूरी-पूरी तरह समझ नहीं पाए, लेकिन शायद कुछ अपनी वजहों से उन्होंने खास तौर पर जान-बूझकर अंग्रेजी व्यवस्था जारी की।

जमीन को इस ढंग से जायदाद बना देने से केवल एक बड़ा आर्थिक परिवर्तन ही नहीं हुआ, बल्कि उसका असर अधिक गहरा हुआ और उसने सहयोगपूर्ण सामुदायिक सामाजिक ढांचे की सारी हिंदुस्तानी धारणा पर ही चोट की। जमीन के मालिकों का एक नया वर्ग सामने आया—एक ऐसा वर्ग, जिसको ब्रिटिश सरकार ने खड़ा किया था और जो बहुत हद तक उस सरकार से मिला-जुला था। पुराने ढांचे के टूटने से कई समस्याएं पैदा हुईं और शायद इस नई हिंदू-मुस्लिम समस्या का आरंभ वहीं पर पाया जा सकता है। जमींदारी प्रथा पहले-पहल बंगाल और बिहार में जारी की गई, जहां उन ढांचे में, जो स्थायी बंदोबस्त के नाम से मशहूर है, बड़े-बड़े जमींदार बनाए गए। बाद में यह अनुभव किया गया कि यह व्यवस्था सरकार के लिए लाभदायक नहीं है; क्योंकि मालगुजारी तै थी, और बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसलिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में कुछ निश्चिन्त मन के ही लिए नया बंदोबस्त किया गया। यहां समय-
—

सुरक्षित थीं। शासनयंत्र को हिंदुस्तानी बनाने की गति बहुत धीमी थी, और वह भी केवल बीसवीं सदी में ही दिखाई दी। यह प्रक्रिया हिंदुस्तानी हाथों में शक्ति लाने के बजाय ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का एक और दूसरा प्रकार सिद्ध हुई। वास्तविक महत्त्व की जगह ब्रिटिश हाथों में बनी रहीं और शासन में हिंदुस्तानी ब्रिटिश राज्य के एजेंटों की तरह ही काम कर सकते थे।

इन सब युक्तियों के अतिरिक्त वह नीति जो ब्रिटिश-राज्य के युग में बराबर जान-बूझकर बरती गई, जिसमें हिंदुस्तानियों में फूट डाली गई और एक गिरावट को, दूसरे पर चोट पहुंचाते हुए, बढ़ावा दिया गया। ब्रिटिश राज्य के आरंभ के काल में इस नीति को खुले तौर पर स्वीकार किया गया और वास्तव में एक साम्राज्यवादी शक्ति के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आंदोलन की उन्नति के बाद इस नीति ने एक कुटिल और अधिक भयानक रूप ले लिया और यद्यपि इस नीति के अस्तित्व को माना नहीं गया, लेकिन इसको पहले से भी अधिक तीव्रता से बरता गया।

४ : हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के विरोधाभास: राममोहन राय : समाचारपत्र : बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के इतिहास पर विचार करते हुए हमको पग-पग पर एक विशेष विरोधाभास मिलता है। अंग्रेजों का हिंदुस्तान में इसलिए आधिपत्य हुआ और वे दुनिया की एक प्रमुख शक्ति इसलिए बन गए, कि वे बड़ी मशीनों की नई औद्योगिक संस्कृति के अंगुष्ठा थे। वे एक ऐसी नई ऐतिहासिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे, जो दुनिया को बदलने जा रही थी, और यद्यपि उनको पता नहीं था, वे परिवर्तन और क्रांति के प्रवर्तक थे। फिर भी सिवाय उस परिवर्तन के, जो उन्हें अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और देश और जनता का अपने लाभ के लिए शोषण करने के सिलसिले में आवश्यक मालुम हुए, उन्होंने हर तरह के परिवर्तन को जान-बूझकर रोका। उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। कुछ हद तक तो उसकी वजह, उस सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि थी, जिसके कि कि वे सदस्य थे; लेकिन विशेषकर उसकी वजह यह थी कि वे जान-

प्रगतिशील दिशा में परिवर्तन को रोकना चाहते थे, नतीजा
वर्तन से हिंदुस्तानी जनता सुदृढ़ होती और उसका नतीजा
कि हिंदुस्तान पर अंग्रेजी प्रभुत्व घट जाता। जनता का डर
सारी विचारधारा और सारी नीति में समाया हुआ था, क्योंकि
वे उस जनता में घुलना मिलना ही चाहते थे और न वे ऐसा कर
सके थे। उनको तो एक विदेशी शासक-समुदाय की तरह अलग,
एक बिल्कुल भिन्न और विरोधी जनता से घिरा रहना था। परि-
णाम हुआ, और कुछ तो प्रगतिशील दिशाओं में भी हुए, लेकिन वे
देश नीति के बावजूद हुए, यद्यपि उनको उत्तेजना, पच्छिम में
वर्क में आने से, अंग्रेजों द्वारा ही मिली।

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजों ने, जिनमें शिक्षा-प्रसार में दिलचस्पी
रखने वाले लोग थे, पूर्व में दिलचस्पी रखने वाले लोग थे, संपादक थे
और मिशनरी लोग थे, और साथ ही और दूसरे आदिमियों ने, हिंदु-
स्तान में पच्छिमी संस्कृति लाने में एक महत्वपूर्ण भाग लिया और
अपनी इस कोशिश में उनको बहुधा स्वयं अपनी सरकार से झगड़ना
पड़ा। उस सरकार को आधुनिक शिक्षा-प्रसार के प्रभाव का डर था
और इसीसे उसने उनके रास्ते में बहुत-सी अड़चनें डालीं, फिर भी
हिंदुस्तान में अंग्रेजी विचार, साहित्य और राजनैतिक परंपरा का
प्रवेश कर देने का श्रेय उन योग्य और उत्सुक अंग्रेजों को है, जिन्होंने
पने चारों तरफ हिंदुस्तानी विद्यार्थियों के उत्साही समुदायों को
कटौत किया और जिन्होंने अपनी संस्कृति के फैलाने की बड़ी जोरदार
कोशिशें कीं। खुद ब्रिटिश सरकार भी, जिसको शिक्षा नापसंद थी
परिस्थितियों में विवश हुई और उसको अपने बढ़ते हुए काम के लि-
कलकों के तैयार करने और उनको शिक्षा देने का प्रबंध करना पड़ा।
इन छोटी-छोटी जगहों में काम करने के लिए इंग्लैंड से बड़ी संख्या
आदिमियों को लाकर रखना उसकी विज्ञात के बाहर था। इस
धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार हुआ, और यद्यपि वह बहुत सीमित
और गलत ढंग की थी, फिर भी उसने नये और सक्रिय विचारों
लिए मस्तिष्क को प्रवृत्त किया।

छापने की मशीन को, और वास्तव में हर एक मशीन
हिंदुस्तानी मस्तिष्क के लिए भड़काने वाली और खतरनाक
गया। उनको किसी भी ढंग से बढ़ावा नहीं देना था, क्योंकि
आधुनिक उन्नति हो सकती थी और राजद्रोह फैल सकता था।
जहां निजी छापेखानों को बढ़ावा नहीं दिया गया, वहां सा-

कार का काम बिना छपाई के चल नहीं सकता था और इसलिए कलकत्ता, मद्रास और दूसरी जगहों में सरकारी छापेखाने खोले गए। पहला निजी छापाखाना बैप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में चलाया और पहला अखबार एक अंग्रेज ने कलकत्ता में सन् १७८० में निकाला।

पच्छिम का असली प्रभाव और संघर्ष तो जीवन के व्यावहारिक पहलू पर हुआ, जो स्पष्टतया पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठतर था। नये तरीकों की—रेल, छापेखानों, दूसरी मशीनों और लड़ाई के अधिक होशियारी के तरीकों की—अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ये तरीके, परोक्ष रूप से पुराने तरीकों को धकेलकर ऊपर आ गए और हिंदुस्तान के मस्तिष्क में संघर्ष पैदा हुआ। सबसे अधिक स्पष्ट और गहरा परिवर्तन यह था कि पुरानी खेतिहारी की व्यवस्था टूट गई और उसकी जगह वैयक्तिक नैपुण्य और जमींदारी की दिनाद्वारा ने ली, अर्थ-व्यवस्था का आधार पैसा हो गया और हमें एक नयी-दारी की चीज हो गई। जो चीज पहले गिदाज के दान पर दूता में जनी हुई थी, अब रुपये में उलड़ गई।

खेती-संवंधी, शिक्षा-संवंधी, टेक्नीकल और इंड्रिक—ये सभी परिवर्तन हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों में बहुत जल्द बंगाल में फैले में आए। उसकी वजह यह थी कि बंगाल में दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य ५० वर्ष पहले स्थापित हो चुका था। उसने अठारहवीं सदी के पहले पचास वर्षों में और उन्नीसवीं सदी के पहले पचास वर्षों में, बंगाल ने ब्रिटिश साम्राज्य जीवन में एक प्रमुख भाग लिया। बंगाल सिर्फ ब्रिटिश राज्य का ही केंद्र नहीं था, बल्कि उसने अपने पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियों के जल्द दान को फैला दिया। जो शक्ति की छाया में ही हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में फैली थी, उसमें, उन्नीसवीं सदी में, ब्रिटिश ने नए नए प्रभाव डाले। हिंदुस्तान का साम्राज्यिक और नवजागरण का जीवन शुरू किया, और नई नई चीजें में नए प्रभाव डाले।

रसायन, जीव-विज्ञान आदि दूसरी उपयोगी विद्याओं की, शिक्षा की आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा ।

वह केवल एक विद्वान और अन्वेषक ही नहीं थे, वह एक सुधारक भी थे। आरंभ में उनपर इस्लाम का असर हुआ था, और बाद में कुछ हद तक ईसाई धर्म का, लेकिन फिर भी वह अपने धर्म पर दृढ़ता के साथ जमे रहे। हां, उस धर्म को उन्होंने उन कुरीतियों और कुप्रथाओं से, जो उस समय उससे जुड़ गई थीं, छुड़ाने की कोशिश की। सती-प्रथा को बंद करने के लिए उन्हींके आंदोलन की वजह से विशेष रूप से सरकार ने उसपर रोक लगाई।

राममोहन राय हिंदुस्तानी अखबारों के स्थापित करने वालों में एक थे। सन् १८८० के बाद हिंदुस्तान के अंग्रेजों ने कई अखबार निकाले। ये साधारणतया सरकार की बड़ी आलोचना करते और सरकार से बहुधा उनका झगड़ा होता और उनपर प्रतिबन्ध रहता। हिंदुस्तान में अखबारों की स्वतंत्रता के लिए सबसे पहले अंग्रेजों ने आवाज उठाई। इन अंग्रेजों में से एक जेम्स विल्क बर्किंगम थे, जिनकी अब भी याद की जाती है। सरकार की वजह से इनको हिंदुस्तान छोड़कर बाहर जाना पड़ा। पहला अखबार, जिसपर हिंदुस्तानी नियंत्रण था, और जिसका संपादन भी हिंदुस्तानियों ने किया, सन् १८९८ में (अंग्रेजी भाषा में) निकला। और उसी साल श्रीरामपुर के वैप्टिस्ट पादरियों ने बंगला में दो पत्र—एक मासिक और एक साप्ताहिक—निकाले। हिंदुस्तानी भाषा में सामयिक रूप से निकलने वाले ये पहले पत्र थे। उसके बाद अंग्रेजी में और हिंदुस्तानी भाषाओं में कई अखबार और कई सामयिक पत्र कलकत्ता, बंबई और मद्रास से कुछ ही समय के अंदर निकलने लगे। इसी बीच में अखबारों की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई शुरू हो चुकी थी। सन् १८९८ में सुपरिचित रेगुलेशन नं० ३ का जन्म हुआ, जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को बिना मुकदमा चलाए नजरबंद किया जा सकता था।

राममोहन राय का कई अखबारों से संबंध था, उन्होंने अंग्रेजी और बंगला इन दो भाषाओं की मिली-जुली एक पत्रिका निकाली और बाद में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र फारसी में प्रकाशित किया, जिसका सारे हिंदुस्तान में चलन हो सके। उस समय हिंदुस्तान में फारसी ही सारे संस्कृत समाज की भाषा थी। लेकिन १८३३ में प्रेस-नियंत्रण के लिए नये कानून बनने पर, इसके बाद फारसी पत्रों का प्रकाशन बंद हो गया। राममोहन राय ने और दूसरे आदमियों ने इ

किया; यहां तक कि उन्होंने इंग्लैण्ड में मंत्रिमंडल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा ।

राममोहन राय के संपादकीय काम का विशेषकर उनके सुधार-आंदोलन से संबंध था । कट्टर समुदायों को उनका समन्वयवादी और विश्व-बंधुत्व का दृष्टि-बिन्दु बहुत नापसंद था और वे उनके बहुत-से सुधारों का भी विरोध करते थे । लेकिन उनके अपने भी कट्टर समर्थक थे । इन्हीं में टैंगोर-परिवार भी था, जिसने बाद में बंगाल की नई जागृति में एक मुख्य भाग लिया । राममोहन राय दिल्ली सत्राट् की ओर से इंग्लैण्ड गए और वहीं ब्रिस्टल में उनकी मृत्यु हो गई ।

राममोहन राय ने, और टैंगोर कुटुम्ब ने अंग्रेजी घर पर पढ़ी । कोई अंग्रेजी स्कूल या कालिज उस समय नहीं थे और सरकारी नीति हिंदुस्तानियों को अंग्रेजी सिखाने के घोर विरोध में थी । सन् १७८१ में सरकार ने कलकत्ते में हिंदू कालेज और कलकत्ता मदरसा स्थापित किए । पहली संस्था संस्कृत की पढ़ाई के लिए थी, और दूसरी संस्था अरबी की पढ़ाई के लिए । सन् १७८१ में बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला गया । शायद १८१० के बाद ईसाई पादरियों की तरफ से अंग्रेजी सिखाने के लिए कुछ स्कूल खुले । सन् १८१० के बाद सरकारी क्षेत्र में भी ऐसे विचार के लोग हुए, जो अंग्रेजी पढ़ाने के पक्ष-पाती थे, लेकिन उनके मत का विरोध किया गया । जो भी हो, प्रयोग के रूप में दिल्ली के अरबी स्कूल में अंग्रेजी कक्षाएं भी शुरू की गईं और ऐसी कक्षाएं कलकत्ता की कुछ संस्थाओं में भी खोली गईं । अंग्रेजी पढ़ाने के पक्ष में अंतिम निर्णय सन् १८३५ के फरवरी के मकाले के शिक्षा-संबंधी नोट से हुआ । बाद में कलकत्ते में प्रेसीडेंसी कालेज स्थापित हुआ । सन् १८५७ में कलकत्ता, बंबई और मद्रास की यूनि-वर्सिटियों का काम शुरू हुआ ।

अगर एक तरफ हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन हिंदुस्तानियों को अंग्रेजी पढ़ाने के विरुद्ध था, तो दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वान कुछ दूसरे ही कारणों से, अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ाने के और भी अधिक विरुद्ध थे । जब सर विलियम जोन्स, जो पहले से कई भाषाएं जानते थे और जो एक बड़े विद्वान थे, हिंदुस्तान के सुप्रीम कोर्ट के जज बनकर आए, तो उन्होंने संस्कृत सीखने की अपनी इच्छा प्रकट की । और यद्यपि बहुत बड़ा पारितोषिक देने को कहा गया, लेकिन कोई भी ब्राह्मण एक विदेशी और विद्यार्थी को देववाणी सिखाने को तैयार नहीं हुआ । जोन्स को अंत में बहुत कठिनाई से एक ब्राह्मण वैद्य मिले, जो

के गरीब विद्यार्थी को भी मिलती थी। उसमें शिक्षक की कुछ व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। इस मामले में हिंदू और मुस्लिम परंपराएं एक-सी थीं।

जहां एक ओर इस नई शिक्षा के प्रसार को जान-बूझकर रोका गया, वहां बंगाल में पुरानी शिक्षा बहुत हद तक समाप्त कर दी गई थी। जब अंग्रेज बंगाल में अधिकारी बन बैठे तब मुआफी की ज़मीनें बहुत बड़ी मात्रा में थीं, अर्थात् उन ज़मीनों का सरकार को कोई लगान नहीं दिया जाता था। इनमें से बहुत-सी व्यक्तिगत थीं, लेकिन अधिकतर शिक्षा-संबंधी संस्थाओं के लिए दान के रूप में थीं। उनपर पुराने ढंग के प्रारंभिक स्कूलों की एक बहुत बड़ी संख्या का निर्वाह होता था। इनके अलावा कुछ ऊंची शिक्षा की फारसी की संस्थाएं थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी को इस बात की चिंता थी कि जल्दी से रुपया बनाया जाए, ताकि इंग्लैंड में हिस्तेदारों को डिविडेंड दिए जा सकें। डाइरेक्टरों का बराबर तकाजा बना रहता था। इसलिए जान-बूझकर यह नीति बरती गई कि इन मुआफी की ज़मीनों को ज़ब्त कर लिया जाए। उनकी मुआफी के असली सबूत मांगे गए, लेकिन वे पुरानी सनदें या तो खो गई थीं या उनको दीमक ने खा लिया था। इसलिए ये मुआफियां रद्द कर दी गईं, उन लोगों से कब्ज़ा छीन लिया गया और स्कूलों और कालिजों के निर्वाह की आमदनी का अंत हो गया। इस तरह एक बहुत बड़ा इलाका छीना गया और बहुत-से पुराने घराने नष्ट हो गए। वे शिक्षण-संस्थाएं जो इस मुआफी पर गुजर करती थीं बंद हो गईं और उनसे संबंध रखने वाले अध्यापकों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो गई।

इस प्रकार बंगाल का पुराना सामंती वर्ग, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, और साथ ही वे लोग, जो इनके सहारे गुजर करते थे, बरबाद हुए। एक वर्ग के रूप में मुसलमान अधिक सामंतवादी थे और मुआफी का लाभ उठाने वाले भी अधिकतर वे ही थे, इसलिए हिंदुओं की अपेक्षा उनकी अधिक हानि हुई।

अंग्रेजी शिक्षा से हिंदुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुआ, अंग्रेजी साहित्य और संस्थाओं के लिए दिल में आदर हुआ, हिंदुस्तानी जीवन के कुछ पहलुओं और उसकी कुछ रीतियों के खिलाफ विद्रोह हुआ और राजनैतिक सुधार की मांगें बढ़ीं। इस नये पेशेवर वर्ग ने राजनैतिक हलचल में नेतृत्व किया और सरकार के सामने अपने पक्ष को रखा। वास्तव में अंग्रेजी पढ़े-लिखे इन पेशेवर लोगों का एक नया वर्ग बन

गया, जो आगे चलकर सारे ही हिंदुस्तान में फैलने वाला था। यह एक ऐसा वर्ग था, जिसपर पच्छिमी विचारों और रीतियों का असर था और जो आम लोगों से अलग रहा करता था। सन् १८५२ में कलकत्ते में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन स्थापित हुआ। यह इंडियन नेशनल कांग्रेस का अग्रज था, लेकिन अभी सन् १८८५ में होने वाली कांग्रेस के आरंभ तक तो एक पीढ़ी का विलंब था। इस काल में १८५७-५८ का विद्रोह हुआ, उसका दमन हुआ, और उसके नतीजे सामने आए। उस सदी के बीच में बंगाल और उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान में जो अंतर था, वह यह था, कि जहां एक ओर बंगाल में नये पढ़े-लिखे (खास तौर से हिंदू लोग) अंग्रेजी साहित्य और विचारों से प्रभावित हो चुके थे और राजनैतिक संवैधानिक सुधार के लिए इंग्लैण्ड की तरफ आंखें लगाए हुए थे, वहां दूसरी तरफ ये दूसरे हिस्से विद्रोह की भावनाओं से खाल रहे थे।

और जगहों की अपेक्षा बंगाल में ब्रिटिश राज्य का और पच्छिम का असर अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। खेतिहरी अर्थ-व्यवस्था बिल्कुल टूट गई थी, और पुराना सामंती वर्ग समाप्त कर दिया गया था। उनकी जगह जमीन के नये मालिक आ गए थे, जिनका जमीन से परंपरा का लगाव बहुत ही कम था, और जिनमें पुराने सामंती जमींदारों के गुण तो प्रायः कोई भी नहीं थे, लेकिन जिनमें उनकी अधिकतर बुराइयां अवश्य थीं। किसानों को अकाल और लूट का सामना करना पड़ा, और वे बेहद गरीब हो गए। तरह-तरह के कारीगर लोगों के वर्ग तो करीब-करीब मिटा ही दिए गए। इन टूटी-फूटी बुनियादों पर ऐसे नये समुदाय और नये वर्ग खड़े हुए जो ब्रिटिश राज्य की उपज थे और जो उससे कितने ही रूपों में संबंधित थे। साथ ही वे सादागर लोग थे, जो ब्रिटिश कारखाने और तिजारत के दलाल थे और जो उसकी जूठन से पलते थे। इनके अलावा छोटी नौकरियों में और विद्वत्तापूर्ण व्यवसायों में वे पढ़े-लिखे लोग थे, जो विभिन्न परिमाण में अंग्रेजी विचारों से प्रभावित हुए थे और जो प्रगति के लिए ब्रिटिश शक्ति की ओर आशा से आंखें लगाए हुए थे। इनमें हिंदू समाज के सामाजिक ढांचे और उसकी कट्टर रीतियों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। उन्होंने प्रेरणा के लिए अंग्रेजी उदारता और संस्थाओं की ओर आंखें उठाईं।

ब्रिटिश संबंध के आरंभ के ये सब परिणाम और विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, वांछिक और राजनैतिक आंदोलन, जो उनकी वजह से

बंगाल में हुए, हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी दिखाई देते हैं। लेकिन कम और अलग-अलग परिमाण में। दूसरी जगहों में सामंती ढांचे का और पुरानी अर्थ-व्यवस्था का अंत धीरे-धीरे हुआ और अपेक्षाकृत कम हद तक हुआ। वास्तव में उस ढांचे ने विद्रोह किया, और यहां तक, कि कुचले जाने के बाद भी वह थोड़ा-बहुत बच रहा। उत्तरी हिंदुस्तान के मुसलमान, बंगाल को अपने धर्म-भाइयों की अपेक्षा सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ऊंचे थे लेकिन पच्छिमी शिक्षा से भी अलग रहे। हिंदुओं ने इस शिक्षा को अधिक सरलता से अपनाया और वे पच्छिमी विचारों से अधिक प्रभावित हुए।

५ : सन् १८५७ का बड़ा गदर : जातीय अहंकार

लगभग एक सदी तक ब्रिटिश शासन में रहकर बंगाल ने उस अपना मेल बिठा लिया था। किसान अकाल से बरबाद हो गए थे और नये आर्थिक बोजों से पिस रहे थे। नये पढ़े-लिखे लोग पच्छिम की तरफ देख रहे थे और यह आशा कर रहे थे कि अंग्रेजी उदारता परिणामस्वरूप उन्नति होगी। यही बात कमोवेश दक्खिनी और पच्छिमी हिंदुस्तान में, मद्रास और बंबई में थी। लेकिन उत्तरी सूबों में इस तरह का कोई भी रुझान नहीं था और विद्रोह की भावना आ जनता में, और विशेषकर सामंती सरदारों और उनके अनुयायियों में बढ़ रही थी। जनता में भी असंतोष और जोरदार ब्रिटिश-विरोध भावनाएं खूब फैली थीं। ऊंचे वर्ग के लोगों को इन विदेशियों की अवधारणाओं और उनका अपमानजनक व्यवहार बहुत अखरता। जनता को ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के लालच या अनजानपन की वजह से बहुत कष्ट उठाने पड़ते थे। ये अधिकारी उनकी बहुत काल से प्रचलित रीतियों की अवहेलना करते और देशवासियों के विचारों पर कोई ध्यान ही नहीं देते। एक बहुत बड़ी जनसंख्या पर मनमानी करने की शक्ति से उनके मस्तिष्क फिर गए थे और उन्हें कोई भी रोक नहीं थी। यहां तक कि नई न्याय-प्रणाली, जो उन्होंने स्थापित की वह भी एक आतंक की वस्तु बन गई, क्योंकि एक तो उसमें बहुत-से उलझनें थीं और दूसरे न्यायाधीश देश की भाषा और प्रथाओं से अपरिचित थे।

मई सन् १८५७ में, मेरठ की हिंदुस्तानी फौज ने विद्रोह किया। विद्रोह का गुप्त रूप से बहुत अच्छा संगठन किया गया था। लेकिन

नियत समय से पहले ही इस उभार से नेताओं की सारी योजना ही बिगड़ गई। यह केवल एक सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक बड़ी चीज थी। उसने बड़ी तेजी से एक बड़े विद्रोह का रूप ले लिया, और वह हिंदुस्तानी स्वतंत्रता की लड़ाई बन गई। साधारण जनता के सार्वजनिक विद्रोह के रूप में यह लड़ाई दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी। मुख्यतः यह एक सामंतवादी विद्रोह था, जिसके अगुआ सामंत सरदार या उनके साथी थे और जिसमें विदेशी विरोधी व्यापक भावनाओं से सहायता मिली। अनिवार्य रूप से इसकी निगाह बचे-खुचे मुगल-राजवंश पर थी, जो अब भी दिल्ली के महलों में था; लेकिन दुर्बल, अशक्त और बूढ़ा हो गया था। इस विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ने ही भाग लिया।

इस विद्रोह में ब्रिटिश-शासन को अपना पूरा-पूरा जोर लगाना पड़ा। लेकिन अंत में उसका दमन हिंदुस्तानी सहायता से ही हुआ। पुराने शासन की सारी जन्मजात कमजोरियां ऊपर आ गईं। यह शासन विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकने की अपनी अंतिम जी-तोड़ कोशिश कर रहा था। सामंती सरदारों को विस्तृत प्रदेशों में आम जनता की सहानुभूति प्राप्त थी, लेकिन वे लाचार थे, असंगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हित के उद्देश्य नहीं थे। इतिहास में वे अपना भाग अदा कर चुके थे और आगे उनके लिए कोई जगह नहीं थी। उनमें ऐसे भी बहुत-से लोग थे, जिनकी विदेशी राज्य के विरुद्ध होने वाले विद्रोह से सहानुभूति तो थी, लेकिन जिन्होंने सयानेपन से काम लिया और अलग खड़े हुए इस बात को देखते रहे कि कौनसा पक्ष अधिक सबल है और किसकी जीत की संभावना है। बहुत-से लोगों ने देशद्रोहियों का काम दिया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रजवाड़े या तो अलग रहे या उन्होंने अंग्रेजों की मदद की, क्योंकि जो कुछ भी उनके पास था, उसे जोखिम में वे डालना न चाहते थे। नेताओं में कोई भी राष्ट्रीय एकता लाने वाली भावना नहीं थी, केवल एक विदेशी-विरोधी भावना थी और उसके साथ अपने सामंतवादी विशेषाधिकारों को बनाए रखने की इच्छा थी; और यह उस राष्ट्रीय भावना की जगह नहीं ले सकती थी।

विद्रोह में छापामार लड़ाई करने वाले कुछ मारके के नेता सामने आए। उनमें एक तो फीरोजशाह था, जो दिल्ली के बहादुरशाह का संबंधी था। लेकिन उनमें सबसे ज्यादा प्रतिभावान नेता

टोपे, जिसने अंग्रेजों को उस समय भी कितने ही महीनों तक परेशान किया, जबकि हार उसके सामने स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी। अंत में वह नर्मदा को पार करके मराठा प्रदेशों में अपने ही आदिमियों से स्वागत और सहायता पाने की आशा से पहुंचा। उसका स्वागत तो हुआ ही नहीं बल्कि उसके साथ दगा भी की गई। इन सबके ऊपर एक नाम और है जिसके लिए साधारण जनता के मन में अब भी सम्मान है, और वह नाम है लक्ष्मीबाई का, जो झांसी की रानी थी, जिसकी अवस्था बीस बरस की थी और जो लड़ते-लड़ते मर गई। उन अंग्रेज सेनापतियों ने, जिन्होंने उसका सामना किया, उसके बारे में यह कहा कि वह विद्रोही नेताओं में 'सर्वोत्तम और सबसे ज्यादा बहादुर' थी।

गदर के अंग्रेजी स्मारक कानपुर में और दूसरी जगहों में बना दिए गए हैं। उन हिंदुस्तानियों के, जिन्होंने अपनी जानें दीं, कोई स्मारक नहीं है। कभी-कभी विद्रोही हिंदुस्तानियों ने बड़ा क्रूर और बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया—वे लोग असंगठित थे, दबे हुए थे और वे अक्सर ब्रिटिश अत्याचारों की खबरों से नाराज हो उठते थे। लेकिन इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है, जिसने हिंदुस्तान के मस्तिष्क पर अपनी छाप डाली और मेरे सूत्रों में तो विशेष रूप से, गांवों और कस्बों में, उसकी याद बनी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति उसको भूल जाना चाहेगा क्योंकि वह एक बड़ी भयानक और घृणास्पद तस्वीर है और यद्यपि वर्तमान युद्ध में नाजियों द्वारा बर्बरता के नये मापदंड बन गए हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमें मनुष्य अपने बुरे से बुरे रूप में सामने आता है।

यद्यपि विद्रोह का सीधा प्रभाव देश के कुछ हिस्सों पर ही हुआ, लेकिन उसने सारे हिंदुस्तान को, और विशेषकर ब्रिटिश शासन को अकझोर दिया। सरकार ने फिर से सारे ढांचे का संगठन किया। ब्रिटिश ताज ने, अर्थात् पार्लामेंट ने, देश को ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले लिया। हिंदुस्तानी सेना, जिसने विद्रोह का आरंभ किया था, नये सिरे से संगठित हुई। ब्रिटिश राज्य की—जो अब अच्छी तरह स्थापित हो चुका था—प्रणाली अब स्पष्ट की गई, दृढ़ की गई और उसके अनुसार काम किया जाने लगा। उसकी बुनियादी बातें ये थीं : ऐसे निहित स्वार्थों को बनाए रखना और उनकी रक्षा करना, जो ब्रिटिश शासन से बंधे हुए थे, और यहां के विभिन्न भागों में संतुलन बनाए रखने की नीति और फूट डालने वाली प्रवृत्तियों

को बढ़ावा देना ।

राजा और बड़े जमींदार वे बुनियादी निहित स्वार्थ थे जो इस तरह पैदा किए गए और जिनको बढ़ावा दिया गया । लेकिन एक नया वर्ग और था, जो ब्रिटिश शासन से बंधा हुआ था और अब उसका महत्त्व बढ़ा । यह वर्ग उन हिंदुस्तानियों का था, जो नौकरियों में और विशेषकर छोटी जगहों पर थे ।

नीचे की नौकरियों में भारतीयकरण का क्रम आरंभ हो गया था, यद्यपि सभी वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के हाथ में थी । ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ, नौकरियों में बंगालियों का एकाधिपत्य कम हुआ और शासन के न्याय और व्यवस्था-संबंधी दोनों ही विभागों में और दूसरे हिंदुस्तानी भी आए । यह भारतीयकरण ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का सबसे अधिक कारगर उपाय हो गया । इस तरह हर जगह एक ऐसी सिविल फौज या एक ऐसा सिविल अह्म बन गया, जो अधिकार करने वाली हथियारबंद फौज से भी अधिक महत्त्व का था । इस सिविल फौज में कुछ ऐसे भी लोग थे जो योग्य थे और जिनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रवृत्ति थी, लेकिन सिपाही की तरह, जो व्यक्तिगत हैसियत से देशभक्त हो सकता था, वे नियम और अनुशासन में बंधे हुए थे, और आज्ञा न पालने, विश्वासघात और विद्रोह का दंड बहुत कठोर था । केवल यह सिविल फौज ही नहीं बनी, बल्कि उसमें भर्ती होने की उम्मीद का एक बहुत बड़ी तादाद पर, जो दिनों-दिन बढ़ रही थी, अस्तर हुआ, और उस अस्तर ने उन लोगों को बिगाड़ दिया ।

रोजगार और आजीविका के दूसरे साधनों के अभाव में सरकारी नौकरियों का महत्त्व और भी अधिक हो गया । कुछ लोग वकील या डाक्टर हो सकते थे, लेकिन केवल उसीकी वजह से सफलता होनी कोई जरूरी नहीं थी । उद्योग-धंधे न के बराबर थे । व्यापार कुछ विशिष्ट वर्गों के हाथों में था और उनमें उसके लिए खाल सूझ थी । वह पीढ़ी दर पीढ़ी उन्हीं लोगों के हाथों में रहता और वे लागू एक-दूसरे की मदद करते । नई शिक्षा से व्यापार या उद्योग-धंधे के लिए कोई योग्यता नहीं साबित होती थी; उसकी निगाह तो विशेषकर सरकारी नौकरी पर थी । शिक्षा इतनी संकरी थी कि किसी दूसरे पेशे की उसमें गुंजाइश नहीं थी; समाज-संन्यायी नौकरियों का प्रायः कोई अस्तित्व नहीं था ; इस तरह केवल सरकारी नौकरी । बची, लेकिन ज्यों-ज्यों कालेज के ग्रेजुएट्स बढ़ते गए, उन

नौकरियों में भी उन लोगों का खपना कठिन हो गया और उनमें पहुंचने के लिए भयंकर प्रतियोगिता होने लगी। बेकार ग्रेजुएटों का एक गिरोह हो गया जिसमें से सरकार हमेशा ही अपने लिए आदमी ले सकती थी; जो लोग नौकरियों में थे उनकी सुरक्षा के लिए ये लोग एक खतरा बन गए। इस तरह ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तान में सबसे बड़ी नौकरी देने वाली संस्था ही नहीं थी, बल्कि नौकरी देने वाली (रेलों की नौकरियां भी इसमें शामिल हैं) केवल वही एक बड़ी संस्था थी। इस तरह एक बहुत बड़ा नौकरशाही ढांचा तैयार हो गया, जिसकी व्यवस्था और जिसका नियंत्रण चोटी के आदमियों द्वारा होता था। यह कृपा देश पर ब्रिटिश पंजा कसने के लिए की गई। उसके द्वारा उन्हें अपने विरोधी तत्त्वों को कुचलना था और साथ ही उन लोगों में, जो सरकारी नौकरियों की तरफ आखें उठाए हुए थे, फूट और होड़ पैदा करनी थी। उसकी वजह से नैतिक अधःपतन हुआ, संघर्ष हुआ, क्योंकि शासन विभिन्न समुदायों को आपस में लड़ा सकता था।

एक बार फिर हमको हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का जन्मजात विरोधामास दिखाई देता है। उन्होंने सारे देश को एक राजनैतिक सूत्र में बांधा और इस तरह वे नई सक्रिय शक्तियां फूट पड़ीं जिन्होंने केवल उस ऐक्य की ही वाकत नहीं सोचा बल्कि उन्होंने हिंदुस्तान की स्वतंत्रता पर लक्ष्य किया। दूसरी तरफ ब्रिटिश शासन ने उसी एक को, जो उन्होंने स्वयं ही पैदा किया था, तोड़-फोड़ देने की कोशिश की। उस समय राजनैतिक दृष्टि से उस फूट के माने हिंदुस्तान के बंटवारे के नहीं थे। उसका उद्देश्य तो राष्ट्रवादी तत्त्वों को कमजोर करना था, ताकि सारे देश पर ब्रिटिश राज्य बना रहे। फिर भी विच्छेद के लिए यह एक कोशिश तो थी ही, क्योंकि हिंदुस्तानी रियासतों को इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया जितना कि उन्हें पहले कभी भी नहीं मिला था। प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को बढ़ावा दिया गया और उनकी सहायता की आशा की गई। विभाजन को, और हर एक समुदाय को हर दूसरे समुदाय के विरुद्ध प्रोत्साहन दिया गया। धार्मिक या प्रांतीय आधार पर ऐक्य को मिटाने वाली प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दिया गया और देशद्रोहियों के वर्ग का जो अपने पर असर डालने वाले हर परिवर्तन से घबराता था, संगठन किया गया। एक विदेशी साम्राज्यशाही शक्ति के लिए यह एक स्वाभाविक नीति थी, और यद्यपि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वह बहुत अधिक हानि पहुंचा

चाने वाली थी, फिर भी उत्तर आश्चर्य करना नासमझी होगी ।

६ : हिंदुओं और मुसलमानों में सुधार और दूसरे आन्दोलन

पच्छिम की असली टक्कर हिंदुस्तान से उन्नीसवीं सदी में हुई । विचारों के क्षेत्र में भी धक्का लगा और परिवर्तन हुआ, और वह क्षितिज, जो बहुत समय से एक संकरे खोल में घिरा हुआ था, विस्तृत हुआ । पहली प्रतिक्रिया अल्पसंख्यक अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग तक ही सीमित थी, और उसमें प्रायः हर पच्छिमी वस्तु के लिए प्रशंसा थी और उनकी स्वीकृति का भाव था । हिंदूधर्म की कुछ सामाजिक प्रथाओं और रीतियों से असंतोष के कारण बहुत-से हिंदू ईसाई धर्म की ओर खिंचे और बंगाल में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी अपना धर्म बदल लिया । इसलिए राजा राममोहनराय ने इस बात का प्रयत्न किया कि हिंदू धर्म को इस नये वातावरण के अनुरूप बनाया जाए, और उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की, जिसकी नींव समाज-सुधार पर थी और जिसे बुद्धि स्वीकार कर सकती थी । उनके उत्तराधिकारी केणवचद्र सेन ने उसमें ईसाई दृष्टिकोण को बढ़ा दिया । ब्रह्म-समाज का बंगाल के नये, बढ़ते हुए, मध्यमवर्ग पर प्रभाव हुआ, लेकिन एक धार्मिक विश्वास के रूप में वह बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित रहा, किंतु इन लोगों में कुछ प्रमुख व्यक्ति थे और कुछ प्रमुख घराने थे । ये घराने भी, यद्यपि इनकी धार्मिक और सामाजिक सुधार में बेहद उत्सुकता थी, धीरे-धीरे वेदांत के पुराने हिंदुस्तानी दार्शनिक आदर्शों की ओर लौटते हुए दिखाई दिए ।

हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी ऐसी ही खाने-पाने कर रही थीं और हिंदूधर्म के उस समय प्रचलित कठोर सामाजिक ढाँचे और बहुरूपिया स्वभाव के विरुद्ध असंतोष था । उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में एक बहुत बड़ा सुधार-आंदोलन आरंभ किया गया । इसको आरंभ करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती मुद्रा के रहने वाले थे, लेकिन इस आंदोलन का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब के हिंदुओं पर पड़ा । यह सुधार-आंदोलन या आर्यसमाज का, और इसकी पुकार थी कि 'वेदों की ओर चलो ।' इस पुकार का वास्तव में वह अर्थ था कि वेदों के समय के आर्य धर्म में वाद में जो कुछ बातें जुड़ गई थीं, उनको अलग कर दिया जाए । वाद में वेदांत-दर्शन दिष्ट

रूप में उन्नत हुआ, उसकी अद्वैतवाद की केन्द्रीय विचारधारा की, 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' के दृष्टिकोण की, और साथ ही और बहुत-से परिवर्तनों की जोरदार निंदा की गई। यहां तक कि वेदों की भी एक खास ढंग से व्याख्या की गई। आर्यसमाज, इस्लाम और ईसाई धर्म की, विशेषकर इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में था। इसमें अंदर से सुधार के लिए आंदोलन था और धर्मयुद्ध था और साथ ही बाहरी हमलों के विरुद्ध रक्षा के लिए यह एक संगठन था। इसने हिंदूधर्म में विधर्मियों की शुद्धि करके अपनाते की प्रथा डाली और इस तरह अपने मत में सम्मिलित करने वाले दूसरे धर्मों से उसके झगड़े की संभावना हो गई। आर्यसमाज, जिसमें बहुत-सी बातें इस्लाम से मिलती-जुलती थीं, हर हिंदू वस्तु का हिमायती हो गया। उसे दूसरे धर्मों का हिंदूधर्म पर अतिक्रमण सह्य नहीं था। महत्वपूर्ण बात यह है कि विशेषकर पंजाब और उत्तर प्रदेश के मध्यम वर्ग के हिंदुओं में यह फैला। एक समय ऐसा भी था जब सरकार इसको राजनैतिक क्रांतिकारी आंदोलन समझती थी, लेकिन सरकारी नौकरों की बहुत बड़ी संख्या ने इसको विल्कुल मान्य बना दिया। लड़के-लड़कियों के शिक्षा-प्रसार में इसने बहुत अच्छा काम किया है। साथ ही स्त्रियों की दशा सुधारने में और दलित जातियों की हैसियत और मान्यता को उठाने में भी इसने बहुत अच्छा काम किया है।

लगभग स्वामी दयानंद के ही जमाने में, बंगाल में एक दूसरे ही ढंग का व्यक्तित्व सामने आया और उसके जीवन ने बहुत-से नये अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों पर प्रभाव डाला। यह व्यक्तित्व था श्री रामकृष्ण परमहंस का, जो बहुत सरल पुरुष थे, विद्वान भी नहीं थे और वैसे उन्हें समाज-सुधार में भी कोई रुचि नहीं थी। लेकिन वह निष्ठावान मनुष्य थे। वह चैतन्य और दूसरे भारतीय संतों की ही परंपरा में थे। विशेषकर वह धार्मिक थे लेकिन बहुत ही उदार, और आत्म-साक्षात्कार की अपनी खोज में वह मुसलमान और ईसाई तत्त्वज्ञों के पास गए और उनके पास वर्षों तक रहे और उनके कठोर नियम-अनुशासन का पालन किया। कलकत्ता में वह कालीघाट में बसे और उनके असाधारण व्यक्तित्व और चरित्र ने धीरे-धीरे लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा। जो लोग इनको देखने गए, यहां तक कि वे लोग भी जो उनपर हंसा करते थे, जब उनके पास गए, तो उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए और ऐसे बहुत-से लोगों ने, जो पच्छिमी रंग में पूरी तरह रंग गए थे, वहां पहुंचकर यह अनुभव किया कि कोई

एक ऐसी चीज़ भी थी जो उनसे छू गई थी। धार्मिक विश्वास की दुनियादी बातों पर जोर देते हुए उन्होंने हिंदूधर्म और दर्शन के मूल-भित्त पहलुओं को एक-दूसरे के साथ जोड़ दिया। ऐसा जान पड़ता था कि उनके व्यक्तित्व से उन सबका प्रतिनिधित्व होता था। वास्तव में उनके क्षेत्र में दूसरे धर्म भी सम्मिलित थे। वह हर तरह की सांप्रदायिकता के विरोधी थे और उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सभी रास्ते सच की ओर ले जाते हैं। वे कुछ उन संतों की तरह थे, जिनके बारे में एशिया और यूरोप के पुराने इतिहास में हमको पढ़ने को मिलता था। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उनको समझना कठिन है, फिर भी वह हिंदुस्तान के बहुरंगे सांघे के अनुरूप थे और यहां के बहुत-से आदमियों के हृदय में उनके प्रति आदर और श्रद्धा थी, और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर एक दिव्य ज्योति थी। जिन लोगों ने उनको देखा, उनपर उनके व्यक्तित्व ने प्रभाव डाला और बहुत-से लोगों पर, जिन्होंने उनको नहीं देखा, उनके जीवन की कहानी का असर हुआ है। इन दूसरी तरह के लोगों में एक रोम्यां रोलां हैं, जिन्होंने परमहंसजी की और उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानंद की जीवनियां लिखी हैं।

विवेकानंद ने अपने गुरुभाइयों के साथ सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिसमें सांप्रदायिकता नहीं है। विवेकानंद का आधार अतीत में था, और उनमें हिंदुस्तान की देन का अधिमान था, लेकिन साथ ही जीवन की समस्याओं को हल करने का उनका ढंग इस जमाने का था, और वह हिंदुस्तान के बाते हुए और वर्तमान समय की खाई पर एक पुल की तरह थे। बंगला और अंग्रेजी में वे एक ओजस्वी वक्ता थे और बंगला गद्य और काव्य के एक सुन्दर लेखक थे। वह एक आकर्षक और रोवीले व्यक्ति थे और उनमें शान और गंभीरता भरी हुई थी, उनको अपने और अपने मिशन पर भरोसा था, साथ ही वह सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और हिंदुस्तान को आगे बढ़ाने की उनमें गहरी लगन थी। वेबस् और गिरे हुए हिंदू मस्तिष्क के लिए वह एक जीवनी औषधि के रूप में आए और इसका इन्होंने अपने पर भरोसा करना सिखाया और अपने पुराने समय की जानकारी कराई। सन् १८९३ में शिकागो में वह दुनिया-भर के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। एक साल उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका में बिताया, यूरोप की यात्रा एयेंस और कुस्तुंगुनिश तक की, और मिस्र, चीन और जापान भी गए। जहां कहीं भी वह गए

उन्होंने केवल अपनी उपस्थिति से ही नहीं बल्कि जो कुछ कहा, उससे और अपने कहने के ढंग से, एक हलचल मचा दी। एक बार इस हिंदू संन्यासी को देख लेने के बाद, उसे और उसके संदेश को मुला देना मुश्किल था। अमरीका में विवेकानंद को 'तूफानी हिंदू' कहा गया। पच्छिमी देशों की अपनी यात्रा का स्वयं उनपर बहुत असर पड़ा। उन्होंने अंग्रेजों की लगन की और अमरीकी जनता की दृढ़ता और बराबरी की भावना की प्रशंसा की। हिंदुस्तान में अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा कि किसी भी नये विचार के प्रचार के लिए अमरीका सर्वोत्तम क्षेत्र है। लेकिन पच्छिम के धर्म के स्वरूप ने उनको प्रभावित नहीं किया और भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। उनके विचार में हिंदुस्तान अपनी पतित दशा में भी प्रकाश का प्रतिनिधित्व करता था।

उन्होंने वेदांत दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार किया और उन्हें इस बात का बड़ा पक्का विश्वास था कि विचारणीय मानव-जाति के लिए आगे चलकर केवल वेदांत धर्म ही हो सकता था। कारण यह था कि वेदांत केवल आध्यात्मिक ही नहीं था, बल्कि तर्कसंगत था और साथ ही उसका बाहरी दुनिया की वैज्ञानिक खोजों से भी सामंजस्य था।" इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया और न वह किसी बाहरी मस्तिष्क की कृति है। वह स्वयंभू, स्वयं संहारक, स्वयं पोषक, एक अनंत अस्तित्व वाला है।" "वेदांत का आदर्श, मनुष्य की एकता और उसकी सहज दैवी प्रकृति का था; मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है, प्राणियों में मनुष्य सबसे बड़ा है लेकिन, 'अदृश्य वेदांत' को दैनिक जीवन में सजीव काव्यमय, हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पारंपरिक गाथाओं में से निकलकर उनका स्पष्ट नैतिक स्वरूप सामने आना चाहिए, और रहस्यपूर्ण योग के भीतर से एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोविज्ञान सामने आना चाहिए।" विवेकानंद ने कर्मकाण्ड की विवेचना की और खासतौर से ऊँचे वर्ण के लोगों की छूआछूत की बहुत ज़ोरों से निंदा की। "हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने का बर्तन है और हमारा धर्म है, 'मुझे न छुओ, मैं पवित्र हूँ।'"

विवेकानंद ने बहुत-सी बातें कहीं, लेकिन एक बात जिसको उन्होंने अपने व्याख्यानों और लेखों में बराबर कहा है, अभय है। उनकी दृष्टि में मनुष्य दयनीय पापी नहीं है बल्कि उसमें ईश्वर का

पच्छिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने में उन्होंने और किसी भी हिंदुस्तानी की अपेक्षा अधिक योग दिया है और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के आधार को विस्तृत किया है। वह हिंदुस्तान के सबसे बड़े अंतर्राष्ट्रवादी रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्होंने विश्वास किया, और उसके लिए काम किया, और वह हिंदुस्तान का संदेश दूसरे देशों को ले गए और दूसरे देशों का संदेश अपनी जनता के लिए लाए। फिर भी, इस अंतर्राष्ट्रीयता के होते हुए भी, उनके पैर हिंदुस्तान की धरती पर ही दृढ़ता से जमे रहे हैं और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से श्रोतप्रोत रहा है। साधारण क्रम के विरुद्ध, ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती गई, उनका दृष्टिकोण अधिक प्रांति-कारी होता गया। घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी सूती क्रांति के बड़े कारनामों के वह प्रशंसक थे, विशेषकर शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य और साम्य-भावना के। राष्ट्रीयता एक संकरी निष्ठा है, और एक अधिपति साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता का संघर्ष होने पर हर ढंग की उलझन और मायूसी होती है। जिस तरह एक दूसरे स्तर पर गांधीजी ने हिंदुस्तान की अपार सेवा की है उसी तरह टैगोर ने देश की इस रूप में बढ़ी भारी सेवा की है कि उन्होंने जनता को कुछ हद तक उसके सोच-विचार के संकरे घेरे से धकेलकर बाहर निकाला, और उसके दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया। रवीन्द्रनाथ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े मानव-हितैषी थे।

बीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में टैगोर और गांधी निश्चय ही हिंदुस्तान के दो प्रधान व्यक्ति रहे हैं। उनकी समान और विपरीत बातों की तुलना शिक्षाप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव या मानसिक गठन में एक-दूसरे से इतने अधिक भिन्न नहीं हो सकते। रवीन्द्रनाथ एक संभ्रांत कलाकार थे, जो आम लोगों से सहानुभूति रखने की वजह से लोकतंत्रवादी बन गए थे। वे मुख्यतया हिंदुस्तान की सांस्कृतिक परंपरा के प्रतिनिधि थे—उस परंपरा के जो जीवन को उसके पूरे रूप में स्वीकार करती है, और जिसमें नाच और गाने के लिए जगह है। गांधीजी विशेष रूप से साधारण जनता के व्यक्ति थे, और प्रायः हिंदुस्तानी विज्ञान का ही स्वरूप थे और वह हिंदुस्तान की दूसरी पुरानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। यह परंपरा भी संन्यास और त्याग की। फिर भी रवीन्द्रनाथ विशेषकर विचार-जगत के व्यक्ति थे और गांधीजी अनवरत कर्मण्यता के। दोनों का ही अपने-अपने ढंग से विश्वव्यापी दृष्टिकोण था और साथ ही दोनों ही पूरी तरह

हिंदुस्तानी थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न, किन्तु आपस में मेल रखने वाले, पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और एक-दूसरे के पूरक थे।

हिंदू मध्यम वर्ग में, फिर से अपने आध्यात्मिक और राष्ट्रीय उत्तराधिकार में विश्वास बढ़ाने में, श्रीमती एनीबेसेंट का प्रबल हाथ रहा। इस सबमें एक आध्यात्मिक और धार्मिक भावना मिली हुई थी, लेकिन साथ ही इसमें एक सुदृढ़ राजनैतिक पृष्ठभूमि भी थी। उठता हुआ मध्यम वर्ग राजनैतिक प्रवृत्ति वाला था और उसे धर्म की कोई विशेष खोज नहीं थी। उसे एक सांस्कृतिक नींव की आवश्यकता थी, जिसे वह पकड़ सकता और जिससे उसे अपनी क्षमता में विश्वास होता—एक ऐसी चीज जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती, जिसको विदेशी विजय और विदेशी शासन ने पैदा किया था। हर देश में राष्ट्रीयता की उन्नति के साथ, धर्म के अतिरिक्त एक ऐसी खोज होती है, और बीते हुए युग पर ध्यान देने का रुझान होता है। हिंदुस्तान के बीते हुए युग में कितने ही सांस्कृतिक पहलू हैं, और उसी महानता, सारी हिंदुस्तानी जनता की, चाहे वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो, एक मिला-जुला उत्तराधिकार है, और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात, कि बाद में उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया, उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती। हिंदू और मुसलमान की साधारण जनता में एक-दूसरे में छोट करना कठिन था, और ऊपरी वर्ग में ढंग-ढरें हिंदू और मुसलमान दोनों में ही एक थे। यही नहीं, उनकी एक-सी संस्कृति थी, एक-से रिवाज थे, और एक-से त्योहार थे। मध्यमवर्ग मनोवैज्ञानिक रूप से अलग-अलग हुए, और बाद में और दूसरी तरह के भेद भी आ गए।

ज्यों-ज्यों ग़दर के आतंक के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे, उनके मस्तिष्क में एक खोखलापन आया और खाली जगह को भरने के लिए किसी चीज की आवश्यकता थी। अनिवार्यतः ब्रिटिश-हुकूमत को तो मंजूर करना ही था। लेकिन एक नई सरकार ही सामने नहीं आई, बल्कि उसके साथ उलझन और घबराहट आई और आत्मविश्वास चला गया। नई तालीम से वे अब भी अलग थे। धीरे-धीरे बहुत कठिनाई और बहस-मुवाहसे के बाद सर सैयद अहमद खां ने उनके मस्तिष्क को अंग्रेजी शिक्षा की ओर मोड़ा, और अलीगढ़ कॉलेज स्थापित किया। सरकारी नौकरी के लिए केवल वही एक रास्ता था और इस

नांकरी का लालच इतना प्रबल सिद्ध हुआ कि पुराना विरोध और पुरानी धारणाएं ठहर न सकीं। यह बात, कि हिंदू शिक्षा में और नांकरियों में बहुत आगे निकल गए थे, नापसंद की गई और स्वयं वैसा ही करने के लिए एक प्रबल तर्क सिद्ध हुई। पारसी और हिंदू तो उद्योग-धंधों में भी आगे बढ़ रहे थे, लेकिन मुसलमानों की निगाह केवल सरकारी नांकरियों की ओर थी।

लेकिन इस नई प्रवृत्ति ने, जो वास्तव में कुछ थोड़े-से ही लोगों तक सीमित थी, उनके मस्तिष्क के झक और उत्तर्जन को दूर नहीं किया। हिंदुओं ने ऐसी ही दिशा में पीछे दृष्टि डाली थी और प्राचीन युग में शांति की खोज की थी। पुराना दर्शन, पुरानी कला और पुराने साहित्य और इतिहास से उन्हें कुछ शांति मिली। राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और दूसरे लोगों ने नई विचारधारा के आंदोलन चलाए थे। जबकि एक ओर तो उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के भरे-पूरे भंडार से लाभ उठाया था, दूसरी ओर उनके मस्तिष्क प्राचीन संतों और शूरवीरों से भरे हुए थे। उनके मस्तिष्क में इनके विचार और काम थे और वे गाथाएं और परंपराएं थीं जिनको उन्होंने अपने बचपन से बराबर सीखा था।

सांस्कृतिक नींव की खोज में हिंदुस्तानी मुसलमान (यानी उनमें बीच के वर्ग के कुछ लोग) इस्लामी इतिहास की ओर गए, और वे उस काल में पहुंचे, जब इस्लाम बगदाद, स्पेन, कुस्तंतुनिया, मध्य एशिया आदि में विजेता के रूप में छाया हुआ था। इस इतिहास में दिलचस्पी हमेशा रही है और पड़ोसी इस्लामी देशों से कुछ संबंध भी रहे थे। मक्का में हज के लिए यात्री जाते थे, और यहां उनकी दूसरे देश के मुसलमानों से भेंट होती थी। लेकिन ये सब संबंध सीमित थे, और सतही थे, और इसका हिंदुस्तानी मुसलमानों के साधारण दृष्टिकोण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। वह तो केवल हिंदुस्तान तक सीमित था। दिल्ली के अफगान बादशाहों ने, खास तौर से मुहम्मद तुगलक ने काहिरा के खलीफा को अपना सरपरस्त माना था। बाद में कुस्तंतुनिया के आटोमन बादशाह खलीफा बन गए, लेकिन उनको हिंदुस्तान में माना नहीं जाता था। हिंदुस्तान के मुगल बादशाहों ने किसी खलीफा को या हिंदुस्तान के बाहर के किसी धार्मिक नेता को अपना संरक्षक नहीं माना। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में मुगल-शक्ति समाप्त होने के बाद ही हिंदुस्तान की मस्जिदों में तुर्कों के सुल्तान का नाम लिया जाना शुरू हुआ। गदर के बाद यह आम

रखीया हो गया ।

इस तरह हिंदुस्तान के मुसलमानों ने इस्लाम के उस पुराने बड़प्पन से कुछ मनोवैज्ञानिक संतोष पाना चाहा, जो विशेषकर दूसरे देशों में था । तुर्की के स्वतंत्र मुस्लिम शक्ति बने रहने पर (और इस वक्त तुर्की ही एकमात्र स्वतंत्र मुस्लिम शक्ति थी) उन्होंने अभिमान किया । इस भावना का हिंदुस्तानी कमिअत से कोई संघर्ष या विरोध नहीं था । वास्तव में स्वयं बहुत-से हिंदू इस्लामी इतिहास से सुपरिचित थे, और वे उसके प्रशंसक थे । उन्होंने तुर्की के साथ सहानुभूति प्रकट की, क्योंकि उन्होंने उसे यूरोपीय अनाचारों का एशियाई शिकार समझा । फिर भी एक भेद था, और हिंदुओं के लिए इस भावना ने वह मनोवैज्ञानिक आवश्यकता पूरी नहीं की, जो मुसलमानों के लिए पूरी हुई ।

गदर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमान इस शिक्षक में थे कि कितने रास्ते को अपनाएं । ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझकर उनका हिंदुओं से भी अधिक दमन किया था । इस दमन से विशेषकर मुसलमानों के उस हिस्से पर असर पड़ा था, जिससे नया बीच का वर्ग या 'बुजुर्ग' वर्ग पैदा होता । उन्होंने बहुत मायूसी अनुभव की, और वे बहुत अधिक ब्रिटिश-विरोधी थे, और साथ ही रूढ़िवादी और अनुदार थे ! तन् १८७० के बाद उनकी और ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन आया और वह उनके अनुकूल हुई । इस परिवर्तन का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की संतुलन की नीति थी, जिसको बराबर बताना पड़ा था ।

फिर भी बहुत-से प्रसिद्ध मुसलमान कांग्रेस के ब्रिटिश नीति अब निश्चित रूप से मुसलमानों के लिए कि मुसलमानों के उस वर्ग की तरफदार हो रहे थे, जो ब्रिटिश के विरुद्ध थे । लेकिन बीसवीं सदी के शुरू में राष्ट्रीय और राजनैतिक कार्यवाही में इस तरफ से ध्यान हटाकर उन्हें तन् १९०६ में, ब्रिटिश प्रेरणा के अग्राणी आगरा खां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के उद्देश्य थे—एक तो ब्रिटिश मुस्लिम स्वार्थों की रक्षा !

अबुल कलाम आझाद ने एक नई भाषा में

के विचार से ही नई नहीं थी, बल्कि उसका गठन भी दूसरे ढंग का था। उसकी वजह यह थी कि आज़ाद की शैली में जोर था, मर्दानगी थी और अपनी फारसी पृष्ठभूमि के कारण कभी-कभी वह समझने में कुछ कठिन होती थी। उन्होंने नये विचारों के लिए नई शब्दावली का प्रयोग किया और उर्दू भाषा आज जैसी भी है, उसको बनाने में, एक निश्चित प्रभाव डाला। मुसलमानों के पुराने कट्टरपंथी नेताओं में इस सबके लिए अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई, और उन्होंने आज़ाद के विचारों और उनके दृष्टिकोण की आलोचना की। लेकिन उनमें से योग्य से योग्य व्यक्ति भी आज़ाद से बहस या तर्क में, यहां तक कि धर्म-ग्रंथों और पुरानी परंपराओं की बुनियाद पर भी, आसानी से टक्कर नहीं ले सकते थे। वजह यह थी, कि इन चीजों के बारे में, उनकी अपेक्षा आज़ाद की जानकारी अधिक थी। उनमें मध्ययुग की विद्वत्ता अठारहवीं सदी के तर्कवाद और मांजूदा वर्तमान समय के दृष्टिकोण का एक अद्भुत मेल था।

अबुल कज़ाम आज़ाद ने कट्टरता के और राष्ट्रीयता-विरोधी इस गढ़ पर हमला किया। सीधे तौर पर नहीं, बल्कि ऐसे विचारों का प्रचार करके, जो अलीगढ़ की परंपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमान विचारवानों में इस नवयुवक लेखक और सम्पादक ने हलचल मचा दी। नई पीढ़ी के मस्तिष्क में उनके शब्दों से एक उवाल पैदा हुआ। यह उवाल तुर्की, मिस्र, ईरान और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से पहले ही शुरू हो चुका था। आज़ाद ने उसको एक निश्चित धारा दी, और उन्होंने यह जताया कि इस्लाम और इस्लामी देशों से सहानुभूति में, हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता में कोई संघर्ष नहीं था। इससे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के पास लाने में मदद मिली। आज़ाद स्वयं भी, लीग के पहले ही जल्से में, जबकि वह लड़के ही थे, शरीक हुए थे। चार साल तक वह कैद में रखे गए और जब वह बाहर आए, तो उन्होंने तुरन्त ही नेशनल कांग्रेस के नेताओं में अपनी जगह प्राप्त कर ली। तब से वह बराबर कांग्रेस की सबसे ऊंची कार्यकारिणी में रहे, और उस वक्त भी अपनी कम उम्र के होते हुए, वह कांग्रेस के बड़ों में गिने गए। राष्ट्रीय और राजनैतिक मामलों में और साथ ही सांप्रदायिक या असंतुल्यक समस्या के तिलसिले में उनकी सलाह की बहुत कद्र की जाती है। दो बार वह कांग्रेस के समापति रहे हैं, और कई बार उन्होंने लम्बी मुद्दतें जेल में बिताई हैं।

७ : भारी उद्योग-धन्धों का आरम्भ : पृथक निर्वाचिका

इस काल में बहुत-से परिवर्तन हुए । हिंदुस्तान में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की जमात बढ़ रही थी । वह असंगठित थी और बेवस्त थी और यह जमात उन किसानों में से ही तैयार हुई थी जिनका रहन-सहन का मापदंड बेहद नीचा था और इस बात से उनकी मजदूरी की बढ़ती में या उनकी दशा सुधार में रुकावट हुई । जहां तक बे-हुनर मजदूरों का सवाल है, करोड़ों बेकार आदमी थे और उनमें से काम करने के लिए आदमियों को रखा जा सकता था और ऐसी हालत में कोई हड़ताल सफल नहीं हो सकती थी । सबसे पहली ट्रेड यूनियन कांग्रेस सन् १९२० के आसपास हुई । इस मजदूर-वर्ग की गिनती इतनी काफी नहीं थी कि उससे हिंदुस्तानी राजनैतिक क्षेत्र में कोई प्रभाव पड़ता । किसानों और जमीन के मजदूरों की तुलना में वे नहीं के बराबर थे । सन् १९२० के बाद, कारखानों के मजदूरों की आवाज सुनाई पड़ने लगी, लेकिन वह बहुत कमजोर थी । अगर रूसी क्रांति ने लोगों को कारखानों के मजदूरों को महत्त्व देने के लिए विवश न किया होता, तो शायद उनकी अवहेलना कर दी जाती । कुछ बड़ी और सुसंगठित हड़तालों की ओर भी ध्यान गया ।

इन क्रांतिकारी विचारों का मुसलमान नवयुवकों पर भी असर हो रहा था । अलीगढ़ कॉलेज ने इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की और इसी समय सरकारी प्रेरणा से आगा खाने ने और दूसरे लोगों ने मुसलमानों के लिए एक राजनैतिक मंच बनाने और इस तरह उनको कांग्रेस से अलग रखने के लिए मुस्लिम लीग को शुरू किया । इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचिका का निर्णय किया गया । हिंदुस्तान के भविष्य पर यह एक प्रभाव डालने वाली बात थी । भविष्य में मुसलमान केवल पृथक मुसलमान-निर्वाचन-क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे । उनके चारों तरफ एक राजनैतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिंदुस्तान से अलग कर दिया गया । इस तरह आपस में बुल-मिलकर एक हो जाने की वह प्रक्रिया, जो सदियों से चल रही थी और जो वैज्ञानिक प्रगति से अनिवार्य रूप से तेज हो रही थी, अब उलट दी गई । यह दीवार आरंभ में छोटी-सी थी क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित था लेकिन हर बार मताधिकार के

बढ़ती गई और उससे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढांचे पर इस तरह प्रभाव पड़ा, मानो सारे ढांचे में घुन लग गया हो। इससे म्युनिसिपल और स्थानीय स्वराज-संस्थाओं में विप फैला और अंत में बेहद गलत ढंग का विभाजन हुआ। काफी बाद में पृथक मुस्लिम ट्रेड यूनियन बनी, अलग विद्यार्थी संगठन बने, और अलग व्यापारी चेंबर कायम हुए। चूंकि मुसलमान इन सारे कामों में पिछड़े हुए थे, इसलिए ये संस्थाएं अपने-आप पैदा नहीं हुईं, बल्कि इनको ऊपर से कृत्रिम रूप से बनाया गया और उनका नेतृत्व पुराने ढंग के अध-सामंती लोगों के हाथों में रहा। इस तरह कुछ हद तक मुस्लिम मध्यवर्ग—यहां तक कि आम मुस्लिम वर्ग भी—उन्नति की उन धाराओं से अलग हो गया जो शेष हिंदुस्तान पर प्रभाव डाल रही थीं। हिंदुस्तान में ऐसे बहुत-से निहित स्वार्थ थे, जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था, या जिनकी उसने रक्षा की थी। अब पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों का एक नया और प्रबल निहित स्वार्थ पैदा किया गया।

यह कोई ऐसी अस्थायी खराबी नहीं थी, जो बढ़ती हुई राज-नैतिक चेतना के साथ समाप्त हो जाती। सरकारी नीति से पोषण पाकर वह बढ़ी और चारों तरफ फैली, यहां तक कि उसने देश की सारी असली समस्याओं को, चाहे वे राजनैतिक हों या सामाजिक या आर्थिक, ढंक लिया है। इससे बटवारे पैदा हुए और भेद पैदा हुए और वह भी ऐसी जगहों में कि जहां पहले उसका नाम भी नहीं था।

ऐसे समुदायों और अल्पसंख्यकों से, जो शिक्षा की दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, वस्तुतः की स्पष्ट नीति यह थी कि उनको अपनी कमी पूरी करने की हर ढंग से मदद की जाती। विशेष-कर इस काम में एक प्रगतिशील शिक्षण-नीति से मदद मिलती। मुसलमानों के लिए और दूसरे अल्पसंख्यकों के लिए, या दलित वर्ग के लिए, जिसको इसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, ऐसी कोई भी चीज नहीं की गई। सारा तर्क नौकरियों में छोटी-छोटी जगहों के लिए था और बजाय मापदंड ऊंचा उठाने के, अवसर योग्यता का बलिदान किया जाता।

इस तरह पृथक निर्वाचन से वे समुदाय, जो कमजोर थे या पिछड़े हुए थे, और अधिक कमजोर हो गए। उससे पार्थक्य की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एकता की उन्नति में रुकावट पड़ी। पृथक निर्वाचन के अर्थ थे लोकतंत्र से इनकार। उसने अत्यन्त प्रतिक्रियावादी ढंग के नये निहित स्वार्थ पैदा किए, उससे मापदंड नीचे हो गए, और

उसने सारे ही देश के सामने जो असली आर्थिक समस्याएं थीं, उनसे ध्यान हटा दिया। ये पृथक निर्वाचन-क्षेत्र-मुसलमानों से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्पसंख्यकों और दूसरे समुदायों में भी फैल गए। यहां तक कि हिंदुस्तान इन अलग-अलग हिस्सों का एक जमघट बन गया। उनसे हर ढंग की पार्यक्य की प्रतिक्रिया पैदा हुई और अंत में हिंदुस्तान के ही बटवारे की मांग की गई।

८ : मध्यवर्ग की बेवसी : गांधीजी का आगमन

पहला महायुद्ध आरंभ हुआ। राजनीति उतार पर थी। उसका मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस दो हिस्सों—गरम दल और नरम दल—में बंटी हुई थी। साथ ही युद्ध के समय की रुकावटें और पाबंदियां थीं। फिर भी एक प्रवृत्ति विशेषकर दिखाई पड़ रही थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए मध्यवर्ग की विचारधारा अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती जा रही थी और यह मध्यवर्ग मुस्लिम लीग को कांग्रेस की ओर धकेल रहा था। यहां तक कि उन दोनों ने हाथ भी मिला लिए।

हम क्या कर सकते थे? गरीबी और पस्तहिम्मती की इस दल-दल से, जो हिंदुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी, हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे? उत्तेजना, तकलीफ और उलझन के कुछ बरसों से ही नहीं, बल्कि लंबी पीढ़ियों से हमारी जनता ने अपने खून और मेहनत, आंसू और पसीने की भेंट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा में यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गई थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन के हर एक पहलू में चिप डाल दिया था।

और तब गांधीजी का आगमन हुआ। गांधीजी ताजी हवा के उस प्रवल झोंके की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया। वह रोगनी की उस फिरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस ववंडर की तरह से थे, जिसने बहुत-सी चीजों को, विशेषकर मजदूरों के विचारों को उलट-पुलट दिया। गांधीजी ऊपर से आए हुए नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तान की करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी जो ग्राम लोगों की थी, और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी भयावह स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तब...

किसानों और मजदूरों के शोषण पर निर्वाह करते हो, उनके ऊपर
 हट जाओ; उस व्यवस्था को, जो गरीबी और तकलीफ को जड़
 दूर करो। तब राजनतिक स्वतंत्रता का एक नया रूप सामने आया
 और उसमें एक नया अर्थ पैदा हुआ। उनकी अधिकतर बातों को हमने
 आंशिक रूप में माना और कभी-कभी तो विल्कुल ही नहीं माना।
 लेकिन यह सब एक गौण बात थी। उनकी सीख का सार था निर्म-
 यता और सत्य; और इन दोनों के साथ सक्रियता मिली हुई थी और
 उसमें हमेशा आम लोगों की बेहतरी का ध्यान था। हमारी प्राचीन
 पुस्तकों में यह कहा गया था कि किसी मनुष्य या किसी राष्ट्र के लिए
 सबसे बड़ा उपहार है अभय—निर्मयता—केवल शारीरिक हिम्मत
 ही नहीं, बल्कि मस्तिष्क से डर का हट जाना। हमारे इतिहास के
 ही प्रभात में जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जनता के नेताओं
 का काम जनता को निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश राज्य के अंदर
 हिंदुस्तान में जो सबसे प्रमुख भावना थी, उसमें डर—कुचलने वाला
 दम घोटने वाला, मिटा देने वाला डर था; फौज का, पुलिस का, चारों
 तरफ फैले हुए खुफिया विभाग का डर था—अफसरों के वर्ग का डर
 था; कुचलने वाले कानूनों और जेल का डर था; जमींदार के कारि-
 का डर था; साहूकार का डर था; बेकारी और भूख मरने का डर
 था, जो सदा ही पास बने रहते थे। चारों तरफ समाए हुए इस डर
 के ही विरुद्ध गांधीजी की शांत, किंतु दृढ़, आवाज उठी 'डरो मत'।
 इस तरह मानो अचानक ही लोगों के ऊपर से डर का का-
 लबादा हटा दिया गया—यह नहीं कि वह पूरी तरह हटा दिया ग-
 नेकिन फिर भी एक बहुत बड़ी एक आश्चर्यजनक हद तक तो
 ही दिया गया। चूंकि डर झूठ का निकटस्थ मित्र है, इसलिए
 रता के साथ सत्य आता ही है। हिंदुस्तान की जनता जैसी भी
 उससे कोई बहुत अधिक सच बोलने वाली नहीं बन गई, और न
 जनता ने रातोंरात अपने बुनियादी स्वभाव को ही बदल दि-
 फिर भी एक बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा, क्योंकि झूठ और लूक-
 कर काम करने की आवश्यकता कम हो गई। यह परिवर्तन
 वैज्ञानिक था, ठीक इस ढंग से, मानो कोई मनोबिप्लेवक प्रक्रि-
 विशेषज्ञ रोगी के भूतकाल में गहरा घुस गया हो और उसने उस-
 की मानसिक विकृति के कारण को जानकर, उसे रोगी के
 खोल दिया हो और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा
 दिया हो।

हिंदुस्तान में अलग-अलग हृद तक गांधीजी ने करोड़ों आदमियों पर असर डाला; कुछ लोगों ने तो अपनी जिंदगी का ताना-बाना पूरी तरह बदल दिया, दूसरे लोगों पर थोड़ा-सा असर हुआ और वह असर पूरी तरह तो नहीं, लेकिन फिर भी, मिट गया। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं और हर एक आदमी इस सवाल का अपना अलग जवाब देगा। कुछ लोग तो कदाचित् मुकरात के संबंध में कहे गए एल्किवियेडीज के शब्दों में कहें—'ठीक उस समय जबकि मैं उसे बोलते हुए सुनता हूं, तो मैं एक ढंग के पवित्र आवेश से उत्तेजित हो उठता हूं और मेरा हृदय तुरन्त जीभ पर आ जाता है और मेरी आंखों में आंसू आ जाते हैं—आह, यह सिर्फ मेरे साथ ही नहीं होता, बल्कि यही हाल और बहुत-से लोगों का भी होता है !”

६ : गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस एक गतिशील संस्था बन जाती है

कांग्रेस संस्था में गांधीजी पहली बार प्रविष्ट हुए और तुरन्त ही उस संस्था के संविधान में पूरी तरह परिवर्तन आया। उन्होंने कांग्रेस को लोकतंत्री और सार्वजनिक संस्था बना दिया। वैसे तो पहले भी यह लोकतंत्री थी लेकिन पहले उसके मतदाताओं का क्षेत्र संकुचित था, और वह केवल बड़े लोगों तक ही सीमित थी। अब उसमें किसान भी आए और अपने नये रूप में अब वह किसानों की एक बहुत बड़ी संस्था मालूम पड़ने लगी और उसमें बीच के दर्जे के लोगों का यद्यपि उनकी संख्या थोड़ी थी, काफी मिश्रण था। यह खेतिहर पहलू बढ़ने वाला था। कारखानों के मजदूर भी उसमें आए, लेकिन वे केवल अपनी व्यक्तिगत हैसियत से, न कि अपने पृथक और संगठित रूप में।

इस संस्था का उद्देश्य और उनकी बुनियाद थी सक्रियता—ऐसी सक्रियता, जिसकी बुनियाद शांतिपूर्ण ढंग पर थी। अब तक जो रवैया था वह यह था, केवल बात करना और प्रस्ताव पास करना, या आतंकवादी काम करना। इन दोनों को ही अलग हटा दिया गया और आतंकवाद की तो विशेषकर निंदा की गई, क्योंकि वह तो कांग्रेस की बुनियादी नीति के विरुद्ध था। काम करने का एक नया ढंग निकाला गया, जो वैसे तो बिल्कुल शांतिपूर्ण था, लेकिन साथ ही उसमें जिन चीजों को गलत समझा जाता था, उसके सामने सिर झुकाना स्वीकार नहीं किया गया था। इस तरीके में जो कष्ट थे, उनको सहन करने की

नीकृति थी। गांधीजी एक अद्भुत प्रकार के शांत आदमी थे, क्योंकि ह तो सक्रिय थे और उनमें गतिशील शक्ति भरी हुई थी। भाग्य या तो कुछ वह बुरा समझते थे, उसके सामने उनमें सिर झुकाने की भावना नहीं थी। उनमें सामना करने की शक्ति भरी हुई थी। हां, उनका ढंग शांतिपूर्ण और मीठा था।

सक्रियता की पुकार दोहरी थी। स्पष्ट है कि विदेशी राज्य को चुनौती देने और उसका सामना करने की सक्रियता तो थी ही, साथ ही अपनी निजी सामाजिक कुरीतियों का सामना करने की सक्रियता भी थी। कांग्रेस के आधारभूत उद्देश्य हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के अतिरिक्त और शांतिपूर्ण सक्रियता के साथ, कांग्रेस के मुख्य आधार थे—राष्ट्रीय एकता, जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्याओं को हल करना सम्मिलित था, और दलित जातियों को ऊपर उठाकर छूआछूत के अभिशाप को समाप्त करना।

ब्रिटिश राज्य की वास्तविक बुनियाद डर, रौब और उस सहयोग पर थी, जो वे लोग मन या बे-मन से देते थे, जिनके निहित स्वार्थ ब्रिटिश राज्य में केन्द्रित थे। गांधीजी ने इन बुनियादों पर चोट की। उन्होंने कहा कि खिताबों को छोड़ो; और यद्यपि बहुत अधिक लोगों ने खिताब नहीं छोड़े, फिर भी अंग्रेजों द्वारा दिए हुए खिताबों का जनता में आदर जाता रहा और ये अधःपतन के प्रतीक बन गए। नया माप-दंड बना और नया मूल्यांकन हुआ और वाइसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान और सजावटें, जो इतना प्रभाव डाला करती थीं अब जनता की हृदयों की गरीबी और कष्ट के वातावरण में बेहोश भई, नामुनासिब, यहां तक कि लज्जाजनक मालूम पड़ने लगीं। अमीर आदमी अपनी दौलत का शानदार दिखावा करने के लिए उत्सुक नहीं थे। कम से कम ऊपरी तौर पर उनमें से बहुत-से लोगों ने अपना रहन-सहन सादा बनाया और केवल उनकी पोशाक से उनमें भी बराबरी में मामूली आदमियों में कोई अंतर नहीं मालूम पड़ सका था।

कांग्रेस के पुराने नेता, जो एक अलग और अधिक निष्क्रिय परंपरा में पले हुए थे, इस नये परिवर्तन को सहज में अपना नहीं सके और साधारण जनता के उभार से उन्हें परेशानी हुई। फिर भी विचार और भावनाओं की जो लहर देश में बही, वह इतनी प्रचल थी कि वे लोग भी कुछ हद तक उसके नशे से भर गए।

गांधीजी ने हमको गांवों में भेजा, और सक्रियता के नये सं

को ले जाने वाले अनगिनत दूतों के काम-काज से देहात में चहल-पहल मच गई। किसान को झकझोरा गया और वह अपनी निष्क्रियता की खोल से बाहर निकलने लगा। हम लोगों पर असर दूसरा था लेकिन कम गहरा नहीं था, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि हमने पहली बार ग्रामीण को कच्ची झोंपड़ी और भूख की उस छाया से, जो उसका हमेशा पीछा करती रहती थी, चिपटे हुए देखा। हमने पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों की अपेक्षा अपना हिंदुस्तानी अर्थशास्त्र इन आंखों-देखी हालतों से अधिक जाना। वह भावनात्मक अनुभव जो हमको पहले हो चुका था, अब पक्का हुआ और उसके प्रमाण सामने आए। इसलिए आगे चलकर हमारे विचारों में और चाहे जो परिवर्तन होता, अब अपने जीवन के पुराने ढर्रे और पुराने मापदंड पर लौटा नहीं जा सकता था।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे विषयों में गांधीजी के विचार बहुत कड़े थे। उन्होंने इन सबको कांग्रेस पर लादने का प्रयत्न नहीं किया। हां, उन्होंने अपनी विचारधारा का बराबर पोषण किया और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अपने लेखों के द्वारा उसमें परिवर्तन भी किया, लेकिन कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में पैठाने की कोशिश की। वह बड़ी सावधानी से आगे बढ़े, क्योंकि वह जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। दो तरह से, उनके विचारों की पृष्ठभूमि का धुंधला लेकिन बहुत पर्याप्त प्रभाव हुआ। एक तो यह कि हर बात की बुनियादी कसौटी यह थी कि वह साधारण जनता को किस हद तक लाभ पहुंचाती है, और दूसरे यह कि चाहे उद्देश्य सही ही क्यों न हो, लेकिन साधनों का हमेशा खयाल होना चाहिए और उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि साधनों का असर उद्देश्य पर पड़ता है और ये उद्देश्य में परिवर्तन पैदा कर सकते हैं।

गांधीजी विशेषकर एक धार्मिक व्यक्ति थे, जो अपने अस्तित्व के अंतरतम से भी हिंदू थे, फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परंपरा, किसी कर्मकाण्ड या किसी प्रचलित धारणा से कोई भी संबंध नहीं था। बुनियादी तौर पर उनका संबंध तो उन नैतिक कानून से था, जिसको उन्होंने प्रेम या सत्य के कानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उनको एक ही वस्तु या एक ही वस्तु के अलग-अलग पहलू मालूम देते हैं और उसके लिए दोनों में एक ही शब्द में दोनों के अर्थ आ जाते हैं। हिंदूधर्म की बुनियादी भावना को समझने का दावा करते हुए भी वह ऐसी हर श्रिया और हर चीज को

उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीजों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अधभूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और न संगठन।" करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज भी काम की हो सकती है, वही मेरे विचार में सुंदर वस्तु है। आज हम सबसे पहले जीवन देने वाली चीजों को महत्त्व दें, और उसके बाद जीवन के सारे अलंकार और उनकी सारी परिष्कृतियां अपने-आप आ जाएंगी। मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूं जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आंख से हर एक आंसू पोंछ दिया जाए।"

यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप से दृढ़ व्यक्ति ने, जिसमें आत्मविश्वास है और एक असाधारण ढंग की शक्ति भरी हुई है और जो हर इन्सान की बराबरी और स्वतंत्रता का हिमायती है, और जिसके यहां गरीब से गरीब आदमी का खयाल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंबक की तरह उनको अपनी तरफ खींचा।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीब ढंग का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस सन्निय थी, आंतिकारी थी और कई पहलुओं वाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने विरुद्ध निर्णयों को भी स्वीकार कर लिया। अपने लिए कुछ विशिष्ट बातों में गांधीजी जिद्दी थे, और कई अवसरों पर उनका और कांग्रेस का नाता टूट-गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और प्रबल राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को गुलाम बनाने वाले सभी लोगों के वह कभी न झुकने वाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे—वैसे चाह वे बहुत-से मामलों में गांधीजी से गहमत न रहते हों। जिस समय कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस समय लोगों ने उनके नेतृत्व को सदा ही स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब संघर्ष अनिवार्य हुआ, तो वह प्रतीक सबसे अधिक महत्त्व का बन गया और जेप सब चीजें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० में नेशनल कांग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने, इस नये, अनदेखे रास्ते को अपनाया, और उनकी ब्रिटिश-

कर देते जो उनकी उचित आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती।
उनका कहना है कि ये चीजें या तो बाद में जोड़ दी गई हैं या बिगड़ी
हुई शक्तों में हैं। गांधीजी ने कहा है—“उस प्रचलित ढंग या रीति
का, जिसको मैं समझ नहीं सकता हूँ या नैतिक आधार पर मैं जिसकी
हिमायत नहीं कर सकता हूँ, मैं गुलाम होने को तैयार नहीं हूँ।” जिस
सुधार और जिस शिक्षा की वह दूसरों को सलाह देते हैं, उसपर वह
पहले स्वयं अमल करते हैं। वह हमेशा चीजों को अपने-आपसे शुरू
करते हैं और उनके शब्दों और कार्यों में इस तरह का मेल होता है
जैसा कि हाथ में और दस्ताने में होता है। और इसलिए चाहे जो कुछ
होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी लुप्त नहीं होता, और
उनके जीवन और कार्यों में सदा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई दे
है। अपनी असफलताओं में भी वह ऊंचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस सांचे में वह हिं
स्तान को ढालने जा रहे थे वह क्या था? “मैं उस हिंदुस्तान के
काम करूंगा, जिसमें गरीब से गरीब भी यह अनुभव करेगा कि यह उ
देश है और जिसके निर्माण में उसकी अपनी कारगर आवाज है—
हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मेल के साथ रहेंगी।
हिंदुस्तान में छूआछूत के या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी
हो सकती।... स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे
जों के हैं।... जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूँ वह य
ह एक और स्वयं उन्हें अपने हिंदू उत्तराधिकार का अभिम
ह साथ ही उन्होंने हिंदूधर्म को एक विश्वव्यापी रूप देने क
लिया और सत्य के घेरे में सब धर्मों को सम्मिलित किया
संस्कृतिक विरासत को संकरा करने से उन्होंने इन्कार किया
लेखा है—“हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिल्कुल हिंदू ही है
बिल्कुल मुसलमानी।” आगे चलकर वह कहते हैं—“मैं चा
पर मैं सब देशों की संस्कृति अधिक से अधिक स्वतंत्रता के
लेकिन उनमें से कोई भी मुझे वहां ने जाए, यह मैं न चाह
लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे
तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूँ।” आधुनिक विचारधार
असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने
वह उनको दृढ़ता से पकड़े रहे हैं।
हिंदुस्तान के ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर के गरीब
जैसों के साथ उनकी अदभुत सहानुभूति थी। इन गिरे

उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीजों की तरह धर्म का गौण स्थान था। "एक अधभूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, कला और न संगठन।" करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज भी का की हो सकती है, वही मेरे विचार में सुंदर वस्तु है। आज हम सब पहले जीवन देने वाली चीजों को महत्व दें, और उसके बाद जीवन के सारे अलंकार और उनकी सारी परिष्कृतियां अपने-आप ब जायेंगी। मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूँ जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आंख से हर एक आंसू पोंछ दिया जाए।"

यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप में दृढ़ व्यक्ति ने, जिसमें आत्मविश्वास है और एक असाधारण दंग की शक्ति भरी हुई है और जो हर इन्सान की बराबरी और स्वतंत्रता का हिमायती है, और जिसके यहां गरीब से गरीब आदमी का खयाल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंबक की तरह उनको अपनी तरफ खींचा।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीब दंग का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, आंतिकारी थी और कई पहलुओं वाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थी। अबसर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने विरुद्ध निर्णयों को भी स्वीकार कर लिया। अपने लिए कुछ विशिष्ट बातों में गांधीजी जिदी थे, और कई अवसरों पर उनका और कांग्रेस का नाता टूट-गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और प्रबल राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को गुलाम बनाने वाले सभी लोगों के यह कभी न झुकने वाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे—वैसे चाह वे बहुत-से मामलों में गांधीजी से सहमत न रहते हों। जिस समय कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस समय लोगों ने उनके नेतृत्व को सदा ही स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब संघर्ष अनिवार्य हुआ, तो वह प्रतीक सबसे अधिक महत्व का बन गया और शेष सब चीजें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० में नेशनल कांग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने, इस नये, अनदेखे रास्ते को अपनाया। और

कर देते जो उनकी उचित आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती। उनका कहना है कि ये चीजें या तो वाद में जोड़ दी गई हैं या विगड़ी हुई शक्तों में हैं। गांधीजी ने कहा है—“उत्त प्रचलित ढंग या रीति का, जिसको मैं समझ नहीं सकता हूं या नैतिक आधार पर मैं जिसकी हिमायत नहीं कर सकता हूं, मैं गुलाम होने को तैयार नहीं हूं।” जिस सुधार और जिस शिक्षा की वह दूसरों को सलाह देते हैं, उसपर वह पहले स्वयं अमल करते हैं। वह हमेशा चीजों को अपने-आपसे शुरू करते हैं और उनके शब्दों और कार्यों में इस तरह का मेल होता है जैसा कि हाथ में और दस्ताने में होता है। और इसलिए चाहे जो कुछ होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी लुप्त नहीं होता, और उनके जीवन और कार्यों में सदा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी असफलताओं में भी वह ऊंचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस सांचे में वह हिंदुस्तान को ढालने जा रहे थे वह क्या था? “मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूंगा, जिसमें गरीब से गरीब भी यह अनुभव करेगा कि यह उसका देश है और जिसके निर्माण में उसकी अपनी कारगर भावाज है—ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मेल के साथ रहेंगी।... ऐसे हिंदुस्तान में छूआछूत के या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नहीं हो सकती।... स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो कि... के हैं।... जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूं वह यह है।” एक और स्वयं उन्हें अपने हिंदू उत्तराधिकार का अभिमान था, वहां साथ ही उन्होंने हिंदूधर्म को एक विश्वव्यापी रूप देने का प्रयत्न किया और सत्य के घेरे में सब धर्मों को सम्मिलित किया। अपनी सांस्कृतिक विरासत को संकरा करने से उन्होंने इन्कार किया। उन्होंने लिखा है—“हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिल्कुल हिंदू ही है और न बिल्कुल मुसलमानी।” आगे चलकर वह कहते हैं—“मैं चाहता हूं मेरे पर मैं सब देशों की संस्कृति अधिक से अधिक स्वतंत्रता के साथ फैले। लेकिन उनमें से कोई भी मुझे यहां ले जाए, यह मैं न चाहूंगा। दूसरे लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे घादमी की तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूं।” आधुनिक विचारधारा का उनपर असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने न दिया और वह उनको दृढ़ता से पकड़े रहे हैं।

हिंदुस्तान के ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर के गरीब और लुटे हुए लोगों के साथ उनकी अदभुत सहानुभूति थी। इन गिरे हुए लोगों को

उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीजों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अधभूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और न संगठन।" करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज भी काम की हो सकती है, वही मेरे विचार में सुंदर वस्तु है। आज हम सबसे पहले जीवन देने वाली चीजों को महत्त्व दें, और उसके बाद जीवन के सारे अलंकार और उनकी सारी परिष्कृतियाँ अपने-आप आ जाएंगी। मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूँ जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आंख से हर एक आंसू पोंछ दिया जाए।"

यह कोई अचभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप से दृढ़ व्यक्ति ने, जिसमें आत्मविश्वास है और एक असाधारण ढंग की शक्ति भरी हुई है और जो हर इन्सान की बराबरी और स्वतंत्रता का हिमायती है, और जिसके यहाँ गरीब से गरीब आदमी का खयाल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंबक की तरह उनको अपनी तरफ खींचा।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीब ढंग का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, क्रांतिकारी थी और कई पहलुओं वाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने विरुद्ध निर्णयों को भी स्वीकार कर लिया। अपने लिए कुछ विशिष्ट बातों में गांधीजी जिदी थे, और कई अवसरों पर उनका और कांग्रेस का नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और प्रबल राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को गुलाम बनाने वाले सभी लोगों के वह कभी न झुकने वाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे—वैसे चाहें बहुत-से मामलों में गांधीजी से सहमत न रहते हों। जिस समय कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस समय लोगों ने उनके नेतृत्व को सदा ही स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब संघर्ष अनिवार्य हुआ, तो वह प्रतीक सबसे अधिक महत्त्व का बन गया और जेय सब चीजें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० में नेजल कांग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने, इस नये, अनदेखे रास्ते को अपनाया, और उसकी निम्न

कर देते जो उनकी उचित आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती। उनका कहना है कि ये चीजें या तो बाद में जोड़ दी गई हैं या विगड़ी हुई शक्तों में हैं। गांधीजी ने कहा है—“उस प्रचलित ढंग या रीति का, जिसको मैं समझ नहीं सकता हूं या नैतिक आधार पर मैं जिसकी हिमायत नहीं कर सकता हूं, मैं गुलाम होने को तैयार नहीं हूं।” जिस सुधार और जिस शिक्षा की वह दूसरों को सलाह देते हैं, उसपर वह पहले स्वयं अमल करते हैं। वह हमेशा चीजों को अपने-आपसे शुरू करते हैं और उनके शब्दों और कार्यों में इस तरह का मेल होता है जैसा कि हाथ में और दस्ताने में होता है। और इसलिए चाहे जो कुछ होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी लुप्त नहीं होता, और उनके जीवन और कार्यों में सदा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी असफलताओं में भी वह ऊंचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस सांचे में वह हिंदुस्तान को ढालने जा रहे थे वह क्या था? “मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूँगा, जिसमें गरीब से गरीब भी यह अनुभव करेगा कि यह उसका देश है और जिसके निर्माण में उसकी अपनी कारगर आवाज है—ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मेल के साथ रहेंगी।... ऐसे हिंदुस्तान में छूआछूत के या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नहीं हो सकती।... स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो किशोरों के हैं।... जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूं वह यह है।” वह एक और स्वयं उन्हें अपने हिंदू उत्तराधिकार का अभिमान था, वहां साथ ही उन्होंने हिंदूधर्म को एक विश्वव्यापी रूप देने का प्रयत्न किया और सत्य के घेरे में सब धर्मों को सम्मिलित किया। अपनी सांस्कृतिक विरासत को संकरा करने से उन्होंने इन्कार किया। उन्होंने लिखा है—“हिंदुस्तानी संस्कृति न तो विल्कुल हिंदू ही है और न विल्कुल मुसलमानी।” आगे चलकर वह कहते हैं—“मैं चाहता हूं मेरे घर में सब देशों की संस्कृति अधिक से अधिक स्वतंत्रता के साथ फैले। लेकिन उनमें से कोई भी मुझे वहां ले जाए, यह मैं न चाहूंगा। दूसरे लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूं।” आधुनिक विचारधारा का उनपर असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने न दिया और वह उनको दृढ़ता से पकड़े रहे हैं।

हिंदुस्तान के ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर के गरीब और लुटे हुए लोगों के साथ उनकी अदभुत सहानुभूति थी। इन गिरे हुए लोगों को

उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीजों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अधभूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और न संगठन।" करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज भी काम की हो सकती है, वही मेरे विचार में सुंदर वस्तु है। आज हम सबसे पहले जीवन देने वाली चीजों को महत्त्व दें, और उसके बाद जीवन के सारे अलंकार और उनकी सारी परिष्कृतियां अपने-आप आ जाएंगी। मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूं जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आंख से हर एक आंसू पोंछ दिया जाए।"

यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप से दृढ़ व्यक्ति ने, जिसमें आत्मविश्वास है और एक असाधारण ढंग की शक्ति भरी हुई है और जो हर इन्सान की बराबरी और स्वतंत्रता का हिमायती है, और जिसके यहां गरीब से गरीब आदमी का खयाल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंवक की तरह उनको अपनी तरफ खींचा।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीब ढंग का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, क्रांतिकारी थी और कई पहलुओं वाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने विरुद्ध निर्णयों को भी स्वीकार कर लिया। अपने लिए कुछ विशिष्ट बातों में गांधीजी जिद्दी थे, और कई अवसरों पर उनका और कांग्रेस का नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और प्रबल राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को गुलाम बनाने वाले सभी लोगों के वह कभी न झुकने वाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे—वैसे चाह वे बहुत-से मामलों में गांधीजी से सहमत न रहते हों। जिस समय कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस समय लोगों ने उनके नेतृत्व को सदा ही स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब संघर्ष अनिवार्य हुआ, तो वह प्रतीक सबसे अधिक महत्त्व का बन गया और जेय सब चीजें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० में नेशनल कांग्रेस और बहुत हद तक मारे देश ने, इस नये, अनदेखे रास्ते को अपनाया, और उसकी ब्रिटिश-

शक्ति के साथ बार-बार लड़ाई हुई। इस नये ढंग में और उस हालत में, जो पैदा हो गई थी, संघर्ष का बीज था। लेकिन इसके पीछे राजनैतिक चालें या पैतरे नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तानी जनता को दृढ़ बनाने की इच्छा थी क्योंकि उस शक्ति के ही बूते पर वे स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे और उसको बनाए रख सकते थे। एक के बाद दूसरा सविनय अवज्ञा-आंदोलन हुआ, और उसमें बेहद मुसीबतें उठानी पड़ीं। लेकिन उन मुसीबतों को आप न्योता दिया गया था, और इसीलिए उनसे शक्ति मिलती थी। किसी समय भी, यहां तक कि अपने बुरे दिनों में भी, कांग्रेस किसी बड़ी शक्ति या विदेशी शासन के सामने झुकी नहीं। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की तड़पन और विदेशी शासन के विरोध की वह प्रतीक बनी रही।

१० : अल्पसंख्यकों का प्रश्न

सन् १९३० के दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग बहुत काफी था, यद्यपि वह १९२०-२३ की अपेक्षा कम था। इस आंदोलन के सिलसिले में जिन लोगों को जेल भेजा गया, उनमें कम से कम दस हजार मुसलमान थे। उत्तरी-पच्छिमी सरहद्दी सूबे ने, जो प्रायः पूरे तौर से (६० प्रतिशत) मुस्लिम सूबा है, इस आंदोलन में, एक मुख्य और महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। यह अधिकतर, खान अब्दुल गफ्फार खां के कार्य और व्यक्तित्व के कारण हुआ, जो इस सूबे के पठानों के माने हुए और प्रिय नेता थे। वर्तमान काल में हिंदुस्तान में जितनी महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, उनमें सबसे अधिक अचंभा अब्दुल गफ्फार खां के उस कमाल पर है, जिससे उन्होंने अपने झगड़ालू और भड़क उठने वाले लोगों को राजनैतिक कार्यवाही के शांतिपूर्ण ढंग सिखा दिए, जिनमें बहुत तकलीफें उठानी पड़ती थीं। जिस समय इस बात को ध्यान में रखा जाए कि पठान, जो अपनी बंदूक को अपने भाई से अधिक प्यार करता है, जो बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है और जो थोड़ी-सी उत्तेजना पर भी मार डालने के लिए प्रसिद्ध है, तब यह आत्म-अनुशासन एक अचरज की बात लगती है।

इसी तरह राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए मध्यवर्ग के मुसलमानों ने भी दूसरी जगहों में साथ दिया। किसानों और मजदूरों में कांग्रेस का असर काफी था। उत्तर प्रदेश जैसे सूबों में यह प्रभाव मुख्य रूप से था, क्योंकि वहां पर किसान और मजदूरों के सिलसिले में बहुत

बढ़ा-चढ़ा कार्यक्रम था। फिर भी यह बात सच थी कि कुल मिलाकर आम मुस्लिम जनता, फिर से, पुराने स्थानीय और सामंती नेताओं की तरफ लौट रही थी।

कांग्रेस तथा और दूसरी संस्थाओं ने विभिन्न वर्गों की स्वीकृति से इस साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का बार-बार प्रयत्न किया। कुछ थोड़ी-सी सफलता भी मिली, लेकिन एक बुनियादी कठिनाई थी, अर्थात् ब्रिटिश सरकार की उपस्थिति और उसकी नीति। यह स्वाभाविक बात है, ब्रिटिश लोग किसी ऐसे असली समझौते के पक्ष में नहीं थे, जिससे वह राजनीतिक आंदोलन, जो अब उनके विरुद्ध व्यापक है, दृढ़ हो। एक ऐसी तीन-तरफा स्थिति बन गई थी, जिसमें विशेष रियायतें देकर सरकार एक-दूसरे को लड़ा सकती थी। अगर और दल पर्याप्त बुद्धिमानी दिखाते, तो उन्होंने इस रुकावट को भी पार कर लिया होता, लेकिन उनमें बुद्धिमानी और दूरदर्शिता की कमी थी। जब-जब वे किसी समझौते पर पहुंचने वाले ही होते तभी सरकार कोई ऐसा कदम उठाती कि संतुलन बिगड़ जाता।

हिंदुस्तान का सारा इतिहास, अल्पसंख्यकों या विविध जातीय समुदायों के प्रति सहनशीलता का ही नहीं बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और विद्यार्थियों को जैसी सजाएं मिलीं, उस ढंग की चीज हिंदुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसलिए धार्मिक और सांस्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारों के सीखने के लिए हमको कहीं बाहर नहीं जाना था—ये बातें तो हिंदुस्तान के जीवन में आरंभ से थीं। निजी और राजनैतिक अधिकारों के सिलसिले में, हमपर फ्रांसीसी और अमरीकी क्रांतियों का और साथ ही ब्रिटिश पार्लियामेंट के संवैधानिक इतिहास का प्रभाव पड़ा था। समाजवादी विचारधारा और सोवियत क्रांति का प्रभाव तो बाद में पड़ा, और उसने हमारी विचारधारा में आर्थिक दृष्टिकोण को बहुत महत्व दे दिया।

मुसलमानों (और बाद में और दूसरे छोटे समुदायों) के लिए अलग निर्वाचिकाएं आरंभ की गईं और उनको उनकी आवादी के अनुपात से, अधिक जगहें दी गईं। लेकिन किसी भी आम लोगों की लोकप्रिय सभा में अधिक जगह देकर अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक नहीं बनाया जा सकता। वास्तव में पृथक निर्वाचिका से संरक्षित समुदाय के लिए स्थिति कुछ खराब हो गई, क्योंकि तब बहुसंख्यकों ने उनमें दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। उस समय आपसी सोच-विचार

स्वायं हो गया। सदस्यों की संख्या की दृष्टि से कांग्रेस में अधिकतर हिंदू थे, लेकिन साथ ही उसमें मुसलमान भी बहुत बड़ी संख्या में थे और दूसरे धार्मिक समुदाय, जैसे सिख और ईसाई आदि भी थे। इस तरह उसे हर बात पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचना होता था।

दो बुनियादी प्रश्नों पर कांग्रेस दृढ़ थी—राष्ट्रीय ऐक्य और लोकतंत्र वे बुनियादें थीं जिनपर कि वह स्थापित हुई थी और स्वयं आधी सदी के काल में इन बातों पर जोर दिया था। जहां तक मुझे पता है, कांग्रेस दुनिया-भर की अधिक से अधिक लोकतंत्रीय संस्थाओं में से एक है। यह बात संवैधानिक रूप में भी है और व्यावहारिक रूप में भी। अपनी उन दसियों हजार स्थानीय संस्थाओं के द्वारा जो, देश-भर में फैली हुई हैं, उसने जनता को लोकतंत्रीय ढंग की शिक्षा दी है, और इसमें उसे बहुत बड़ी सफलता मिली है। इस बात से, कि गांधीजी जैसा जनप्रिय और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व उससे संबंधित रहा, कांग्रेस के लोकतंत्र में कोई कमी नहीं हुई। संकट और संघर्ष के अवसरों पर पथ-निर्देश के लिए नेता की ओर देखने की अनिवार्य प्रवृत्ति थी और ऐसा हर एक देश में होता है। साथ ही ऐसे अवसर यहां बराबर आए। कांग्रेस को प्रभुत्ववादी संस्था कहने से अधिक गलत बात और कोई हो नहीं सकती और इस सिलसिले में एक मज्जेदार और ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसा दोष आम तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के उन ऊंचे प्रतिनिधियों द्वारा लगाया जाता है, जो हिंदुस्तान में निरंकुशता और प्रभुत्ववाद के प्रतीक हैं।

११ : कांग्रेस विदेश नीति बनाती है

गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रुख दिया, और उससे निराशा और तीखेपन की भावना कम हो गई। राष्ट्रीय भावनाएं बनी रहीं लेकिन जहां तक मेरा खयाल है और किसी दूसरे राष्ट्रीय आंदोलन में इतनी कम घृणा का भाव नहीं था। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन साथ ही साथ उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास जो संदेश था, वह केवल हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए था, और वह दिल से दुनिया-भर में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया-भर का खयाल था और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की वृत्ति नहीं थी। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता चाहते हुए भी, वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया-भर

के राष्ट्रों का एक संघ ही सही आदर्श था। मेरी राष्ट्रीयता का वि-
तो यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाए, और आवश्यक हो तो स-
देश मिट जाए, ताकि मानव-जाति जीवित रह सके।

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति और आत्मविश्वास व-
लोगों के मस्तिष्क स्वतंत्र हिंदुस्तान के विषय में सोचने लगे—
कैसा होना चाहिए, उसे क्या करना होगा, और दूसरे देशों से उस-
क्या और कैसा नाता होगा ? देश के बड़े होने, उसकी बड़ी शक्ति
और उसके बहुत ज्यादा फूलने-फलने की गुंजाइश से लोग बड़ी-बड़ी
वातों को ही सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह
पीछे चलने वाला नहीं हो सकता था। उसकी स्वतंत्रता और उन्न-
ति से एशिया में और उसकी वजह से सारी दुनिया में एक बहुत ब-
अंतर आएगा। उसकी वजह से इंग्लैण्ड और उसके साम्राज्य से
कड़ी हमें बांधे हुए थी, उसको तोड़कर पूरी आजादी का ख्याल हम
सामने आया। डोमीनियन स्टेट्स, चाहे वह आजादी के कितने
निकट क्यों न हो, हमारी पूरी उन्नति के लिए एक बिल्कुल बाहिया
रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेट्स का समर्थक विचार
आदि देश अपनी नौ-आवादियों से मिला हुआ है और उन सबके लि-
एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, हिंदुस्तान पर बिल्कुल लागू नहीं था।

जब हमने हिंदुस्तान की आजादी की बात की, तो उसमें एकद-
अलग रहने का खयाल नहीं था। बहुत-से दूसरे मुल्कों की अपेक्ष-
हमने अधिक स्पष्ट रूप में यह अनुभव किया कि पुराने ढंग की पू-
राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कोई भविष्य नहीं था, और अब दुनिया-भ-
के सहयोग के एक नये युग का आना अनिवार्य था। इसीलिए हम
इस बात को बार-बार दुहराकर स्पष्ट किया कि अंतर्राष्ट्रीय ढांचे
मेल बनाए रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ हम अपनी स्वतंत्र-
को सीमित करने को पूरी तरह तैयार थे। यह एक अचंभे की बात है
कि अपनी जोरदार राष्ट्रीय भावनाओं के होते हुए भी, हमारे विचारों
में अंतर्राष्ट्रीयता की विरोधी भावना नहीं आई।

१२ : कांग्रेस और युद्ध

कांग्रेस ने विशेष रूप से यह मांग की कि बिना हिंदुस्तानियों या
उनके प्रतिनिधियों की स्वीकृति के हिंदुस्तान का किसी लड़ाई से
ठंडा न किया जाए। और बिना ऐसी राय के हिंदुस्तानी फौज



Greetings
with every good wish
for Diwali
and the
New Year